# ब्रह्मसूत्र-प्रवचन

## ( शारीरक भाष्य )

## २

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

★

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

2.2

ॐ

# ब्रह्मसूत्र-प्रवचन

( ब्रह्मसूत्रके शारीरक भाष्यपर प्रवचन )

## तृतीय भाग

[ समन्वयाधिकरण ]

प्रवचन कर्ता :

**अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती**

प्रस्तुतकर्ता : 'विष्णु'

प्रकाशक :

**सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट**

बम्बई

प्रकाशक :

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

'विपुल', २८/१६

बी० जी० खेर मार्ग

बम्बई–४००००६

●

वैशाख शुक्ला–३

( अक्षय तृतीया ) सं० २०३४ वि०

२१ अप्रैल १९७७

प्रथम संस्करण : ३००० प्रति

मूल्य : दस रुपये मात्र

●

मुद्रक :

आनन्दकानन प्रेस

सी-के० ३६/२०, ढुण्ढिराज

वाराणसी–२२१००१

# विषय-सूची

## समन्वयाधिकरण । सूत्र ४. तत्तुसमन्वयात्

# शुभाशीर्वाद

परम प्रेमास्पद प्रोफेसर श्री विष्णुकुमार गग्गल खुर्जाने अत्यन्त परिश्रम, लगन और समझदारीके साथ इन रेकार्ड किये गये प्रवचनोंको यह सुन्दर रूप दिया है। पिछले दो खण्डोंका सम्पादन भी इन्होंने ही किया था, ये प्रवचन कुछ 'प्रेमकुटीर' कुछ 'भारतीय विद्या भवन'में वर्षों पूर्व किये गये थे। स्वामी प्रबुद्धानन्द सरस्वतीने रिकार्ड कर लिया था और श्री 'विष्णु'ने उन्हें यह रूप दे दिया। निश्चय ही इस कार्यको करनेके लिए विद्या, बुद्धि और विशेष परिश्रमकी आवश्यकता थी। मेरे प्रति जो उनका असीम स्नेह, श्रद्धा और सद्भाव है उसीसे उत्साह तथा लगनके साथ यह कार्य सम्पन्न हुआ। मैं उन्हें पुनः-पुनः शुभाशीर्वाद देता हूँ।

—अखण्डानन्द सरस्वती

# ब्रह्मसूत्र-प्रवचन ( ३ )

( ४. ० )

## प्रथम अध्याय प्रथमपाद

## समन्वयाधिकरण

तत्तु समन्वयात् ॥ १. १. ४ ॥

तु = पूर्वपक्षके निवृत्त्यर्थ है ।

तत् = वह ब्रह्म वेदान्त-वचनोंके द्वारा ही गम्य है क्योंकि

**समन्वयात्** = सभी वेदान्त-वचनोंका ब्रह्मके प्रतिपादनमें ही समन्वय है।

**मूल भाष्य :—**

**कथं पुनर्ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वमुच्यते, यावता 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादनर्थक्यमतदर्थानाम्' ( जै० सू० १. १. १ ) इति क्रियापरत्वं शास्त्रस्य प्रदर्शितम्। अतो वेदान्तानामानर्थक्यम्, अक्रियार्थत्वात्। कर्तृदेवतादिप्रकाशनार्थत्वेन वा क्रियाविधिशेषत्वम्। उपासनादिक्रियान्तरविधानार्थत्वं वा। न हि परिनिष्ठितवस्तुप्रतिपादनं संभवति; प्रत्यक्षादिविषयत्वात् परिनिष्ठवस्तुनः; तत्प्रतिपादने च हेयोपादेयरहिते पुरुषार्थाभावात्।**

**अतएव 'सोऽरोदीत्' इत्येवमादीनामानर्थक्यं मा भूदिति विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' ( जै० सू० १.२.७ ) इति स्तावकत्वेनार्थवत्त्वमुक्तम्। मन्त्राणां च 'इषेत्वा' यजु०, माध्य० १. १ ) इत्यादीनां क्रियातत्साधनाभिधायित्वेन कर्मसमवायित्वमुक्तम्। न क्वचिदपि वेदवाक्यानां विधिसंस्पर्शमन्तरेणार्थवत्ता दृष्टोपपन्ना वा।**

**न च परिनिष्ठिते वस्तुस्वरूपे विधिः संभवति, क्रियाविषयत्वाद्विधेः। तस्मात् कर्मापेक्षितकर्तृस्वरूपदेवतादिप्रकाशनेन क्रियाविधिशेषत्वं वेदान्तानाम्। अथ प्रकरणान्तरभयान्नैतदभ्युपगम्यते, तथापि स्ववाक्यगतोपासनादिकर्मपरत्वम्। तस्मान्न ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वमिति प्राप्ते, उच्यते—तत्तु समन्वयात्।**

**भाष्यार्थ :—**पुनः 'ब्रह्मशास्त्र-प्रमाणक है' यह कैसे कहते हो? क्योंकि 'आम्नायस्य०' इस जैमिनिसूत्र द्वारा शास्त्र क्रियापरक दिखाया गया है। अतः वेदान्त-वाक्य अनर्थक हैं, अक्रियार्थक

होनेके कारण। अथवा ( यह मानना पड़ेगा कि ) वे कर्ता तथा देवता आदिके प्रकाशनरूप प्रयोजनवाले हैं, इसलिए वे क्रिया-विधिके अंग हैं। अथवा वे उपासना आदि अन्य क्रियाओंके विधानार्थ हैं। वेदान्तोंका प्रयोजन सिद्ध वस्तुका प्रतिपादन करना संभव नहीं है, क्योंकि सिद्ध वस्तु तो प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका विषय होती है और हेयोपादेय रहित उसके प्रतिपादन करनेमें पुरुषार्थ भी नहीं है।

इसी कारणसे, 'सोऽरोदीत्' ( वह रोया ) इत्यादि वाक्य अनर्थक न हों इसलिए 'विधिना॰' इस जैमिनि-सूत्र द्वारा विधि-वाक्योंके साथ अर्थवाद आदि वाक्योंकी एकवाक्यता है; स्तुतिपरक होनेसे सार्थक कहे गये हैं। 'इषेत्वा' ( हे शाखाओ, तुझे अन्नके लिए काटता हूँ ) इत्यादि मन्त्र कर्मसम्बन्धी कहे गये हैं, क्रिया और उसके साधनके अभिधायी होनेके कारण। किसी भी प्रकरणमें विधिवाक्योंके साथ सम्बन्ध प्राप्त किये बिना वेदवाक्योंकी अर्थवत्ता न देखी गयी है और न उपपन्न ही है।

सिद्ध वस्तुके स्वरूपमें विधि नहीं हो सकती, क्योंकि विधिक्रिया-विषयक होती है। इसलिए कर्ममें अपेक्षित कर्ता तथा देवता आदिके स्वरूपका प्रकाशन करनेसे वेदान्त क्रियाविधिके अंग हैं। यदि प्रकरणान्तरके भयसे यह स्वीकार न किया जावे तो भी वेदान्त-वाक्योंमें उपलब्ध उपासना आदि कर्मपरक हैं। इसलिए ब्रह्ममें शास्त्र प्रमाण नहीं हैं। ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं कि—
'तत्तु समन्वयात्।'

( ४. १. )

## आक्षेपिकी संगति—१.

**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। जन्माद्यस्य यतः। शास्त्रयोनित्वात्। तत्तु समन्वयात्।**

अब 'तत्तु समन्वयात्' सूत्रपर विचार प्रारम्भ करना है। इसपर श्री शंकराचार्य भगवान् पहिले 'शास्त्रयोनित्वात्' के व्याख्यानपर पूर्वपक्ष उपस्थित करते हैं। तदनन्तर 'तत्तु समन्वयात्' द्वारा उस

पूर्वपक्षके निराकरणकी प्रतिज्ञा करते हैं। इसको शास्त्रमें आक्षेपिकी-संगति बोलते हैं।

'शास्त्रयोनित्वात्' के व्याख्यानमें यह कहा गया कि ब्रह्मशास्त्र-योनित्ववाला है। अर्थात् ब्रह्मके विषयमें केवल शास्त्र ही प्रमाण है। तो पूर्वपक्ष यहींसे प्रारम्भ होता है कि 'ब्रह्म शास्त्रप्रमाणक है, यह कैसे कहते हो ?' ( कथं पुनर्ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वमुच्यते ? ) और अन्तमें आचार्य कहते हैं कि 'इसलिए ब्रह्ममें शास्त्रप्रमाण नहीं है, ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं कि तत्तु समन्वयात्।' ( तस्मान्न ब्राह्मणः शास्त्रयोनित्वमिति प्राप्ते उच्यते—तत्तु समन्वयात् )।

शास्त्रकी दो व्याख्याएँकी गयी हैं : 'शासनात् शास्त्रम्' और 'शंसनात् शास्त्रम्'। एक तो जो आज्ञा दे कि 'यह करो और यह मत करो' ( अर्थात् जो शासन करे ) वह शास्त्र कहलाता है। संसारी लोग इसीको ज्यादा पसन्द करते हैं। दूसरा वह है जो 'सत्य क्या है' इस बातका ज्ञान कराता है ( अर्थात् जो शंसन करता है ); वह शास्त्र कहलाता है। शासन कर्मका अंग है परन्तु शंसन कर्मका अंग नहीं है। वेदमें संहिता भाग और ब्राह्मण भाग शासन-प्रधान है जबकि उपनिषद् भाग (वेदान्त) शंसन-प्रधान है।

कुछ बातें अपने आप ही मनमें आती हैं जैसे भोगकी, खानेकी, सोनेकी। परन्तु कुछ बातें अपने आप मनमें नहीं आतीं, जैसे स्वर्ग-की बात। स्वर्गकी बात अपने आप मनमें नहीं आवेगी।

### अहरहः सन्ध्यामुपासीत; स्वर्गकामो यजेत

प्रतिदिन मनुष्यको संध्यावंदन करना चाहिए; स्वर्गकी प्राप्तिके लिए यज्ञ करे, अथवा पुत्र-प्राप्तिके लिए यज्ञ करे, अथवा वर्षा-कामनासे यज्ञ करे—ये जो शास्त्रकी बातें हैं वे अपने मनसे किसीको नहीं सूझती हैं। यह शास्त्र शासन करता है।

जबलपुरके पास बर्हा नामका एक गाँव है। वहाँ एक ठाकुर-

साहबके घर ४–५ लाख रुपये चाँदीके थे। परन्तु जब वह उन्हें काममें लानेका प्रयत्न करते तो कोई-न-कोई बीमार हो जाता था। तब वह रुपया वापस रख देते थे। वह एक महात्माके पास गये और इसके बारेमें पूछा। महात्माने बताया कि इसमें कोई अन्यायका पैसा आ गया है। इसलिए तुम गयामें श्राद्ध कर दो और कुछ रुपये धर्मके काममें लगा दो। शेष रुपयेको तुम अपने काममें लाओगे तो कोई हानि नहीं होगी। उन्होंने ऐसा ही किया तो फिर उनकी कोई हानि नहीं हुई। परन्तु यह बात अपने आप उनके मनमें नहीं आयी। महात्माने बतायी तब आयी। इसका नाम है—शासन।

विधिके अर्थको समझिये और निषेधके अर्थको भी समझिये। यह कहानी तो अफवाह है, अर्थवाद है। शास्त्र शासन करते हैं। अब कहो कि रोज हम ऐसी ही कथा सुना दें कि उसने अग्निहोत्र किया तो वह स्वर्ग गया और अमुक प्रतिदिन संध्यावंदन करता था तो उसे ब्रह्मज्ञान हो गया। तो यह अर्थवाद हो जायेगा।

वेदकी विधि बड़ी विचित्र है। यज्ञके लिये लकड़ी भी काटनी हो तो मन्त्र बोलकर काटनी चाहिए : 'इषेत्वा'—छिनद्मि। ठाकुर-पूजाके लिए तुलसी तोड़नी हो तो वह भी मंत्रोच्चारणके साथ तोड़नी है।

तो वेदोंमें विधान हैं, निषेध हैं, मन्त्र हैं, अर्थवाद हैं और नामधेय ( देवताओंके नामरूप ) हैं। इन्द्र, अग्नि, वरुण ये सब देवताओंके नाम हैं। अनेक देवताओंके नाम लेकर ईश्वरकी आराधना होती है। इन्द्राय स्वाहा। अग्नये स्वाहा। वरुणाय स्वाहा—ऐसा करके आहुति दी जाती हैं। इन्द्रादि देवताओंके नाम भी विधि-निषेधके लिए हैं और मंत्र जो हैं वे भी विधि-निषेध-के लिए हैं। अर्थवाद ( फलस्तुति ) भी विधि-निषेधमें रुचि उत्पन्न

करनेके लिए है। इस प्रकार मन्त्र, अर्थवाद, नामधेय ( देवता ) इन सबका विनियोजन कर्मपरक शासनात्मक शास्त्रमें होता है। हमारे जो कर्मकांडके आचार्य हैं वे कहते हैं कि शास्त्रमें यदि ये पाँच बातें न हों तो वह शास्त्र ही नहीं है—मन्त्र, अर्थवाद, नामधेय, विधि और निषेध।

जैमिनि आचार्यका कहना है कि—

**आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्।**

सारा वेद कर्म करनेके लिए ही हैं। 'यह करो और यह मत करो'। उसीके लिए ये इतिहास, पुराण आदि जो कुछ भी हैं, वे चाहे वेदके अन्तर्गत हों या बाहर हों, सब अर्थवादके अन्तर्गत हैं। **आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्।** ( वेद क्रियार्थक हैं ) मन्त्र, अर्थवाद और देवताओंके नाम ये सब क्रिया विधिके अंग हैं और विधि और निषेध तो स्पष्टतः क्रियाविधिके अंग हैं। इसलिए वेदमें जहाँ कुछ छोड़ने-करनेका विधान नहीं है, वह बिलकुल बेकार है : **अनर्थक्यम् अतदर्थानाम्।**

अब वेदमें कुछ ऐसे वाक्य भी हैं जिनका विधि या निषेधसे कोई मतलब ही नहीं है। जैसे—

**सोऽरोदीत्** ( तै० सं० १.५.१. )

वह ( रुद्र ) रोया। अब भला इसमें क्या विधि-निषेध ? तो कहा : नहीं, इसमें भी मतलब है। जब रुद्रने रो दिया तो उसकी आँखसे आँसू गिरे, उन आँसुओंसे चाँदी उत्पन्न हुई। इसलिए रोनेसे उत्पन्न होनेके कारण यजमानको यज्ञमें दक्षिणा-रूपमें चाँदी नहीं देनी चाहिए—

**तस्मात् बर्हिषि रजतं न देयम्।** ( तै० सं० १.५.१-२ )

इस प्रकार 'चाँदी दक्षिणामें नहीं देनी चाहिए' इस निषेधको

सिद्ध करनेके लिए 'सोऽरोदीत्' की संगति है। इसलिए जैमिनिने एक दूसरे सूत्रमें कहा—

**विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः ( १.२.७. )**

( विधि वाक्योंके साथ अर्थवाद आदि वाक्योंकी एकता है क्योंकि अर्थवाद विधेयकी स्तुतिके लिए होते हैं )।

जब ऐसा ही है कि सम्पूर्ण वेद क्रियार्थक हैं तो वेदमें ब्रह्मका वर्णन क्यों होगा? उस वर्णनमें तो कोई विधि-निषेध है नहीं; उल्टे वह तो विधि-निषेधसे छुड़ा देता है। तब ब्रह्मके सम्बन्धमें शास्त्र-पुराण कैसे होगा? इसलिए वेदान्तवाक्य जो ब्रह्मके स्वरूपका निरूपण करते हैं बिलकुल निरर्थक हैं क्योंकि वे क्रियार्थक नहीं हैं। **अतो वेदान्तानां अनर्थक्यम् अक्रियार्थत्वात्।**

इस शंसनसे क्या प्रयोजन सिद्ध होता है कि कोई कहे कि यह आमका पेड़ है, यह खम्भा है। जो वस्तु यथार्थतः होती है वह तो प्रत्यक्ष प्रमाणसे जान ही ली जाती है उसे बोलकर बतानेमें शास्त्रकी क्या उपयोगिता हो सकती है? वस्तु खट्टी है या मीठी है इसे चख करके जाना जा सकता है, इसमें शास्त्र-वाक्यकी क्या आवश्यकता है? शास्त्र बतावे कि गुड़ मीठा है तब गुड़का मीठापन ज्ञात होगा क्या? जो वस्तु जैसी है उसे इन्द्रियोंसे वैसी जान लो। उसमें शास्त्रके बोलनेमें अवकाश नहीं है। आत्मा स्वतः सिद्ध है, इसलिए उसके बारेमें भी बोलना अनावश्यक है।

**न हि परिनिष्ठितवस्तुप्रतिपादनं संभवति प्रत्यक्षादिविषयत्वात् परिनिष्ठवस्तुनः।**

'जो परिनिष्ठित ( सिद्ध ) वस्तु है उसका प्रतिपादन संभव नहीं है, क्योंकि परिनिष्ठित वस्तु प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंका विषय है।'

वैसे कभी-कभी स्वतः सिद्ध वस्तुको जाननेके लिए भी वाक्यकी

जरूरत पड़ती है। एक बार हमलोग कहीं जा रहे थे पहाड़में। रास्तेमें एक पेड़पर काला-काला गोल-गोल फल देखा। ऐसा ही एक फल हमारे गाँवमें भी होता था। झट हमारे एक साथीने उसे तोड़ लिया और यह कहते-कहते कि 'यह तो वही फल है, बड़ा मीठा होता है' फटाफट उस फलको खा गये। अब महाराज, वह फल तो इतना कड़ुवा था कि थूकते-थूकते भी उनकी जीभ सूज गयी। अब यदि कोई वहाँ बता देता कि यह फल कड़ुवा है मत खाओ, तो वह निषेध-वचन वहाँ काम करता कि नहीं?

चित्रमें आगे, पीछे, गहरा, ऊँचा सब दिखाई पड़ता है परन्तु हाथसे छूकर देखो तो सब सम है। लोग न जानकारीमें दीवाल-पर बने चित्रोंसे भ्रमित होकर उधर दीखनेवाले रास्तेसे जानेका प्रयत्न करने लगते हैं तो दीवालसे जाकर टकरा जाते हैं। कोई बता दे तो उस टकरानेसे बच सकते हैं। इस प्रकार बतानेकी उपयोगिता तो बहुत है, सिद्ध और साध्य दोनों वस्तुओंके प्रति-पादनमें।

अब ब्रह्म कैसी परिनिष्ठित वस्तु है कि—

**न ह्येवं लक्षणमात्मनो याथात्म्यमुत्पाद्यं विकार्यमाप्यं संस्कार्यं कर्तृभोक्तृरूपं वा येन कर्मशेषता स्यात्।**

( ईशावास्य० मन्त्र १ का शांकर भाष्य )

'आत्मा ( ब्रह्म ) न तो ( मिट्टीसे घड़ा बना लेनेके समान ) उत्पाद्य है; और न ( कच्चे घड़ेको पकाकर पक्का करनेके समान अथवा पक्के घड़ेके गल जानेके समान ) विकार्य है। न ( दूसरेके घरसे घड़ा माँगकर ले आनेके समान ) आप्य है और न ( घटको बेलबूटा छापकर सजाने-सँवारनेके समान ) संस्कार्य है। ( घटके फूट जानेके समान ) आत्मा विनाश्य भी नहीं है। उसके वास्तविक

स्वरूपमें न कर्तृत्व है, न भोक्तृत्व। अतः आत्मामें किसी भी प्रकार कर्मका शेष ( अंग ) होनेकी योग्यता नहीं है।'

अनन्त ब्रह्म न तो विधिरूप हो सकता है और न निषेधरूप, अर्थात् न तो अनन्त ब्रह्मका विधान किया जा सकता है और न उसका निषेध किया जा सकता है। किसीके आज्ञा देनेसे मेरी सत्ता सिद्ध होगी नहीं और किसीके निषेध करनेसे वह मिटेगी नहीं और आत्मसत्ता शेषी है ( अंगी है ), किसीका शेष नहीं है। यह कोई मन्त्रसे शुद्ध-बुद्ध बनाया जाय, ऐसी भी कोई बात नहीं है, तथा ब्रह्मका कोई नाम-रूप-लिंगादि भी नहीं है। यह तो अदृश्य साक्षी है—

**अदृष्टो दृष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता।**

जो सबको जान रहा है उसको भला कौन कैसे जानेगा ?

**तत् केन कं जिघ्रेत्, तत्केन कं पश्येत्, तत्केन कं शृणुयात्, तत्केन कं अभिवदेत्, तत्केन कं मन्वीत, तत्केन कं विजानीयात्। येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्, विज्ञातारमरे केन विजानीयात्।**

( बृहदा० २.४.१४. )

तो ज्ञानका विषय न होनेके कारण ब्रह्मका कोई नाम नहीं है और नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्त होनेके कारण किसी मन्त्रसे यह संस्कार्य नहीं है। इसीके लिये सब है, यह किसीके लिए नहीं है। यह शेष नहीं है और विधि-निषेधका गोचर नहीं है। ऐसे परमात्माका वणन वेद करे तो कैसे ?

प्रश्न यह है कि दूसरी इन्द्रियोंसे जो चीज देखी जाती है और दूसरी तरहसे जो चीज अनुभवमें आ जाती है उतनी ही चीजको शास्त्र बताता है या उससे आगेकी चीज भी शास्त्र बता सकता है ? माने शास्त्र केवल ज्ञात-ज्ञापक ही है या अज्ञात-ज्ञापक भी है ?

दुनियादार लोग कहते हैं कि शास्त्र देखी हुई चीजको ही

बताता है, अनदेखीको नहीं। अथात् विधि-निषेध, मन्त्र, अर्थवाद, नामधेय, उत्पाद्य, संस्कार्य. विकार्य, आप्य और विनाश्यके घेरेमें ही जो चीजें आती हैं और जो दूसरे प्रमाणोंके द्वारा अनुभूत की हुई होती हैं उसी चीजको शास्त्र बताता है। ज्ञातका अनुवादक है शास्त्र। वह अज्ञात-ज्ञापक नहीं है। परन्तु यदि ऐसा है तो अनुवादकमात्र होनेसे शास्त्र अनावश्यक है। अज्ञात-ज्ञापक होकरके ही शास्त्रकी सार्थकता है, अन्यथा तो वह निरर्थक है।

शास्त्रसे जो चीज जानी जाती है वह प्रमाणान्तरसे अज्ञात होती है। शास्त्र कोई डाक्टरका रजिस्टर नहीं है जिसमें 'अमुक रोगमें अमुक दवा' अनुभव करके लिख दी गयी हो। शास्त्रकी एक अपनी शैली है जिसके द्वारा वह उस वस्तुका प्रतिपादन करता है जो अन्य प्रमाणसे नहीं जानी जा सकती और यह शैली है अध्यारोप और अपवादकी। एक नमूना देखिये—

प्रश्न : आकाश क्या है ?

शास्त्र : जिसमें हमारा हाथ उठ रहा है, उठ गया; जिसमें हमारा हाथ गिर रहा है, गिर गया। वह आकाश है। ( अर्थात् हाथ और उसकी गतिका जो आश्रय है वह आकाश है )

प्रश्न : नहीं। हाथका उठना और गिरना तो रोशनीमें दिखता है ! अतः हाथ आकाशकी पहिचान नहीं है।

शास्त्र : अच्छा, जिसमें रोशनी, अंधेरा आता है और चला जाता है उसका नाम आकाश है।

प्रश्न : नहीं। रोशनी और अंधेरा तो आँखसे दिखता है। आँखसे दीखनेवाली रोशनी या अंधेरा आकाशकी पहिचान नहीं है।

शास्त्र : अच्छा, 'मैं बोल रहा हूँ और तुम सुन रहे हो'—तो यह शब्द जहाँ होकर तुमतक पहुँचता है उसका नाम आकाश है।

प्रश्न : शब्द तो गुण है। क्या शब्द ही आकाश है ?

शास्त्र : नहीं, शब्द आकाश नहीं है। शब्द आकाशका गुण है; अथवा आकाशका परिणाम है अथवा आकाशका स्वभाव है अथवा आकाशकी तन्मात्रा है। शब्द आकाशका लक्षण है। शब्द आकाशमें अध्यारोपित है, आकाशको अन्यसे अलग करके दिखानेके लिए। परन्तु आकाशके स्वरूपमें शब्दकी कोई पृथक् सत्ता भी नहीं है। यह आकाशमें शब्दका अपवाद है। असलमें ब्रह्मदृष्टिसे तो शब्द केवल चिदाकाशमें विवर्तमात्र है। इस प्रकार शास्त्रकी विचित्र शैली है, अन्यथा किसी करण, उपकरणसे आकाशका ज्ञान सिद्ध नहीं हो सकता।

संभवतः एक-एक अध्यारोप और उसके अपवादसे एक-एक वस्तुका ज्ञान हो जाय, फिर वह वस्तु चाहे प्राणान्तरसे ज्ञात हो या अज्ञात। परन्तु उपनिषद् तो ऐसी वस्तुके ज्ञानकी प्रतिज्ञा करते हैं जिस एकके जाननेसे सबका ज्ञान हो जाता है। ऐसी वस्तुको ही ब्रह्म कहते हैं। तो ब्रह्म वस्तु इसलिए सर्वाधिष्ठान एवं अद्वितीय होनी चाहिए और सर्व उसमें अध्यस्त होना चाहिए। तब तो सम्पूर्ण अध्यारोपोंके निषेधकी पद्धतिसे ही उस अद्वितीय ब्रह्मका ज्ञान सम्भव हो सकता है, अन्यथा नहीं।

अब कहते हैं कि धर्मका फल मिलता है, इस लोकमें या परलोकमें। इसी प्रकार पापका फल भी मिलता है, इस लोकमें या परलोकमें। आपने सुना होगा पुण्यसे पैसा मिलता है और पापसे पैसा चला जाता है। यह तो स्पष्ट ही है कि पैसा मिलनेसे सुख होता है और जानेसे दुःख होता है। तो पैसा सुखका निमित्त है इसलिए पैसाको सुख कहा गया है। अन्यथा सुख तो दिलमें होता है, पैसा सुख नहीं है। इसी प्रकार दुःख दिलमें होता है, पैसा जानेमें दुःख नहीं है। तो पुण्यसे पैसा आया और पापसे चला गया सो नहीं। बल्कि पुण्यसे सुख आया और पापसे दुःख

गया, ऐसा कहना चाहिए; या पापसे दुःख आया और पापसे सुख गया, ऐसा कहना चाहिए। पाप-पुण्यका जो फल है वह हमारे अन्तःकरणमें होता है, बाहर तो निमित्त होते हैं। और ये निमित्त अधिकारी-भेदसे सुख-दुःखके हेतु होते हैं। घी आयु बढ़ाता है उसकी, जो उसे पचा ले, और मृत्यु भी कर देता है जो उसे न पचा पाये। हम देखते हैं कि जिनके पास पैसा नहीं है वे भी सुखी हैं और जिनके पास पैसा है वे भी दुःखी हैं। इसलिए वस्तुमें सुखका मुख्य कारणत्व नहीं है। सुख-दुःखका असली कारण पाप-पुण्य है और वह सुख-दुःख दिलमें होता है।

अब निमित्त बाहर है सुखाकार, दुःखाकार वृत्ति अन्तःकरणमें है और 'मैं सुखी, मैं दुःखी', 'मैं अमीर, मैं गरीब' यह अभिमान है। पैसा अंटीमें हो या तिजोरीमें या बैंकमें वह बना रहेगा इसमें कोई आश्वासन नहीं है। यह तो केवल अभिमान है कि मैं पैसेवाला हूँ। इसीप्रकार मनमें जो सुख-दुःख होते हैं वे कभी आते हैं, कभी जाते हैं। पुण्य करनेसे सुखका उद्रेक होता है और पाप करनेसे दुःखका उद्रेक होता है। परन्तु मैं सुखी हूँ, गरीब हूँ, अमीर हूँ, ये सब बातें अपने स्वरूपको न जाननेसे ही अभिमानके रूपमें आती हैं। अब क्योंकि इन सब अभिमानोंका अध्यास हो गया है, अपने स्वरूपपर अध्यारोप हो गया है, इसलिए अपने स्वरूप-ज्ञानके लिए इनका अपवाद होना आवश्यक है।

आपके सारे अभिमानोंको मिटानेके लिए ये शास्त्र युक्तियाँ बताते हैं। जैसे किसीसे कहा कि "भाई, तेरे पास जो कुछ सुखका निमित्त है वह सब तेरा नहीं है। वह तो तूने पिछले जन्मोंमें जो पुण्य किये हैं उनका फल है। जैसे होटलमें रुपया जमा करनेपर होटलके सामानका उपयोग करनेका अधिकार मिल जाता है, वैसे ही यह सब है तो होटलके मालिक ( ईश्वर ) का, लेकिन तुम्हारे

पुण्यरूपी धनके बदलेमें तुम्हें इनका उपयोग करनेका अधिकार मिल गया है। फिर सुखका अभिमान क्यों करते हो ?" ( यह कर्मवाद है )

किसी दूसरेसे कहा, "तुम जो रोज ईमानदारीसे मेहनत, मजदूरी करते थे उससे प्रसन्न होकर मिलमालिकने तुम्हें ये बंगला, मोटर, नौकर दे दिये हैं। ये सब वास्तवमें तुम्हारे नहीं हैं। अतः इनके विषयमें तुम्हारा अभिमान बिलकुल झूठा है।" ( यह ईश्वरवाद है )

बौद्धोंने कहा : चीज ही नहीं है फिर उसका अभिमान कैसा ? यह तुम्हारा ख्याल ही ख्याल है कि हम बड़े सुखी हैं या हम बड़े दुःखी हैं।

वेदान्तियोंने कहा कि ख्यालसे काम नहीं चलता। ख्याल भी आखिर क्यों है और उसकी व्यावहारिक सत्ता तो है ही। मानी हुई चीजका ( ख्यालका ) अपवाद करनेके लिए पहिले कोई सच्ची चीज मिलनी चाहिए। सच्ची चीज मिल जानेपर उसमें कल्पित झूठी चीजका अपवाद होता है। बिना सच्ची चीज मिले झूठी चीजका अपवाद नहीं हो सकता। अधिष्ठानका ज्ञान हुए बिना अध्यस्तकी निवृत्ति नहीं होती।

अध्यारोपका अपवाद तभ होता है जब सत्य ( आरोपके अधिष्ठान ) का ज्ञान हो जाय। नहीं तो :

**अपवादापवादे किं भविष्यति ? उत्सर्गावस्थितिः।**

अपवादका अपवाद करनेपर क्या होगा ? उत्सर्गकी स्थिति हो जायेगी। यह बड़ा ही उल्टा है। व्याकरणका यह नियम कहता है कि यदि अपवादका अपवाद कर देंगे तो जो चालू नियम है वही लागू होगा।

इसलिए यदि ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके अपने कर्तापना, भोक्तापना,

संसारीपना और परिच्छिन्नपनाका बाध नहीं करते अर्थात् यदि ब्रह्मज्ञानके द्वारा इनका बाध न हो और आप भी इनका अपवाद न करें, तो फिर यही संसार तो चालू रहेगा न ! आपको यही मालूम होता रहेगा कि 'मेरा जन्म हुआ है, मेरे इतने सम्बन्धी हैं, मेरे पास इतना धन है, धनके आनेमें सुख है और चले जानेमें दुःख है, मैं पापी हूँ, मैं पुण्यात्मा हूँ, मैं स्वर्ग-नरकमें आता जाता हूँ, मेरा पुनर्जन्म होता है;' और यदि धर्माधर्म पुनर्जन्म इत्यादि नहीं मानोगे तो यह मानोगे कि मैं जड़ शरीर हूँ। परन्तु किसी भी दशामें इससे ऊपर नहीं उठ सकते।

जिस एक सच्ची चीजको ( ब्रह्मको ) जाननेपर सभी अभिमानों और अध्यारोपोंका अपवाद हो जाता है, उस ब्रह्मतत्त्वको यदि वेद नहीं बताता तो वेद अधूरा है। फिर तो बस, वेद हल चलानेकी विद्या ही बतायेगा। अथवा ख्याली बातोंको ही बतायेगा जैसे—

**अपाम सोममृता अभूम।** ( ऋग्वेद ८.४८.३ )

( हम सोम पीकर अमर हो गये )

वेद एक ऐसी चीज बताता है जो अन्य प्रमाणसे अनधिगत है ( नहीं जानी जाती है ) और अन्य प्रमाणसे अबाधित है। साधनकी तो हमलोग चर्चा ही नहीं करते। वेदान्त विद्या है, साधन नहीं है। कुछ करना और भोगना नहीं है; कुछ चाहना और पाना नहीं है; किसी दूसरेको पकड़ना नहीं है। यह तो अपने स्वरूपको ज्यों-का-त्यों जानना है। इसीसे 'शंसनात् शास्त्रम्' बोलते हैं।

धर्म करोगे तो सुख मिलेगा, स्वर्ग मिलेगा। आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान करोगे तो समाधि लगेगी और भगवदाकार वृत्ति करोगे तो भगवान्से सायुज्य होगा। यह सब होगा, लेकिन जिस अपने आपको न जाननेके कारण कर्मकी मजदूरी

करनी पड़ी, अन्यके पराधीन होना पड़ा और चारों ओरसे आँखें बन्द करनी पड़ीं, उस अपनी ब्रह्मताका प्रतिपादन वेदान्तशास्त्र करता है।

वेदान्त साधन-साध्यकी चर्चा नहीं करता वह तो सिद्ध वस्तुकी चर्चा करता है। वेदान्त सुखको उत्पन्न नहीं करता। वह तो कहता है कि इस समय जो बिना सोचे-समझे तुम मान-मानकर बैठे हो कि "मैं देह हूँ मैं पापी हूँ, पुण्यात्मा हूँ, मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं स्वर्ग-नरकमें आने-जानेवाला हूँ" वह तुम्हारा अज्ञान है कोरा! वेदान्त ऐसी चीज बताता है जो किसी दूसरे साधनसे तो मिल ही नहीं सकती। वहाँ कर्म, उपासना और योगका तो द्राविड़-प्राणायामसे भी सम्बन्ध नहीं है अथवा वादरायण-सम्बन्ध[1] भी नहीं है।

वेदान्त-प्रतिपाद्य जो आत्माका ब्रह्मत्व है वह कल्पित सम्बन्ध भी नहीं है। साधनसे तो वह अगम्य है ही। किसी भी साधनसे आपका कर्तापन दूर नहीं होगा। यहाँतक कि 'मैं साक्षी हूँ' यह कल्पना-भावना भी जब आप करेंगे तो आप उस कल्पना-भावनाके

---

१. कोई सज्जन थे। किसी गाँवमें पहुँचे तो रात हो गयी। वहाँ उनका कोई परिचित या सम्बन्धी भी नहीं था। फिर कुछ सोचकर इधर-उधर देखा और एक मकानमें घुस गये। जाकर कहा 'हम तुम्हारे सम्बन्धी हैं, रातको यहीं विश्राम करेंगे।' घरमें लोगोंने समझा कि कोई सम्बन्ध होगा, मालूम हो जायेगा। शिष्टाचारमें भोजनादि भी हुआ और वे बातचीतका अवसर दिये बिना तुरन्त सो गये। प्रातः उठकर निवृत्त होकर जब चलने लगे तो घरवालोंने पूछा कि उनका उनसे क्या सम्बन्ध है? उन सज्जनने बताया कि उनका उनसे 'वादरायण-सम्बन्ध' है। हमारे घर भी वदरी ( वेर ) का पेड़ है और आपके घर भी वदरीका पेड़ है। इसलिए हमारा आपका वादरायण-सम्बन्ध है।

भी कर्ता हो जायेंगे। कोई भी साधन करेंगे तो उसका मजा भी आयेगा, इसलिए भोक्तापन भी बना रहेगा। तब वासनाकी निवृत्ति कहाँसे होगी? फिर-फिर वह वासना बनी रहे, इस जन्ममें बनी रहे, अगले जन्ममें बनी रहे! वासनासे जो फल होगा वह नाशवान् होगा और जहाँ वह ज्यादा मिलेगा वहाँ जानेकी इच्छा होगी। तब संसारित्व कहाँ निवृत्त हुआ? और बिना अन्तःकरणमें मैं-मेरा किये कोई साधन कैसे करेगा? तब परिच्छिन्नता भी ज्यों-की-त्यों रही! कुछ भी तो निवृत्त नहीं हुआ!

इसलिए वेदान्तकी चर्चा साधनकी चर्चा नहीं है। इसका नाम विद्या है। वस्तु जैसी है वैसी ही उसे जानना है।

अब कुछ प्रमाणकी बात सुनो। प्रमाण दूसरेके लिए होते हैं अपने लिए नहीं। प्रमाणका पक्षपात प्रमेयकी सिद्धिमें होता है, प्रमाताकी सिद्धिमें नहीं। प्रमाताको तो सिद्धवत् मानकर प्रमाणकी प्रवृत्ति होती है। प्रमाण प्रमाताके सामने दूसरेको उपस्थित करता है। उदाहरणार्थ, आँख रूपको सिद्ध करती है, हमको नहीं, आँख रूपको हमारे सामने प्रस्तुत करती है, हमको नहीं। यही हाल प्रत्येक इन्द्रियका है! ऐसी अवस्थामें दुनियाका कोई प्रमाण हमें हमारे अपने स्वरूपको नहीं लखा सकता। वेदान्तकी वहाँ जरूरत होती है जहाँ सारे साधन हार जाते हैं, जहाँ सारे प्रमाण हार जाते हैं।

लोग शिकायत करते हैं: हमारी वृत्ति टिकती नहीं है, हमारी स्थिति बनती नहीं है! तुम्हारा कोई ख्याल कबतक टिकेगा?

प्रमाणसे देश सिद्ध होता है, काल सिद्ध होता है, वस्तु सिद्ध होती है। प्रमाणसे भेद सिद्ध होता है और प्रमाण स्वयं भिन्न-भिन्न हैं। इसलिए प्रमाण भेदरूप हैं। परन्तु इन भेदोंमें जो अभेद है—देश-भेदमें जो अभेद है, कालभेदमें जो अभेद है, वस्तुभेदमें जो

अभेद है, प्रमाणभेदमें जो अभेद है, अभिमानभेदमें जो अभेद है और भावभेदमें जो अभेद है, जो अपना आपा है उसकी ओर ध्यान खींचनेकी जरूरत है और वही वेदान्तका प्रतिपाद्य है।

वेदान्त विद्या है, यह आपको मजदूर बनानेके लिए नहीं है, यह आपको ख्याली दुनियामें ले जानेके लिए नहीं है और न आँख बन्द करके एकांगी जीवन बितानेके लिए है। यह तो सच्चाईका बोध करानेके लिए है। इसी विद्यामें सबका तात्पर्यसे समन्वय है। तत्तु समन्वयात्।

वेदान्त शास्त्र आत्माकी ब्रह्मताका शंसन करनेके कारण शास्त्र है, शासन करनेके कारण नहीं। क्योंकि यदि समन्वय करोगे तो ब्रह्मका समन्वय दूसरोंके साथ नहीं होगा जबकि दूसरे सबका समन्वय ब्रह्मके साथ हो जायेगा। अतः स्वरूपके शंसन करनेसे ही वेदान्त शास्त्र है। यदि कहो कि **स एष नेति नेति आत्मा** ( बृहदा० ३.९.२६ ) श्रुति सबका निषेध करती है, स्वरूपका शंसन कहाँ करती है, तो आत्माका स्वरूप है ही ऐसा। सभी आरोपोंका आत्मा ही अधिष्ठान है अतः सभी आरोपोंके निषेधपूर्वक ही आत्माके स्वरूपका शंसन शक्य है।

**प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयं प्रमितिस्तथा।**
**यस्य प्रसादात्सिद्ध्यन्ति तस्य कौ किमपेक्ष्यते॥**

जिसके अस्तित्वमें ही सब-सब है और जिसके न रहनेपर सब नहीं रहते परन्तु उनके न रहनेपर भी जो रहता है; देश-काल-वस्तु प्रमेय, अन्तःकारण इन्द्रियादि प्रमाण और अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य प्रमाता—सब जिससे सिद्ध होते हैं वह चेतन अनन्त अखण्ड अद्वय ब्रह्म है, उसमें न प्रमेय हैं न प्रमाण और न प्रमाता; तब उसमें प्रमा भी कहाँ होगी? इसीमें सब वेदान्तोंका समन्वय है। तत्तु समन्वयात्।

## ( ४. २. )

# आक्षेपिकी संगति—२

पहिले लोग जब वेदान्तका स्वाध्याय करते थे तो थोड़ा पदशास्त्र अर्थात् व्याकरण, थोड़ा वाक्यशास्त्र अर्थात् पूर्वमीमांसा और थोड़ा प्रमाणशास्त्र अर्थात् न्यायादिका ज्ञान कर लेते थे तब वेदान्तका स्वाध्याय करते थे। ऐसे लोग यदि शमदमादि साधन-सम्पन्न होकर गुरुसे वेदान्त श्रवण करें तो उन्हें सुनते-सुनते ही वेदान्तका बोध हो जाय। आजकल जो विद्वान् हैं उनमें साधन-सम्पत्ति नहीं है और जो साधन-सम्पन्न हैं वे प्रायः शास्त्रीय तैयारी-से वंचित होते हैं। इसलिए समझनेमें देर लगती है। परन्तु सुने-बिना तो दोनोंमें-से किसीको भी बोध नहीं हो सकता। अतः सब प्रकारके जिज्ञासुओंके लिए श्रवण ही मुख्य साधन है।

हम लोगोंका ऐसा विश्वास है और यह देखनेमें भी आता है कि समझमें आये या न आये, श्रवण किये जाओ। वेदान्तका श्रवण पापवासनाको क्षीण करता है और यदि सुने हुएका मनन करोगे तो संशय आदि दोष जो चित्तके हैं, वे नष्ट हो जायेंगे और स्वर्गादिकी जो शुभ वासना है, वह मिट जायेगी। निदिध्यासन करनेसे चित्तकी चंचलता मिट जायेगी तब चित्त दर्शनके योग्य हो जायेगा और महावाक्यका जो तात्पर्य है उसका साक्षात्कार हो जायेगा। इसलिए हम किसी भी वेदान्तके जिज्ञासुको यह नहीं कहते कि पहिले यज्ञ करलो फिर वेदान्त सुनना या पहिले उपासना करलो फिर सुनना वेदान्त। हालांकि उसकी तैयारी नहीं है तथापि अनुभवमें ऐसा आता है कि श्रवण-मनन-निदिध्यासनसे ही सब सम्पन्न हो जाता है।

कल इशारेसे एक बात कही थी कि 'अपवादापवादे उत्सर्गा-वस्थितिः'। अपवादका अपवाद कर देनेसे उत्सर्गकी ही स्थिति

रहती है—माने जो नियम चल रहा है वही चालू रहता है। देहको मैं–मेरा मानकर आपका सारा व्यवहार चल रहा है। ऐसी स्थितिमें यदि आप सत्सम्प्रदायके अनुसार वेदान्तका सत्संग-स्वाध्याय नहीं करते तो देहमें मैं-मेरापन तो छूटेगा नहीं और आपका जो अज्ञानमय व्यवहार चल रहा है वही चलता रहेगा।

किसीने आपसे कह दिया कि आप यह अभ्यास करो कि 'मैं जीव नहीं हूँ।' अथवा यह दृढ़ रूपसे मानलो कि मैं 'जीव नहीं हूँ।' अब आप जानते हैं कि इस मान्यताका क्या परिणाम होगा ? आप जीव नहीं हैं इसलिए आपका पूर्व जन्म नहीं था और उत्तर जन्म नहीं होगा। लेकिन इस वर्तमान स्थूल देहमें जो आपका मैं-मेरापना है वह कहाँ निवृत्त हुआ ? वह तो और दृढ़ हो गया। आप ईमानदारीके साथ इस बातपर विचार करो। आपका वेदान्त कहीं आपको नास्तिक चार्वाक तो नहीं बना रहा है? आप वेदान्तके साथ अन्याय मत करो। केवल जीवत्वका निषेध तो चार्वाक करता है—**नायमस्तीति चैके** ( कठ १.१.२०. ) ( कोई कहते हैं आत्मा नहीं है )। चार्वाकका कहना है कि पैदा होनेसे पहिले जीव नामकी कोई चीज नहीं थी और मरनेके बाद भी जीव नामकी कोई चीज नहीं रहती है। यह तो माता-पिताके रज-वीर्यके मिलनेसे मद ( नशे ) की तरह शरीरमें एक खुमारी हो गयी है; इसीसे तुम जीव बन गये हो। परन्तु यह जीवता तुम्हारी जन्मसे लेकर मरण-पर्यन्त ही है। यह शरीरके साथ ही मिट जायेगी। तुम्हारा सारा जीवन दैहिक जीवन ही है।

यदि वेदान्तका श्रवण करके आपने यही सीखा कि आपका जीवन दैहिक जीवन ही है, तो आपने वेदान्तका श्रवण नहीं किया, चार्वाक-मतका श्रवण किया। इस बातको आप गम्भीरतापूर्वक विचारें।

श्री शंकराचार्य भगवान्‌का कहना है कि जबतक सच्ची चीज नहीं मिल जाती तबतक झूठी चीजसे मुकरना सम्भव नहीं है। जबतक आपको रज्जुका ज्ञान नहीं हो जाता तबतक आप सर्पसे मुकरेंगे तो मालाका भ्रम होगा और मालासे मुकरेंगे तो दण्डका भ्रम होगा। कोई-न-कोई भ्रम आपको लगा रहेगा। परन्तु यदि सत्य वस्तु रज्जुको जान गये तो समस्त भ्रमोंका आधार (अज्ञान) ही निवृत्त हो गया। इसी प्रकार जबतक आप अपनेको अद्वितीय ब्रह्म नहीं जानते हैं तबतक अपनी परिच्छिन्नतासे, अपने जीवत्वसे मुकर नहीं सकते।

मैं वेदान्तियोंको खास करके सावधान करता हूँ कि आप भले मुकर जाइये कि मैं अन्नमय कोष नहीं हूँ, प्राणमय कोष नहीं हूँ, मनोमय कोष नहीं हूँ, विज्ञानमय कोष नहीं हूँ, आनन्दमय कोष नहीं हूँ ( अर्थात् मैं जीव नहीं हूँ ) अथवा कि मैं विश्व नहीं हूँ, मैं तैजस नहीं हूँ, प्राज्ञ नहीं हूँ, अथवा कि मैं लोक-परलोकमें आने-जानेवाला नहीं हूँ, परन्तु यह मुकरनेवाला है कौन? मुकरनेकी जो वृत्ति है उसका अभिमानी है कौन? इस वृत्तिसे विशिष्ट कौन है? इस वृत्तिसे उपहित कौन है? परिच्छिन्न या अपरिच्छिन्न? यही तो जीव है! जबतक इस वृत्तिको मेरी माननेवाला अभिमानी जीवको अपनी अपरिच्छिन्नताका ज्ञान नहीं होगा तबतक विचार-कालमें भले वह कह दे कि मैं जीव नहीं हूँ परन्तु उसका जीवत्व निवृत्त नहीं होगा। श्री शंकराचार्य भगवान्‌के शिद्धान्तको पक्का करके समझें कि 'मैं अद्वय ब्रह्म हूँ' यह वृत्ति जब 'तत्' और 'त्वम्' पदार्थोंके विवेकपूर्वक होती है तब तो वह जीवत्वको काटकर जीवत्वकी आत्यन्तिक निवृत्ति कर देगी अन्यथा तो वह आकाशमें ढेला फेंकनेके समान निरर्थक ही है। यह वृत्ति वेदान्त श्रवणसे उत्पन्न होती है। इस अर्थमें ही वेदान्त ब्रह्मके विषयमें प्रमाण हैं।

हमारे पूर्वमीमांसक कहते हैं कि सम्पूर्ण वेद क्रियापरक हैं। वह हमारे जीवनके लिए ही कुछ-न-कुछ बताता है। जिस वेद-वचनमें कुछ करनेके लिए नहीं हैं, जैसे कि वेदान्त-वचन, वे निरर्थक हैं। वेदमें सर्वत्र विधि-निषेधका, मन्त्र, नामधेय और अर्थवाद सहित वर्णन किया गया है। विधि-निषेधके पालनका फल जो है वह जितना दृष्ट है उतना तो है ही, परन्तु इसके अतिरिक्त भी है—स्वर्ग, सोम, अप्सरा, नन्दनवन, भोग इत्यादि, जो मरनेके बाद जीवको मिलते हैं।

यदि कहो कि जब वेद-मन्त्रोंका तात्पर्य क्रियामें ही है तब वेदमन्त्रोंके पाठका क्या प्रयोजन? तो पूर्वमीमांसकोंका कहना है कि मन्त्रोंके पाठसे एक प्रकारका 'अपूर्व' उत्पन्न होता है जो पाठकके अन्तःकरणमें चिपकता है। वही धर्म-शेष है जो धर्माधर्म-के संस्कारके द्वारा फलको आकर्षित करता है। धर्मका दृष्ट फल सुख है और अदृष्ट फल स्वर्ग है। जबकि अधर्मका दृष्ट फल दुःख है और अदृष्ट फल नरक है। इस प्रकार पूर्वमीमांसकोंने बताया वेदके विधि-निषेध दृष्टादृष्टफलार्थक होते हैं।

पूर्वमीमांसा शास्त्रमें ही देवता-विग्रहाधिकरण है जिसमें यह प्रश्न उठाया गया है कि देवताओंका विग्रह होता है या नहीं। वहाँ बताया कि देवताका विग्रह नहीं होता परन्तु जब हम विधि-पूर्वक अग्नि-स्थापन करते हैं और निषिद्ध आचरणका परित्याग कर देते हैं, बीच-बीचमें अर्थवाद सुनते हैं, यजमान अधिकारी होता है और देवताका आवाहन ठीक होता है तो मन्त्रमें ऐसी शक्ति है कि नया देवता उत्पन्न हो जाता है। यदि एक हजार कुंडोंमें इन्द्रके आवाहनके लिए एक हजार मन्त्र पढ़े जायँ तो हजार यज्ञों में एक साथ ही इन्द्रका आविर्भाव होगा और तत्तद् यजमानके द्वारा दिया हुआ जो हविष्य है उसको इन्द्र ग्रहण करेगा और यज्ञ पूरा होगा।

अच्छा ठीक है! वेद क्रियार्थक हैं। फिर 'तत्त्वमसि' वेद-वाक्यकी संगति कैसे लगेगी? तो इस पर पूर्वमीमांसकोंने बताया कि एक जगह एक यजमानने खूब बढ़िया यज्ञ किया। ब्राह्मणों-को खूब सोमपान कराया, बहुत-से वस्त्र दिये और बहुत दान दिया। ब्राह्मण बहुत प्रसन्न हुए और यजमानसे बोले 'तत्त्वमसि' अर्थात् 'जिस देवताकी आराधना हमने यज्ञमें की है वे इन्द्र आदि देवता रूप ब्रह्म तुम्हीं हो।' 'तत्त्वमसि' यजमानकी स्तुति है। ब्राह्मण भी प्रसन्न और यजमान भी प्रसन्न। तो फिर आगे भी यज्ञ होवे, इसमें इस स्तुतिका तात्पर्य है।

यह आपको 'अति'की बात सुनायी। वेद क्रियापरक हैं इसलिए शंसनात्मक वेद-वाक्य या तो निरर्थक हैं अथवा—

**कर्तृदेवतादिप्रकाशनार्थत्वेन वा क्रियाविधिशेषत्वम्।**

वे कर्ता ( यजमान ) और देवतादि ( इन्द्र आदि देवता जिनके लिए यज्ञ किया जाता है )के स्वरूपके प्रकाशनके लिए हैं। अतएव वे क्रिया-विधि ( यज्ञ )के ही अंग हैं। वेदान्तमें जहाँ आत्माके स्वरूपका शंसन है वहाँ समझना चाहिए कि यजमानका क्या स्वरूप है और जहाँ ब्रह्मके स्वरूपका शंसन हो वहाँ समझना चाहिए कि इन्द्रका क्या स्वरूप है। जब यजमान अपना और देवताका स्वरूप समझेगा तब वह उत्साहसे यज्ञ करेगा। इसलिए वेदान्त कर्मका एक अंग है और उनकी सार्थकता कर्ता और देवताके स्वरूपके प्रकाशनमें ही है।

यदि किसी कारण इस बातको भी न माना जाय तो यह मानना चाहिए कि वेदान्त उपासना आदि अन्य क्रियाओंके विधानके लिए हैं—

**उपासनादिक्रियान्तरविधानार्थत्वं वा।**

माने यह ठीक भी हो कि वेदान्त क्रियाविधिके शेष नहीं हैं फिर भी उनमें कुछ ऐसा है अवश्य जिसमें कुछ करना है। उसमें ब्रह्मका वर्णन है सो तो ठीक, परन्तु वह है इसीलिए कि पहले ब्रह्मको सुन लो कि वह ऐसा है और उसके बाद ब्रह्मकी उपासना करो, श्रुतको दोहराओ !

वेदान्तोंमें बहुत-से स्थलोंपर तो उपासनाका स्पष्ट आदेश है। जैसे **अन्नं ब्रह्मेत्युपास्ते** । ( छा० ७.९.२ ) अन्न ब्रह्म है—ऐसी उपासना करते हैं : अन्नकी कभी निन्दा न करे। अन्नको कभी फेंके नहीं।

**अन्नं न परिचक्षीत।** ( तै० उप० ३.८.१ )
**अद्यादन्नम् अकुत्सयन् ।।**

अन्नके रूपमें पालन-पोषण करनेके लिए स्वयं परमेश्वर ही आया हुआ है। हम लोग यदि दूध गिर जाता है तो कह देते हैं कि देखना इसे पाँव न छू जाय। नमक गिर जाता है तो कहते हैं कि कायदेसे झाड़-पोंछकर उठालो नहीं तो पलकोंसे उठाना पड़ेगा। इसका अर्थ है अन्न परमेश्वर है। अन्नमें परमेश्वरकी भावना उपासनाका विधान हुआ यह। इस उपासना-कर्मकी फलश्रुति भी वहाँ बतायी है कि जो अन्नको ब्रह्म जानकर उपासना करता है उसे अन्नकी कमी कभी नहीं होती।

इसी प्रकार अन्य उपासनाएँ भी हैं—

**नाम ब्रह्मेत्युपास्ते** । ( नाम ब्रह्म है ऐसी उपासना करता है )
( छान्दोग्य ७.१.५ )

**वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते** । (वाणी ब्रह्म है ऐसी उपासना करता है )
( छान्दोग्य ७.२.२ )

**मनो ब्रह्मेत्युपास्ते** । ( मन ब्रह्म है ऐसी उपासना करता है )
( छान्दोग्य ३.१८.१ )

इत्यादि उन सब उपासनाओंका फल भी छान्दोग्य उपनिषद्में यत्र-तत्र बताया गया है।

तो जैसे नाम ब्रह्म है, मन ब्रह्म है, इन उपासनाओंका विधान है—ऐसे ही 'तत्त्वमसि' अथवा 'अहं ब्रह्मास्मि' भी आत्मामें ब्रह्मकी उपासना करनेके लिए ही है। अनन्त ब्रह्मका ज्ञान उसकी उपासनाके लिए ही है, उसका अन्य कोई तात्पर्य नहीं है। उपासना भी मानसिक कर्म है अतः वेदान्तोंका कर्ममें ही तात्पर्य है।

यदि कहो कि वेदान्त परिनिष्ठित (सिद्ध) वस्तुको बतानेके लिए ही है, किसी प्रकार भी वह क्रिया-विधिका अंग नहीं है तो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि सिद्ध वस्तु (जो वस्तु है ही) तो प्रत्यक्ष, अनुमान आदि दूसरे प्रमाणोंसे जानी जा ही सकती है, फिर उसमें वेदान्तके प्रतिपादनकी क्या आवश्यकता है?

**न हि परिनिष्ठितवस्तुप्रतिपादनं संभवति प्रत्यक्षादिविषयत्वात् परिनिष्ठितवस्तुनः।**

इसपर सिद्धान्ती कहते हैं कि किसी भी इन्द्रियसे या मनकी भावनासे अद्वय ब्रह्मतत्त्वका ज्ञान शक्य नहीं है। यहाँतक कि साक्षी भी अद्वैतताको देख नहीं सकता (देखेगा तो वह अद्वितीयतासे अलग हो जायेगा) अब रहा साक्षी स्वयम्। वह अद्वितीय है या सद्वितीय? यदि कहो कि समाधिमें अद्वितीय है और अब व्यवहारमें सद्वितीय, तो जो साक्षी समाधिमें जाता है तो द्वैतके बीजको लेकर जाता है। इसलिए जब साक्षीको द्वैत नहीं भासता तब भी द्वैत रहता है। साक्षी अपने आपको भी नहीं देख सकता वर्ना साक्षी साक्ष्य हो जायेगा। साक्षी तो अनुभाव्यका परित्याग करके अनुभवरूप साक्षी है। और इस साक्षीमें भेद नहीं है, द्वैत नहीं है, अन्य नहीं है। इस बातको जाननेके लिए ही वेदान्तकी, सत्सम्प्रदायकी आवश्यकता होती है।

पूर्वपक्षी कहता है : अच्छी बात है; चलो, मान भी लिया कि अद्वय तत्त्वके ज्ञानके लिए वेदान्त है परन्तु उस ज्ञानसे क्या मतलब सिद्ध हुआ ? यज्ञ करेंगे तो बहुत फायदे हैं—विद्याजीवी लोगोंकी जीविका मिलेगी, संरक्षकको—पहरेदारको, वैश्यको और शूद्रको भी दक्षिणा मिलेगी, यजमानके द्रव्यका समाजीकरण होगा, उसके अन्तःकरणकी शुद्धि होगी, देहातिरिक्त आत्माके अस्तित्वमें उसकी आस्था होगी, स्वर्गादि अदृष्ट फल और यशादि दृष्टफलकी उत्पत्ति होगी। परन्तु यदि अपनेको ब्रह्म जान भी लिया तो उससे क्या मिला और क्या छूटा ? ब्रह्ममें कुछ भी हेय और उपादेय नहीं है तब अपनेको ब्रह्म जाननेमें पुरुषार्थका अभाव है। इसलिए भी वेदान्त अनर्थक हैं—

**तत्प्रतिपादेन च हेयोपादेयरहिते पुरुषार्थाभावात्।**

कौआके मुँहमें कितने दाँत ? इस जानकारीका क्या लाभ ? निष्प्रयोजन ज्ञानका प्रतिपादन शास्त्र क्यों करने लगे ? यदि तुमने जान भी लिया कि दृश्यमान प्रपंचके मूलमें कोई अकर्ता, अभोक्ता, पाप-पुण्यसे रहित, सुख-दुःखसे रहित, देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सजातीय-विजातीय स्वगत-भेदसे शून्य, प्रत्यक् चैतन्याभिन्न कोई ब्रह्म सत्ता है तो उससे किस प्रयोजनकी सिद्धि हुई ?

इसपर सिद्धान्ती कहता है कि बहुत बड़ा प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। उदाहरणार्थ; अज्ञानका दुःख मिट जाता है ( अविद्याकी निवृत्ति हो जाती है ); अविद्या जन्य राग-द्वेष, शोक-मोह, अष्टपाश और पंच क्लेशोंसे मुक्त हो जाता है; मृत्युका डर समाप्त हो जाता है; मान-अपमानसे मुक्ति मिल जाती है; संसृति ( जन्ममरण )-चक्रसे मुक्ति मिल जाती है; और एक अखण्ड साम्राज्यकी निरंकुश उपलब्धि हो जाती है। इसलिए वेदान्त बहुत बड़ा प्रयोजन सिद्ध करता है।

# आक्षेपिकी संगति–३

जो कर्मके प्रेमी होते हैं वे कहते हैं कि कोई भी बात जो कही जायेगी उसमें विधि-निषेध जरूर होगा। भले वह बात चुटकुला या कहानी-क़िस्सा द्वारा कही जाय। अब ब्रह्म कर्मका अंग नहीं है इसलिए ब्रह्मसम्बन्धी वेद अर्थात् वेदान्त निरर्थक हैं।

यदि कहो कि वेदान्त ब्रह्मका ज्ञान कराता है तो :

**सर्वत्रैव हि विज्ञानं संस्कारत्वेन गम्यते पराङ्गञ्च।**

संसारमें जितना विज्ञान है वह हमारे मनपर एक संस्कार डालता है। वह संस्कार कर्मका अंग होता है, क्योंकि उस संस्कारसे कुछ छोड़ेंगे या कुछ पकड़ेंगे। परन्तु परिनिष्ठित वस्तु (सिद्ध वस्तु) का विज्ञान तो वह संस्कार भी मनपर नहीं डालता। क्योंकि परिनिष्ठित वस्तुका अर्थ है जिसको जाननेके लिए प्रमाणकी भी जरूरत नहीं है; जो पहिलेसे ही सिद्ध है; मनमें प्रमाणवृत्तिके उदय होनेसे पूर्व ही जो मनका साक्षी और मनका अधिष्ठानरूपसे सिद्ध है वही परिनिष्ठित वस्तु है। अतः

**न च परिनिष्ठिते वस्तुस्वरूपे विधिः सम्भवति क्रियाविषयत्वाद्विधेः।**

परिनिष्ठित वस्तुके स्वरूपमें विधि सम्भव नहीं है क्योंकि विधि क्रिया-विषयक होती है।

विधि कैसी होती है इस बातको समझना चाहिए। विधिके लिए चार बातें होनी आवश्यक हैं—अधिकार, विनियोग, प्रयोग और उत्पत्ति।

**१. अधिकार : स्वर्गकामो यजेत।** स्वर्गकी कामनावाला यज्ञ करे—यह विधि है। अब देखना यह है कि विधिमें जिस वस्तुको

प्राप्त करनेका आदेश है उसको वह चाहता भी है या नहीं ? अब आजकल लोग यज्ञ तो करते हैं परन्तु वे स्वर्ग-नरक कुछ मानते ही नहीं। उनका तो मामला ही गायब है। फलार्थी ही विधिका अधिकारी है।

**अर्थी समर्थो विद्वान् शास्त्रेण अपर्युदस्तः।**

अधिकारी कैसा हो कि एक तो वह उक्त कर्मके फलका चाहनेवाला होना चाहिए ( अर्थी )। दूसरे वह उस कर्मको करनेमें समर्थ भी होना चाहिए। तीसरे कर्ता समझदार होना चाहिए और चौथे वह कर्म स्वयं शास्त्रसे निषिद्ध नहीं होना चाहिए। अधिकारीमें ये चार गुण होना जरूरी है।

अब अधिकारीका निर्णय सुनाते हैं आपको। अधिकार किसको कहते हैं कि फलके साथ जो सम्बन्ध है वह तुम्हारे साथ है या नहीं ? जैसे यज्ञ करके स्वर्ग पानेकी इच्छा। यज्ञ करनेवालेकी इच्छा स्वर्ग है या विश्वशान्ति है या अपनी जेब भरना है ? उद्देश्य क्या है ? फलके साथ यदि सम्बन्धका बोध है तो अधिकार है। फल-सम्बन्ध-बोधन ही अधिकार है।

२. **विनियोग :** फलके साथ क्रियाके सम्बन्धका ज्ञान विनियोग है। जैसे अमुक कर्म करनेसे अमुक फल होता है—तो इस ज्ञानमें उक्त कर्मका विनियोग उक्त फलमें है। जैसे आप लोग कहते हो :

**'कर्मणि विनियोगः;' 'प्राणायामे विनियोगः;' आचमने विनियोगः।'**

तो जिस फलको हम पाना चाहते हैं वह इसी क्रियाका शेष है, इस ज्ञानका नाम विनियोग है।

३. **प्रयोग :** जिस फलको हम पाना चाहते हैं और वह जिस क्रियाका शेष है, उस फलके लिए उस क्रियाको **करना** ( जानना नहीं ) प्रयोग कहलाता है।

**४. उत्पत्ति :** विनियोग और प्रयोगको ठीक-ठीक समझना, यह उत्पत्ति कहलाता है। यदि उपर्युक्त चारों बातें—अधिकार, विनियोग, प्रयोग और उत्पत्ति—ठीक-ठीक नहीं होंगी तो विधि ठीक सम्पन्न नहीं होगी। 'अमुं यज, अमुं यज'। ( यह यज्ञ करो यह यज्ञ करो ) यह तो बोल दिया और अधिकार, विनियोग, प्रयोग और उत्पत्ति ठीक-ठीक एकत्र नहीं हुए तो कर्म ठीक सम्पन्न नहीं होगा। कर्मके साथ इन चारोंका **अविनाभाव-सम्बन्ध** बोला जाता है अर्थात् इनके विना कर्म नहीं होता।

अच्छा, 'यह करो, यह मत करो' यह विधि-निषेध हुआ। किसके लिए ? उसके लिए जो पहिलेसे नहीं है—वस्तुके उत्पादनके लिए, उत्पन्न हुई वस्तुको संस्कारित करनेके लिए, उसको बदलनेके लिए या कहींसे वस्तुको प्राप्त करनेके लिए ( उत्पाद्य, संस्कार्य, विकार्य या आप्य—कर्मजन्य वस्तुके ये चार ही भेद हैं। विनाश्यकी गणना विकार्यमें ही है। अब परब्रह्म परमात्मा तो ऐसा है नहीं। वह तो परिनिष्ठित वस्तु है, सिद्ध वस्तु है। अतः उसके लिए कोई विधि सम्भव नहीं है—न शारीरिक, न मानसिक। और तो और हम बौद्धिक कर्मका भी निषेध करनेवाले हैं। स्वतः सिद्ध वस्तुको पहिचाननेके लिए तो केवल उसके ऊपर जो पर्दे मालूम पड़ रहे हैं उनको हटानेके सिवाय और कोई कर्म नहीं करना पड़ता।

**न वस्तुतन्त्रोऽस्ति विधिः**

वस्तुतन्त्रमें विधि नहीं होती।

मीमांसकोंने कहा कि उपनिषद् तो विधिहीन होनेसे निरर्थक ही है। वेदका कर्मकाण्ड भाग ( मन्त्र और ब्राह्मण भाग ) तो बहुत बढ़िया है। उसमें जीवन-सम्बन्धी सार-सार बातें दी हुई हैं। यह करो, यह मत करो। परन्तु उपनिषद्में तो बस अ-अकी भरमार है :

**अदीर्घम्, अनणु, अनपरम्, अबाह्यम्, अनन्तरम्**

चाहे जिस शब्दके पहिले 'अ' लगा दो और वह हो गया ब्रह्मका वर्णन !

इसपर वेदान्तियोंका कहना है कि भाई, असलमें तुम हमारे मतका खण्डन करते-करते वेदका ही खण्डन करने लगे। क्योंकि उपनिषद् भी तो वेद ही है। ईशावास्य उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद संहिताका चालीसवाँ अध्याय है। केनोपनिषद् सामवेदके तलवकार ब्राह्मणका अंग है। कठोपनिषद् कृष्णयजुर्वेदकी कठशाखाका अंग है। प्रश्नोपनिषद् अथर्ववेदके ब्राह्मणभागके अन्तर्गत है। बृहदारण्यक उपनिषद् शतपथ ब्राह्मणका है। छान्दोग्य उपनिषद् छान्दोग्य ब्राह्मणका है। ये सब वेद ही तो हैं। यदि तुम उपनिषद्को व्यर्थ बताते हो तो वेदके एक भागको ही व्यर्थ बताते हो। अपनी मान्यतापर ही कुल्हाड़ी मार रहे हो। कोई गुरुके दाहिने पैरको तो पूजे और बाँयेको कुल्हाड़ी मारे तो क्या यह गुरु-भक्ति हुई ? इसी प्रकार यदि तुम वेदके कर्मकाण्डात्मक अंशको तो मानो और ज्ञानकाण्डात्मक अंशको न मानो तो क्या यह वेदको मानना हुआ ?

बोले : अच्छा जी, हम उपनिषद्को बिलकुल अमान्य नहीं करते हैं, क्योंकि यह प्रकरण दूसरा है, पर इसमें भी उपासना आदि जो हैं वे कर्मपरक हैं :

**अथ प्रकरणभयात् नैतद् अभ्युपगम्यते तथापि स्ववाक्य-गतोपसनादि कर्मपरत्वम् ।**

परब्रह्म परमात्माको जानो और जानकर उसकी उपासना करो : 'सोऽहमस्मि।' आदित्यमंडलमें जो पुरुष है वही मैं हूँ 'सोऽहम्', 'सोऽहम्' ऐसी आवृत्ति करो, उपासना करो। अन्न ब्रह्म है, मन ब्रह्म है, आत्मा ब्रह्म है, ऐसी उपासना करो।

यह बात साधारण लोगोंकी बुद्धिमें आती ही नहीं है कि बार-बार दोहराना तत्त्वज्ञानका साधन भले ही हो, परन्तु यह दोहराना तत्त्वज्ञान नहीं है। रमण महर्षि बोलते हैं—जबतक देहमें आत्मबुद्धि है तबतक 'सोऽहम्', 'सोऽहम्'को दोहराओ। परन्तु यह दोहराना तत्त्वज्ञान ( आत्मज्ञान ) नहीं है :

**बुद्धे उपक्षे सपुर्नानिरर्थो यथा नरस्त्वप्रमितर्नरस्य।**

आप अपने आपको मनुष्य जानते हैं या नहीं ? जानते हैं। आप कितनी बार दोहराते हैं कि मैं मनुष्य हूँ ? एक बार भी नहीं, क्योंकि आपको अपने बारेमें यथार्थ ज्ञान है। इसी प्रकार घट-ज्ञान भी आवृत्तिकी अपेक्षा नहीं रखता। इसी प्रकार ही हम ब्रह्म हैं इस यथार्थ ज्ञानमें आवृत्तिकी अपेक्षा नहीं है, यह तो नरको नरके समान जानना मात्र है।

यह जो देहमें हमारी अहं-बुद्धि है—जैसे स्थूल देहमें यह बुद्धि कि 'मैं ब्राह्मण हूँ, मैं संन्यासी हूँ, मैं मनुष्य हूँ, अथवा मैं हिन्दू हूँ' यह सब क्या है ? एक प्रकारका सामान्य देखकरके उसमें-से एकको 'मैं' बोलते हो। ब्राह्मण तो अनेक हैं। ब्राह्मणत्व तो एक जाति है। अब देशके दश करोड़ ब्राह्मणोंको आप 'मैं ब्राह्मण हूँ' ऐसा थोड़े ही बोलते हैं। आप उनमें-से एक व्यक्तिको 'मैं ब्राह्मण हूँ' बोल रहे हैं। इसलिए 'मैं ब्राह्मण हूँ' यह बोलना अज्ञानमूलक है। इसी प्रकार अन्य अभिमानोंके बारेमें भी समझना चाहिए। असलमें यह सब देहाभिमानका विलास है। इसकी जड़में यह भ्रान्ति बैठी हुई है कि मैं देह हूँ।

यदि कहो कि 'मैं देह हूँ' ऐसी वृत्ति तो हमारे मनमें कभी नहीं बनती तो उसका कारण यह है कि उसीके बच्चे-कच्चोंमें फँसे हुए हो। मैं ब्राह्मण हूँ, संन्यासी हूँ, मनुष्य हूँ, हिन्दू हूँ इत्यादि, ये सब देहाभिमानके ही विलास हैं। इसीमें सारे धर्म हैं और सारे अधर्म हैं।

अच्छा, लो चुप हो जाते हैं। ब्राह्मणपना, संन्यासीपना कुछ नहीं सोचते हैं। तो 'मैं जीव हूँ' यह सोचोगे? नहीं, क्योंकि जीवको कभी देखा नहीं है। अनदेखे जीवको क्या मानना? परन्तु मानते हैं। असलमें जीव वह है जो अपनेको पापी-पुण्यात्मा, सुखी-दुःखी, कर्ता-भोक्ता, संसारी और परिच्छिन्न माना है। अपने जीवत्वकी यह भ्रान्ति कैसे मिटे? तो कहा कि उस मनको ही सुला दो, जिसमें जीवत्वकी वृत्ति फुरफुराती है। भले उस दवासे सुलाओ या नींदसे या अभ्याससे। अथवा उसका देशमें, कालमें या वस्तुमें बन्ध कर दो। देशबन्ध धारणा है, कालबन्ध ध्यान है और वस्तुबन्ध समाधि है। अथवा चाहे मन सोये या जीवत्वमें जागे, हम तो उसके असंग साक्षी, तटस्थ द्रष्टा हैं, अतः उससे अतीत हैं।

परन्तु मनके सोनेपर क्या कुछ मिट जाता है? जिन भावोंको और पदार्थोंको सत्य और राग-द्वेषपूर्ण ( सुख-दुःखपूर्ण ) समझता हुआ मनुष्य सोता है उन भावों और पदार्थोंको वैसा ही जानता हुआ वह उठता है। अच्छा-बुरा, सुख-दुःख, राग-द्वेष, ज्ञान-अज्ञान सब ज्योंके-त्यों याद रहते हैं। अभान तो सुषुप्तिमें हो जाता है परन्तु जाग्रत्की भूल नहीं मिट सकती।

असलमें आपका जीवत्व अर्थात् पापी-पुण्यात्मापना, सुखी-दुःखी-पना, संसारित्व ( आवागमन एवं पुनर्जन्म ) और परिच्छिन्नत्व यह एक जाग्रत्कालीन भ्रम है। यह तबतक नहीं मिटेगा जबतक जाग्रत् अवस्थामें ही, वृत्तिके रहते-रहते ही, अपने आपको अविद्या, काम और कर्म तथा उनके करणोंसे अलिप्त सर्वाधिष्ठान, सर्वावभासक अद्वितीय ब्रह्म नहीं जान लेते और यह जानना स्वबुद्धिसे नहीं औपनिषद प्रणालीसे होना चाहिए।

सुषुप्ति-समाधिमें द्वैत नहीं भासता, यह ठीक है, परन्तु जाग्रत् अवस्थामें आपको द्वैत-भ्रान्ति है या नहीं, यह प्रश्न है।

अच्छा जी, लो हम जीव ही नहीं मानते! आपको क्या मिल गया जी, जो आप जीव नहीं मानते हैं? रज्जु मिल जायेगी तब न सर्प-भ्रान्ति छूटेगी! जाग्रत् हो जायेगी तब न स्वप्नकी मान्यता छूटेगी! जबतक तुम अपनेको अपरिच्छिन्न अद्वय ब्रह्म नहीं जान लेते तबतक अपने जीवत्वसे आप मुक्त नहीं सकते। श्री शंकराचार्य भगवान्का यह कहना है कि सच्ची वस्तुका ज्ञान हुए बिना उसीमें प्रतीयमान झूठी वस्तुका भ्रम निवृत्त नहीं हो सकता।

जाग्रत्के पदार्थ और जाग्रदभिमानी (विश्व) अलग-अलग हैं; स्वप्नके पदार्थ और स्वप्नाभिमानी तैजस अलग-अलग हैं; सुषुप्तिके अभिमानी प्राज्ञ अलग-अलग हैं। परन्तु यह जो शुद्ध चेतन है जिसको कि **तुरीयं त्रिषु सन्ततम्** (भाग० ११. २५. २०) कहा गया है (जो विश्व, तैजस, प्राज्ञ, इन तीनोंसे निरपेक्ष होनेके कारण चौथा है और जो इन तीनोंका अधिष्ठान है) वह शुद्ध चेतन अपरिच्छिन्न अद्वितीय ब्रह्म है और वही तुम हो—यह बात वेदान्त समाधिमें नहीं समझाता, बल्कि जाग्रत्में जहाँ गुरु-शिष्य भाव है, आदेश-उपदेश भाव है, वहाँ समझाता है। और एक बार जाग्रत्में भ्रम निवृत्त होनेके पश्चात् फिर द्वैत-भ्रान्ति कभी कहीं किसी अवस्थामें नहीं होती है।

कहीं कुछ आदमी इकट्ठे थे। एकाएक सबने देखा कि एक शेर उनपर झपटा। उनमें-से एक उसपर ढेले फेंकना लगा कि वह भाग जाय, पर वह तो भागा नहीं। दूसरेने भगवान्को पुकारना शुरू किया और लगा माला जपने: 'हे भगवान्, यह शेर भाग जाय!' तीसरेने कहा: 'नहीं नहीं, इसको मारो मत, इससे डरो मत, यह तो परमेश्वर है, शेर नहीं है।' चौथेने कहा: 'अरे शेर तू मुझे क्या खायेगा, मैं तो अविनाशी जीव हूँ।' पाँचवाँ भागकर

गुफामें बैठ गया : 'ले मैं तो समाधिस्थ हूँ, खाना हो तो खाले।' वहाँ एक बहादुर आदमी भी था। वह जाकर उससे भिड़ गया। लगा उसका सिर पत्थरसे पीटने और सीताराम !

एक बुद्धिमान् व्यक्तिने कहा : 'ठहरो भाई, जरा परीक्षा कर लेने दो। यहाँ इस जनपदमें और शेर ! न यह शेरके रहनेकी जगह है और न तो यहाँ शेर होना सम्भव है। कहीं यह भूलसे ही तो शेर मालूम नहीं पड़ रहा है ? शेरके वेशमें कोई चोर तो नहीं है ? जरा जाँच तो करो। सबने जाँचकी तो एक साथ सब बोल उठे : 'अरे यह तो शेरकी पत्थरसे बनी मूर्ति है ! यह तो नकली शेर है। अब जान गये, तो जैसी मौज हो सो करो। चाहे उसे ढेला मारो ( कर्म करो ) या परमेश्वर मानो ( उपासना करो ); उससे अपनेको असंग मानो ( सांख्य-विवेक करो ) या उससे आँख मूँदकर बैठो ( समाधि लगाओ ) शेरके खा लेनेका डर तो निकल ही गया।

जो ब्रह्मवित् होता है वह निर्भय हो जाता है : **अभयं ब्रह्म।**

ब्रह्मको जानकर धीर पुरुष हर्ष और शोक दोनोंको त्याग देता है : **मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति** ( क० १. २. १२ )

अपनी आत्माके अद्वितीयत्वको देखनेवालेको फिर शोक कहाँ, मोह कहाँ ?

**तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।** ( ईशावास्य ७ )।

**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।** ज्ञानसे मुक्ति होती है, इसका अर्थ ही यह है कि ज्ञानके द्वारा निवर्त्य जो अज्ञान है वही बन्धनका हेतु है और अज्ञान-निवर्तक जो ज्ञान है वही मोक्षका हेतु है। आत्मामें न बन्धन है, न मोक्ष। अपने स्वरूपमें न कर्तापन है, न भोक्तापन

( तब मैं पापी-पुण्यात्मा, सुखी-दुःखी कैसे हो सकता हूँ! ), न लोक है, न परलोक. न आना है. न जाना है। वह तो अखण्ड तत्त्व चिन्मात्र है। इसको जाने बिना, यदि तुम कहते हो कि मैं जीव नहीं हूँ तो तुम गलत रास्तेपर हो।

'यदि तुम जीव नहीं हो तो फिर क्या हो ?'

'नहीं मालूम। परन्तु मैं द्रष्टा हूँ, साक्षी हूँ, सच्चिदानन्द हूँ।'

'तुमको यह मालूम है कि तुम्हारे सिवाय कुछ नहीं है ?'

'नहीं मालूम।'

'तुम हजारो, लाखों, करोड़ों जो द्रष्टा हैं उनके बारेमें जानते हो ?'

'नहीं जानते।'

'तुम अगणित वस्तुओंके उपादानके बारेमें जानते हो।'

'नहीं।'

तुम सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके बारेमें जानते हो ?'

'नहीं।'

'तुम ईश्वरके बारेमें जानते तो ?'

'नहीं।'

'ठीक है। यह 'नहीं मालूम' का नाम ही अज्ञान है। और यह अज्ञान तुम्हें है। इसलिए तुम अज्ञानी हो। तुम जीव न सही, परन्तु तुम अज्ञानी तो हो ही।'

मैं अज्ञ हूँ या नहीं, यह दिल ठोंककर देख लो। 'अहम् अज्ञः'

ऐसी जो वृत्ति है इसकी अन्यथानुपपत्तिसे ही अज्ञानकी सिद्धि होती है। अर्थात् यदि अज्ञान न होता तो तुम कभी अपनेको अज्ञानी मानते ही नहीं। अज्ञान हैं, इसीलिए तुम अपनेको अज्ञानी मानते हो।

असलमें ब्राह्मणपन मिटानेकी जरूरत नहीं है और न संन्यासी-पना मिटानेकी जरूरत है; न हिन्दूपना मिटानेकी जरूरत है और न मनुष्यपना मिटानेकी जरूरत है। केवल जो तुम परमार्थ सत्यको नहीं जानते हो, उस अज्ञानको मिटानेकी जरूरत है। और अज्ञान मिटेगा ज्ञानसे; वह न कर्मसे मिटेगा, न उपासनासे; न सांख्यसे मिटेगा, न योगसे।

अज्ञान किसका है? ब्रह्मका, सजातीय-विजातीय स्वगत-भेद रहित ब्रह्मतत्त्वका। वह ब्रह्मतत्त्व देशका अधिष्ठान होनेसे अदेश है, कालका अधिष्ठान होनेसे अकाल है और द्रव्यका अधिष्ठान होनेसे अद्रव्य है। चेतन होनेसे वह प्रत्यगात्मासे एक है। उसी ब्रह्मको समझानेके लिए 'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्र कहा गया अर्थात् ब्रह्म केवल शास्त्रैक गम्य है यह बताया गया। इसपर पूर्वपक्षका जो आक्षेप था कि शास्त्रसे नहीं जाना जाता यह आपको सुनाया। इस आक्षेपका उपसंहार वाक्य है—

**तस्मात् न ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वम्**

( इसलिए ब्रह्म शास्त्र द्वारा नहीं जाना जाता )।

**इति प्राप्ते उच्यते :–तत्तु समन्वयात्।**

ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं कि शास्त्रवाक्योंका समन्वय ब्रह्मके स्वरूपावगममें होता है, इसलिए शास्त्र ब्रह्ममें प्रमाण है। यहींसे समन्वयाधिकरण प्रारम्भ होता है।

## ( ४. ४. )

# समन्वय सूत्र : साधनोंका समन्वय

### तत्तु समन्वयात् ( १. १. ४ )

**मूलभाष्य :**

तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः। तद् ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वशक्तिजगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणं वेदान्तशास्त्रादेवावगम्यते। कथम्? समन्वयात्। ( क्रमशः )

भाष्यार्थ :—तु शब्द पूर्वपक्षके निराकरणके लिए है। तत् अर्थात् ब्रह्म जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयका कारण है वह वेदान्तशास्त्रसे ही अवगत होता है। कैसे ? समन्वयात् अर्थात् समन्वयसे।

यदि धर्मसे ही ( अर्थात् यज्ञ-यागादि कर्मसे ही ) ब्रह्मावगति ( ब्रह्मसाक्षात्कार ) हो जाता तो अलगसे वेदान्तशास्त्रकी जरूरत

नहीं रहती। यदि धर्मशास्त्रसे ही धर्मका अनुष्ठान करते-करते पापकी निवृत्ति हो जाय और अन्तःकरण धर्मजन्य सुखका आकार हो जाय—मनमें सुख ही सुख, सुख हो सुख, तो फिर धर्म करके ही ब्रह्मको पालो, वेदान्तकी जरूरत नहीं है।

हमारे प्रत्येक शास्त्रके निरूपणकी एक शैली है, एक पद्धति है, उसको जानो। प्रत्येक शास्त्रकी एक अपूर्वता होती है। वह एक ऐसी चीज बताता है जो उस शास्त्रके अतिरिक्त किसी दूसरे ढंगसे नहीं मालूम पड़ती है। वेदान्त जिस ब्रह्मका निरूपण करता है वह—

**अन्यत्रधर्मात् अन्यत्राधर्मात् अन्यत्रास्मात् कृताकृतात् अन्यत्रभूताच्च भव्याच्च** ( कठ० १.२.१४ )

धर्मसे भी अलग है, अधर्मसे भी अलग है; कार्य-कारणसे भी अलग है और प्रत्यक्षभूत संसार जो दिख रहा है उससे भी अलग है; जो संसार कभी उत्पन्न होगा उससे भी ब्रह्म अलग है। यही नहीं वह ब्रह्म विदितसे भी परे है और अविदितसे भी परे है :

**अन्यदेव तद्विदिताद् अथो अविदितादधि** ( केन० १.४ )

ऐसी ब्रह्मवस्तुका ज्ञान करानेके लिए वेदान्तशास्त्रकी प्रवृत्ति हुई है।

आक्षेपिकी संगतिमें आपने पढ़ा कि पूर्वपक्ष ( कर्मकाण्डी पूर्वमीमांसक ) ने वेदान्तपर यह आक्षेप किया कि 'जन्माद्यस्य यतः' से जिस ब्रह्मका वर्णन किया उसके साधनके रूपमें जिस वेदान्त शास्त्रका वर्णन 'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्रमें किया वह असंगत है। क्योंकि वेदान्त-वाक्य भी अन्य वेद-वाक्योंकी तरह या तो कर्मके अंग होने चाहिए या प्रकान्तरसे देवता और कर्ताके स्वरूप-प्रतिपादक होने चाहिए ( वह भी उपासनादि कर्मका अंग हो जाता है )। यों भी यदि इस बातको न माना जाय तो

ब्रह्म हेयोपादेयरहित चीज है। उसके प्रतिपादनमें शास्त्रका कौन-सा पुरुषार्थ सिद्ध होता है।

तो 'तत्तु समन्वयात्' सूत्रमें जो 'तु' शब्द है वह इस आक्षेप-की निवृत्तिके लिए है। अर्थात् ग्रन्थकार यह कहना चाहते हैं कि 'नहीं, तुम्हारा आक्षेप अनुचित है। ब्रह्मावगति वेदान्त शास्त्रके द्वारा ही होती है क्योंकि सब साधन, सब वेदवाक्य और सब स्थितियाँ और अवस्थाएँ तात्पर्यसे ब्रह्मावगतिमें ही समन्वित होती हैं।'

सांख्यने कहा कि तत्त्व-ज्ञान विवेकख्यातिसे प्राप्त हो जाता है। योगने कहा कि विवेकख्यातिके लिए वृत्तिनिरोध आवश्यक है। सांख्य और योग दोनों विवेकख्यातिसे आत्मज्ञान होना मानते हैं। बस अन्तर केवल इतना ही है कि जब योग वृत्तिनिरोधको आवश्यक साधन मानता है, सांख्य सत्त्वाधिक्यसे ही विवेक-ख्यातिकी निष्पत्ति स्वीकार करता है।

सांख्य और योगमें प्रकृति और प्राकृतको सत्य माना जाता है और आत्माको प्रकृति और प्राकृतसे, दृश्यादृश्यसे विलक्षण माना जाता है। दृश्य और अदृश्य जो कुछ भी कार्य-कारण है उस सबका द्रष्टा आत्मा ही है। अब प्रकृति है त्रिगुणमयी—सत्-रजः-तमः-गुणोंवाली। पुरुषकी जबतक व्यवहार-दशा रहती है है तबतक सत्त्वगुण रजः और तमःसे मिला रहता है। जाग्रत् और स्वप्न दोनोंमें वृत्ति-सारूप्य हो जाता है अर्थात् द्रष्टा दृश्यसे मिल जाता है। इसलिए व्यवहार-दशामें विवेक नहीं होता है। प्रलयकालमें भी तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि उस समय सत्त्व, रजः और तमः तीनों मिलकर एक हो जाते हैं ( और ज्ञान तो सत्त्वगुणमें होता है )। इसलिए एक ऐसी सत्त्वगुणात्मक अवस्था उत्पन्न करनी चाहिए जिसमें सत्त्व ही सत्त्व रहे और उसमें ऐसे

विवेकका उदय हो जाय कि 'मैं पुरुष हूँ और यह प्रकृति है। तथा मैं इस प्रकृति और प्राकृतका असंग द्रष्टा हूँ'। यह बात चित्त-वृत्तिके निरोधकालमें हो जाती है जहाँ प्रकृति और पुरुषका अलगाव होकरके द्रष्टाकी अपने स्वरूपमें अवस्थिति हो जाती है।

परन्तु वेदान्त सांख्य और योग दोनोंसे विलक्षण, कर्म और उपासना दोनोंसे विलक्षण, वस्तुका प्रतिपादन करता है। धर्मानुष्ठानसे साध्य सुखकी प्राप्ति होगी; इतना सुख मिलेगा कि तुम सुखमें डूब जाओगे। अभ्याससे भी तन्मयतारूप अथवा समाधिरूप साध्य-सुखकी ही प्राप्ति होगी। सांख्य और योगसे विवेकख्याति ( चिदचिद्-विवेक ) निष्पन्न होनेपर आप यह जान जायेंगे कि 'मैं असंग, उदासीन, कूटस्थ, द्रष्टा, साक्षी, चिन्मात्र, चेतन हूँ, जड़ नहीं हूँ।' परन्तु वेदान्त आपको बताता है कि सच्चिदानन्द अद्वय परमात्मामें, यह यावत् देश, यावत् काल, यावत् वस्तुरूप प्रपञ्च जो भास रहा है, वह अविनाशी, अद्वय, अखण्ड, चेतन परमात्मामें परमात्मासे अतिरिक्त सत् या असत् कुछ भी नहीं है ( माने प्रपञ्च ब्रह्ममें अनिर्वचनीय है, मिथ्या है )। यह व्यवहार-कालमें भी मिथ्या है और स्वप्न सुषुप्तिमें भी मिथ्या है। यदि आत्माके ब्रह्मस्वरूपका विचार जाग्रत् अवस्थामें उदय हो जाय तो जो द्वैतकी और भेदकी भ्रान्ति है, वह मिटायी जा सकती है।

वेदान्तका श्रवण करो तो यह बोध हो जायेगा कि प्रपञ्च और उसका कारण मुझ अखण्ड ब्रह्ममें कोई अन्य तत्त्व नहीं है, वह अपना आत्मा ही है। अपनी आत्मामें जो स्वरूपसे देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न सजातीय, विजातीय, स्वगत-भेद शून्य ब्रह्म है, यह जो दृश्यमान प्रपञ्च है वह अपने अभावके अधिकरणमें प्रतीत होनेके कारण, सत्यमें कल्पित होनेके कारण, चित्में

प्रतीतिमात्र होनेके कारण, आनन्दमें आभास होनेके कारण, अद्वयमें असत्तावान् होनेके कारण, मिथ्या है। यह बोध जाग्रत् अवस्थामें तो वेदान्त-श्रवणसे हो ही सकता है, स्वप्नमें भी यदि कोई गुरु, शास्त्र मिल जायँ और जाग्रत्का सुना हुआ विवेक स्वप्नमें जाग्रत् हो जाय तो भी अपनी आत्माकी ब्रह्मरूपताका बोध हो सकता है।

वेदान्तमें श्रवण मुख्य है। मनन और निदिध्यासन तो संशय और विपर्ययके नाशके लिए हैं। विवरणकारका मत है कि श्रवणसे ही अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है। भामतीकारका मत है कि श्रवण, फिर श्रवणानुसारी युक्तिपूर्वक मनन और तदनन्तर श्रुत तथा मत अर्थमें वृत्तिका प्रवाह अर्थात् निदिध्यासन—इन तीनोंसे मिलकर ही अज्ञानकी निवृत्ति होती है। वस्तुतः दोनोंमें कोई भेद नहीं है क्योंकि निदिध्यासनके मूलमें भी श्रवण ही है। अधिकारी भेदसे दोनोंकी संगति है।

जो सत्य वस्तु है वह ज्ञानस्वरूप अनन्त ब्रह्म है। और वृत्तिका प्रवाह व्यावहारिक है। अतः निदिध्यासन जो होगा वह जाग्रत् अवस्थामें होगा और निदिध्यासनका अर्थ होगा : ब्रह्माकार वृत्तिका प्रवाह। यह वृत्ति निरोधरूप नहीं होगा। जहाँ सांख्य और योगका कहना है कि शुद्ध विवेक जाग्रत् और स्वप्नमें उदय नहीं हो सकता ( क्योंकि इनमें सत्त्वगुण रजः और तमःसे अभिभूत रहता है) वहाँ वेदान्तका कहना है कि क्योंकि मिथ्यात्वेन सभी अवस्थाएँ एक हैं, अतः जाग्रत् अवस्थामें ही विवेकका उदय हो सकता है।

इसलिए वेदान्त एक व्यावहारिक प्रक्रियासे ब्रह्म-साक्षात्कारका मार्ग प्रशस्त करता है। दुनियाके योगी लोग डर जायँ वेदान्तकी इस बातको सुनकर कि चाहे तीर्थमें मरो या चाण्डालके घरमें, होश-हवाशमें मरो या पागल होकर; उत्तरायण कालमें मरो या

दक्षिणायनमें, जिसके अन्तःकरणमें वृत्तिज्ञानका उदय होकरके अज्ञानका नाश हो गया है उसके लिए इनमें कोई भेद नहीं रहता। फिर वह चाहे स्त्री हो या पुरुष, ब्राह्मण हो चाण्डाल, इससे कोई मतलब नहीं। यहो नहीं पशु-पक्षीके अन्तःकरणमें भी यदि किसी प्रकार ब्रह्मज्ञानका उदय हो जाय तो वहाँ भी अज्ञानकी निवृत्ति हो जायेगी और जीव-ग्रन्थिका छेदन होकरके मुक्त हो जायेगा, भले वह श्वेताश्वतर हो या तीतर, मण्डूक हो या काकभुशुण्डि।

आपने भगवान् शंकराचार्यकी यह कथा सुनी होगी। श्रीशंकराचार्यजी काशी जा रहे थे। मार्गमें उन्हें चाण्डालके वेशमें भगवान् शंकर और माँ पार्वतीजी दिखाई दीं। आचार्यने कहा : 'ऐ! एक तरफ हटो!' चाण्डाल वेशधारी शंकरने पूछा : 'द्विजवर, आप किसको दूर हटाना चाहते हैं—अन्नमयको अन्नमयसे या चेतनको चेतनसे? क्या गंगामें पड़ा हुआ सूर्यका प्रतिबिम्ब चाण्डालकी झोपड़ीके पास बहते हुए नालेमें पड़ रहे प्रतिबिम्बसे भिन्न है? क्या स्वर्णघटसे अवच्छिन्न आकाश और मृद्घटसे अवच्छिन्न आकाशमें कोई अन्तर है? यह क्या महान् अज्ञान है कि इस अभेद-स्वरूप सच्चिदानन्द आत्मसमुद्रमें कोई किसीको ब्राह्मण देखे और किसीको चाण्डाल?'

इसपर आचार्य शंकरने मनीषा-पञ्चक नामक स्तोत्रकी रचना करके भगवान् शंकरके सम्मुख अपनी तत्त्वज्ञानीके सम्बन्धमें यह निष्ठा व्यक्त की कि उसमें ब्राह्मण और चाण्डालका भेद नहीं :

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु स्फुटतरा या संविदुज्जृम्भते।
या ब्रह्मादिपिपीलिकान्ततनुषु प्रोता जगत्साक्षिणी॥
सैवाहं न च दृश्यवस्त्विति दृढप्रज्ञास्ति यस्यापि चेत्।
चाण्डालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु गुरुरित्येषा मनीषा मम॥

(श्लोक-५)

'जो चेतन जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिमें स्पष्ट अनुभवमें आता हैं; जो चेतन ब्रह्मासे लेकर चींटीपर्यन्त सब शरीरोंमें साक्षी रूपसे ओत-प्रोत है; वही मैं हूँ; मैं कोई अन्य दृश्य पदार्थ नहीं हूँ। जिस किसीमें भी इस प्रकारकी दृढ़ प्रज्ञा हो वह चाहे द्विज हो या चाण्डाल मेरा गुरु है। इस विषयमें ऐसी ही मेरी मनीषा है।'

इस श्लोकसे यह बात तो स्पष्ट माननी ही पड़ेगी कि श्री शंकराचार्य भगवान्के मनमें यह तो कोई असम्भावना थी ही नहीं कि चाण्डालको ज्ञान नहीं हो सकता। हम ज्ञानीको गुरु मानते हैं, शरीरको नहीं।

यह तत्त्वज्ञान जो है वह व्यवहार दशामें ही होता है और व्यवहार दशामें समाधि और विक्षेपको, इष्ट और अनिष्टको, धर्म और अधर्मको, दृश्य और द्रष्टाको, भेदमात्रको भंग करके होता है। इसलिए जहाँ समाधि और वृत्तिनिरोध अथवा वृत्तिकी तदाकारता व्यवहारके विरोधी हैं वहाँ तत्त्वज्ञान समाधि और व्यवहारमें समत्वकी स्थापना करनेवाला है। तत्त्वज्ञान न प्रवृत्तिका पक्षपाती है और न निवृत्तिका; वह तो प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनोंका उपमर्दन करनेवाला है।

वेदान्त धर्म, उपासना, योग और सांख्यका निषेध नहीं करता है, बल्कि उनका समन्वय ब्रह्मज्ञानमें करता है। वेदमें इन सभीका वर्णन है इसलिए वेदान्तके तो ये सब भाई-बन्धु हैं। वेदान्त उनका खण्डन क्यों करने लगा? यह समन्वय कैसा है, इसका एक उदाहरण है:

दो भाई एक ही माँ-बापसे पैदा हुए। अब दोनों तो राजा हो नहीं सकते। एक राजा होगा (बड़ा राजा हो या योग्य राजा हो यह दूसरी बात है) और दूसरा भाई उसका मददगार होगा। अब वह मन्त्री भी हो सकता है, सेनापति भी हो सकता है,

धर्माध्यक्ष भी हो सकता है और न्यायाध्यक्ष भी हो सकता है। अर्थात् एक भाई दूसरे भाईसे समन्वित होकर ही राज्य-शासन चलानेमें सफल होता है।

इसी प्रकार वेदमें जो धर्म, उपासना, योग और सांख्यका वर्णन है वे सब तत्त्वज्ञान ( वेदान्त ) में मददगार हैं, सहायक हैं। इनका क्रम-समुच्चय है, सम-समुच्चय नहीं है। इसी क्रम-समन्वयको समझनेके लिए 'तत्तु समन्वयात्' सूत्र है।

इसका अर्थ है कि श्रुति चाहे धर्मका प्रतिपादन कर रही हो या उपासनाका, चाहे योगका प्रतिपादन कर रही हो या सांख्य-निष्ठाका, चाहे वह यजमान ( कर्ता ) का प्रतिपादन कर रही हो या देवताका—उन सबका समन्वय ( अन्ततः पर्यवसान ) आत्मा और ब्रह्मकी एकतामें ही है अन्यमें नहीं है। सबकी अनुगति अनुगमन आत्मा और ब्रह्मके एकत्व बोधके लिए ही है, अन्यथा नहीं है।

कर्ता आत्माका प्रतिपादन इसलिए है कि तुम आत्माको देहसे न्यारा समझो और धर्माचरणके द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि करो और आत्माके देहसे न्यारेपनको पुष्ट करो। अन्ततः विवेक जाग्रत होनेपर कर्ताको ही 'त्वं' पदार्थके रूपमें अनुभव किया जा सकेगा। न्याय-वैशेषिक आत्माको कर्ता मानते हैं।

उपासनाका प्रतिपादन क्यों है ? इसलिए कि इसके द्वारा तुम अपने चित्तको राग और द्वेषसे मुक्त कर सको और 'तत्' पदार्थका शोधन कर सको, अर्थात् जगत्कारण ईश्वरका अनुसन्धान कर लो।

योगका प्रतिपादन क्यों हैं ? इसलिए कि चित्तके विक्षेप-दोषकी निवृत्ति हो सके और वृत्ति-निरोधपूर्वक आत्माकी असंगता, कूटस्थता एवं साक्षिताका अनुभव हो सके। इसके अतिरिक्त आत्मा शरीरसे पृथक्, प्रकृति-प्रकृतिसे पृथक् चेतन

वस्तु है इसका अनुभव समाधि दशामें योगदर्शनके मतसे तथा सत्त्वमय वैचारिक अवस्थामें सांख्यमतसे हो जाता है। न्याय-वैशेषिक मतमें जो अत्मा कर्ता था वह योग और सांख्यमतमें द्रष्टा साक्षी हो गया। अन्ततः सांख्य और योगका पर्यवसान भी 'त्वं'—पदार्थके शोधनमें ही है।

वेदान्त 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंके द्वारा इन परिशोधित 'तत्' और 'त्वम्' पदार्थोंकी मूलभूत एकताका प्रतिपादन करता है। इस प्रकार सारे साधनों और सारे दर्शन-शास्त्रोंका समन्वय आत्मा ( त्वं-पदार्थ ) और ब्रह्म ( तत्-पदार्थ ) की एकतामें ही है।

'अन्वय' शब्दका अर्थ है अनुगति। अर्थात् सब सिद्धान्त वेदान्तके पीछे-पीछे चलते हैं। अन्वय शब्दकी व्युत्पत्ति है :

**अन्वयनम् अन्वयः। अन्वेति इति अन्वयः॥ अन्वयते इति अन्वयः॥**

'अय गतौ' धातुसे भी अन्वय शब्द बनेगा और 'इण् गतौ' धातुसे भी अन्वय शब्द बनेगा। 'अनु' उपसर्ग है और :

**ऐति इति अयः ( अथवा ) अयति इति अयः। अन्वयनं अन्वयः। अयनं गमनं अनुगमनम्।**

इसलिए अन्वय शब्दका अर्थ है अनुगमन, पीछे-पीछे चलना। आचार्यने कहा :

**तात्पर्येणैतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वेन समनुगतानि।** ( भाष्य )

इन सबका तात्पर्य एक ही जगह है अर्थात् ब्रह्मात्मैक्य-बोधमें है।

अब अन्वयमें जो सम्यक्ता है, उसपर विचार करते हैं।

समन्वय = सम् + अन्वय = सम्यक्, भलीभाँति अनुगमन। तात्पर्यसे अच्छी प्रकार पीछे चलते हैं। कोई-कोई तात्पर्यका अर्थ षड्लिंगके द्वारा मानते हैं। तात्पर्य अर्थात् तत्परत्व अर्थात् मतलब। सम्यक्ता क्या है कि :

इतरवैलक्ष्येण प्रतिपादकत्वं सम्यक्त्वम्।

इतरसे विलक्षण प्रतिपादन होना सम्यक्ता है। धर्मसे ब्रह्मज्ञानमें क्या विलक्षणता है, योगसे, उपासनासे ब्रह्मज्ञानमें क्या विलक्षणता है, उपासनाके आश्रयसे और उपासनाके विषयसे ब्रह्ममें क्या विलक्षणता है; कूटस्थ असंग-साक्षीकी अपेक्षा ब्रह्ममें क्या विलक्षणता है—यह विलक्षणता जो है अर्थात् धर्म, उपासना योग-सांख्यकी वस्तुके स्वरूपके बोधके लक्षणोंसे जो विपरीत लक्षण हैं उनका प्रतिपादन सम्यक्तामें होता है। विलक्षण = विपरीत लक्षण, विचित्र लक्षण, विविध लक्षण।

चार-छह दिन पहिले हम एकके घर गये। वे लोग देश-विदेश घूमनेवाले लोग थे। तो गृहपतिने हमसे पूछा : "स्वामीजी, जब हम बच्चोंसे मना करते हैं कि एकादशीको मांस मत खाओ, सोमवारको मांस मत खाओ, तो बच्चे कहते हैं कि एकादशी सोमवारका नाम लेकर हमको खानेसे क्यों रोकते हो? जैसे और दिन वैसे ही एकादशी सोमवार! अब हम उन्हें कैसे समझावें?"

अब आप धर्मको देखो। मैंने उनको यह बात सुनायी कि यह मन जो है वह रागसे, द्वेषसे, तृष्णासे दुनियामें बह रहा है। हमारा मन अपनी प्रियताके अनुसार चल रहा है। जो अच्छा लगा सो कर लिया, जो अच्छा लगा सो बोल दिया, जो अच्छा लगा सो उठा लिया। यदि हमारे अन्दर इस मनको रोकनेकी ताकत नहीं रह जायेगी तो वही परिणाम होगा जो बिना ब्रेककी गाड़ी चलानेवालोंका होता है अर्थात् पतनके गर्तमें गिरना; अथवा वह परिणाम होगा जो सिर चढ़े नौकरको रखनेसे होता है अर्थात् पराधीनता। धर्मका मतलब है कि हम अपने कर्ममें, भोगमें, अपने संग्रहमें रोक लगावें। यदि हम यह रोक लगानेमें असमर्थ हैं तो

हममें और एक पशुमें अथवा हममें और एक बालकमें या एक पागलमें अन्तर ही क्या रहा ?

धर्म कैसे-कैसे रोक लगाता है ! कहीं वस्तुपर रोक लगाता है : यह खाओ, यह मत खाओ; यह छूओ, यह मत छूओ। कहीं देशके आधारपर रोक लगाता है : मन्दिरमें यह काम मत करो; तीर्थमें यह काम मत करो, यह करो। कहीं कालके आधारपर रोक लगाता है : सोमवारको यह काम मत करो; एकादशीको यह काम मत करो।

रोक निराधार नहीं लगायी जा सकती। यदि निराधार रोक लगायी जायेगी तो समयपर वह टूट जायेगी, क्योंकि उसका आधार तो तुम्हारा मन है केवल। मन बदलनेपर मनके द्वारा लगायी हुई रोक भी काम नहीं देगी। इसीलिए रोकमें शासन चाहिए, संविधानोक्त शासन, शास्त्रोक्त शासन।

कहीं वर्णके आधारपर रोक लगाते हैं : 'ब्राह्मणको ऐसा नहीं करना चाहिए।' कहीं आश्रय और सम्प्रदायके आधापर जैसे कि 'संन्यासीको ऐसा नहीं करना चाहिए।' कहीं जातिके आधार पर रोक लगाते हैं : 'मनुष्यको ऐसा नहीं करना चाहिए'। इसी प्रकार निषेधके विविध आधार हैं। अपने मनको साधार सालम्बन ही रोका जा सकता है, निराधार नहीं रोका जा सकता।

अब कहो कि हम तो मनको रोकेंगे ही नहीं। तो ठीक है आप मत रोकिये। आप शायद न रोककर भी मनको रोक लें क्योंकि आप लोग तो अब ५०-६० बरसके हो गये परन्तु आप अपने बच्चोंको यह शिक्षा मत दे देना। मनोविज्ञानके नामपर आप अपनी अगली पीढ़ीको मत बिगाड़ देना। उनको समुचित संयम, सदाचार, शिष्टाचारका ज्ञान होना ही चाहिए।

लोग कहते हैं कि वासनाओंको रोकेंगे तो पागल हो जानेका भय है। इसलिए रोकना ठीक नहीं। परन्तु धर्म सब वासनाओंको कहाँ रोकता है? वह तो कहता है कि सब औरतों (पुरुषों) को गन्दी निगाहसे मत देखो, एकके साथ व्याह कर लो! तुम्हारी कामवासनाको बह जानेका एक रास्ता धर्मने निकाला, उसने तुम्हारी वासनाओंको उन्मुक्त—उच्छृङ्खल भी नहीं छोड़ा, उन्हें नियन्त्रित भी कर दिया और उन्हें किसी सीमातक तृप्त भी कर दिया।

जैसे आप मकानमें गन्दा पानी बह जानेके लिए पनाला या नाली बनाते हैं (और वह मकानमें नितान्त आवश्यक भी है) तो ऐसे ही धर्म भी जीवनमें वासनाओंके बहनेके लिए नाली निकालता है। गाली देनेकी इच्छा मनुष्यमें है तो होलीपर गालीकी छूट है, ससुरालकी प्रिय है, साले-बहनोईके बीच गाली भी प्रेमकी प्रतीक है। अच्छा, बिना कुछ व्यापार किये, बिना कुछ नौकरी किये, बिना रकम लगाये धन प्राप्त करनेकी इच्छा मनुष्यके मनमें कभी-कभी होती ही है।

धर्म इस इच्छाके बह जानेके लिए भी नाली बताता है: दिवालीपर रातको मर्यादित जुआ खेलो! इस द्यूतक्रीड़ामें केवल यही नहीं कि आपकी मुफ्तमें धन कमानेकी वासना पूरी होती है, बल्कि एक रहस्य भी है। आप जानते हैं दिवालीपर लक्ष्मीपूजन होता है। उस रातको जागरणका अत्यन्त महत्त्व है और उसमें लक्ष्मीजीके ध्यानका भी महत्त्व है। अब सारीरात कोई लक्ष्मीजीका ध्यान करता हुआ नहीं जाग सकता तो इस द्यूतक्रीड़ाके माध्यमसे जागरण तो हो ही जाता है; सारीरात धनके आने-जानेमें ध्यान केन्द्रित रहता है और इस प्रकार प्रकारान्तरने धनकी स्वामिनी लक्ष्मीका ध्यान बना रहता है।

आप यह मत कहना कि धर्ममें तो बड़ी गन्दगी है जो गाली और जूआ-जैसी चीजको भी धर्म मानते हैं! यह धर्मशास्त्रकी गन्दगी नहीं है, यह तो तुम्हारे मनकी जो गन्दगी है उसीकी सफाई है।

मैं १९ सालकी उम्रतक शरीरमें साबुन नहीं लगाता था। जब संन्यासियोंमें आया तो देखा सब संन्यासी साबुन लगाते थे। मैंने सोचा : जब संन्यासी भी साबुन लगाते हैं तो मैं तो गृहस्थ हूँ। मैं भी लगा लूँ तो क्या आपत्ति है? हाँ जी, मैंने साबुन लगाया। जब शरीरपर पानी डाला तो मैला-मैला पानी बहने लगा। अब यह गन्दगी क्या साबुनकी थी? वह तो जो शरीरपर ही गन्दगी थी उसीको साबुनने अलग करके बहा दिया। इसी प्रकार धर्ममें गन्दगी नहीं है, मनमें ही जो गन्दगी भरी है उसीको धर्म बहाता है।

तो धर्म क्या है? जो बेतहाशा, बेरोक-टोक, बेधड़क, बाहरकी ओर मन भागा जा रहा है, उसका मुख भीतरकी ओर (आत्माकी ओर) करनेके लिए जो उसपर रोक लगाना है वह धर्म है। इस प्रकार धर्मका आत्मज्ञानके साथ समन्वय है।

धर्म कम-से-कम पचास प्रतिशत अधर्म वासना-निवृत्त करता है और पचास प्रतिशत धर्म-वासना रखता है। अब कहो कि हम तो यह पचास प्रतिशत धर्म-वासना भी नहीं रखना चाहते हैं, तो ठीक है। अपने इष्टदेवकी वासना मनमें आने दो। जो 'सर्वगंध, सर्वरस, सर्वकर्मा परमेश्वर है, जो इस सम्पूर्ण सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करता है, जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् है, उसकी ओर अपनी चित्तवृत्ति प्रवाहित होने दो। तुम्हारी वासनाओंका मुँह विषयोंसे हटकर अन्तःस्थ ईश्वरकी ओर हो जायेगा, जो चेतन

होनेसे आत्मासे एक है। सब वासनाएँ छूटकर केवल एक वासना शेष रह जायेगी। यह उपासनाका समन्वय है।

योगने कहा : वृत्तिको चंचल मत होने दो! अब वृत्ति हो गयी एकाग्र, वह चाहे अपने विषयमें हो या आश्रयमें। विषयमें होगी तो हो गयी तदाकारता, भक्ति या उपासना या आश्रयमें हुई तो हो गयी समाधि, जिसका फल है पुरुष-प्रकृति विवेक।

इस प्रकार अधर्म वासनाओंको निवृत्त किया धर्मने, धर्म-वासनाको निवृत्त किया उपासनाने और विक्षेपको निवृत्त किया योगने। और निवृत्त करके ये धर्म, उपासना और योग समन्वित होते हैं—अन्तःकरणकी शुद्धिमें। धर्म, उपासना और योगसे ब्रह्म उत्पन्न नहीं होता, अन्तःकरण शुद्ध होता है और शुद्ध अन्तःकरणमें ये जो वेदान्त-वाक्य हैं वे ब्रह्मात्मैक्यका बोध कराते हैं।

और ऐसा बोध कराते हैं कि सब ओर समत्व हो समत्व हो जाता है।

जो चीज बन्द आँखसे दिखे और खुली आँखसे न दिखे उसे झूठी समझना। इसी प्रकार जो चीज खुली आँखसे दिखे परन्तु बन्द आँखसे न दिखे उसे भी झूठी समझना। जो खुली आँख और बन्द आँख दोनोंसे जो देखता है तनिक उसपर दृष्टि जाने दो देखो वह क्या है? बोले वह तो 'मैं' हूँ। तो बस वेदान्त यही कहता है कि खुली आँख और बन्द आँख दोनोंमें जो प्रत्यगात्मा द्रष्टा साक्षी है ('मैं' का परिशुद्ध रूप) वह दिक्-काल-वस्तुसे अखण्डित-अपरिच्छिन्न ब्रह्म है। इसलिए तुम्हीं ब्रह्म हो। यह बात, वेदान्त कहता है कि, तुम धर्मसे, उपासनासे अथवा योग और सांख्यसे नहीं जान सकते; इसको बस, हम ही बताते हैं। माने वेदान्तसे ही यह बात गम्य है, अन्यथा नहीं। यही

विलक्षणता अन्वयकी सम्यक्ता है। धर्म, उपासना और योगसे अन्तःकरण जब शुद्ध होता है, भूमिका जब बिलकुल तैयार होती है तब वेदान्त आकर बोध कराता है। यह समन्वयका प्रकार है।

यह हमने आपको साधनोंका समन्वय सुनाया। अब आगे श्रुतिवाक्योंके अर्थोंका समन्वय सुनानेवाले हैं। वेदान्त-वचनोंका समन्वय आत्माकी ब्रह्मरूपताके प्रतिपादनमें है। इसका निरूपण करना अब आगे हम प्रारम्भ करते हैं।

हम लोग खण्डन-मण्डनसे नहीं डरते हैं। जब हम कपिल, पतञ्जलि, गौतम, कणादका खण्डन करते हैं तो आजकलके यदि कोई पण्डितम्मन्य हों तो उनका खण्डन करनेमें हमको क्या डर लगता है! दूसरेके मतके निषेध किये बिना अपने मतकी स्थापना नहीं होती है। इसलिए अद्वैत-सिद्धान्तकी स्थापनाके लिए भेदमात्रका, द्वैतमात्रका, हमको निषेध करना पड़ता है।

एक ओर आपका ध्यान खींचता हूँ। अन्तःकरणमें तो हों भेद, अर्थात् जन्म-मरण तो हो शरीरका, सुख-दुःख, पाप-पुण्य, राग-द्वेष हों अन्तःकरणमें और इसके कारण आत्मामें कोई भेद प्रतिपादन करे तो हमको यही कहना पड़ेगा कि तुम्हारी दृष्टि अभी उपाधिपर हो है। तुम देखते हो घड़ेको और भेदकी कल्पना करते हो आकाशमें! ऐसी स्थितिमें उस सिद्धान्तका खण्डन करना ही पड़ेगा जो शरीर और करणके गुणोंको निरूपाधिस्वरूप आत्मापर आरोपित करता है।

तत्त्वनिर्णयके लिए खण्डन-मण्डन किया जाता है, राग-द्वेषके कारण या राग-द्वेषके लिए नहीं। •

## ( ४. ५. )

# श्रुत्यर्थका समन्वय—१

**मूलभाष्य :**

सर्वेषु हि वेदान्तेषु वाक्यानि तात्पर्येणैतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वेन समनुगतानि । सदेव सोम्येदमग्र आसीत् । एकमेवाद्वितीयम् ।
( छान्दोग्य० ६.२.१. )

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् । ( एतरेय० १.१.१. )

तदेतद् ब्रह्म अपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम् । अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः । ( बृहद० २.५.१९. )

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात् । ( मुण्डक० २.२.११. ) इत्यादीनि ।
( क्रमशः )

**भाष्यार्थ :** सब वेदान्त वाक्य इसी अर्थमें तात्पर्यसे समन्वित हैं। जैसे सदेव सोम्य०, आत्मा वा इदमेक०, तदेतद् ब्रह्म०, ब्रह्मैवेदममृतं० इत्यादि ।

ब्रह्म-वस्तुके प्रतिपादनमें ही सबका अभिप्राय है, जैसे मनुष्य अपने कर्मके प्रयोजनका कुछ भी नाम क्यों न रखले, परन्तु उसमें दुःखकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्ति यही एक प्रयोजन होता है।

आप काम चाहे जो करें, सर्व कर्मोंका प्रयोजन एक ही है : दुःख-निवृत्ति एवं सुखप्राप्ति। इस प्रकार सम्पूर्ण कर्मोंका समन्वय उनके प्रयोजनमें है।

कोई सोचते हैं हमारे पास इतना सोना-चाँदी, हीरा-मोती मिल जायेगा तब हमारा दुःख मिटेगा और सुख मिलेगा। परन्तु अक्कल लगाके देखोगे तो मालूम पड़ेगा कि जिनके पास इतना सब कुछ है उनका भी दुःख नहीं मिटा। बड़े-बड़े राजा-रईस, महाराजा कहते हैं हमसे कि उनके पास इतना टैक्स रह गया है कि कैसे चुकायें समझमें नहीं आता। जिनके घरोंमें हीरेके ढेर हैं वे कहते हैं कि हम सुखी नहीं हैं। तो तुम 'इतना पालोगे तो सुखी हो जाओगे' यह कल्पना बिलकुल झूठी है, नासमझीमें-से आयी है।

कोई कहते हैं कि इतने भोग हमें मिल जायेंगे तो हम सुखी हो जायेंगे। हम जानते हैं कि लोग भोग कर-करके टी. बी., अस्थमा, ब्लडप्रेशरके मरीज होकर मर गये परन्तु सुखी नहीं हुए।

किसीने कहा : हमारे इतने काम-धंधे हैं, ये जब पूरे हो जायेंगे तो हम सुखी हो जायेंगे। परन्तु ये कामधन्धे कभी किसीके पूरे नहीं हुए। एकमें-से एक काम-धन्धे निकलते रहते हैं। जैसे बच्चेमें-से बच्चा निकलता है—ऐसे ही इसकी भी पीढ़ी दर पीढ़ी चलती रहती है।

किसीने कहा : हम तो प्रेम ही करेंगे तब सुखी हो जायेंगे। किसीने कहा : हम तो शान्तिसे बैठे रहेंगे तो सुखी रहेंगे। तो फिर तो पत्थर ही सबसे अधिक सुखी होगा!

कोई कहता है : हम पलंगपर सोये रहेंगे तो सुखी रहेंगे, भले शराबके नशेमें हों या दवाइयाँ खा-खाकर सोयें। परन्तु कबतक सोओगे बाबू! आखिर कभी तो व्यवहारमें आना ही पड़ेगा।

कोई आधार ऐसा मनुष्यको चाहिए जो उसको समाधिमें और विक्षेपमें, धनीपनेमें और दरिद्रतामें, कर्ममें और भोगमें, प्रेममें और

शान्तिमें, जागनेमें और सोनेमें आपको एक सरीखा ( एकरस ) आनन्दस्वरूप बनादे। तभी आपके प्रयोजन—दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति और सुखकी प्राप्ति—की पूर्ति होगी। यदि आप किसी एकांगी वस्तुमें अपने प्रयोजनकी पूर्तिकी कल्पना करते हैं तो वह बिलकुल गलत है।

'समन्वयात्'का अर्थ यह है कि अपने सब साधनोंकी गति एक ही तरफ है। इसके लिए आगे एक सूत्र आयेगा :

**गतिसामान्यात्** ( ब्रह्मसूत्र १.१.१०. )

अर्थात् सब साधनोंकी गति एक ही ओर है। जैसे नदियाँ, कोई टेढ़े रास्तेसे तो कोई सीधे रास्तेसे, सब एक समुद्रकी ओर ही बहती है :

**ऋजुकुटिलनानापथजुषां नृणामेको गम्यः** ( महिम्नः स्त्रोत्र )।

सारे साधन अन्ततः एक ही जगह पहुँचाते हैं। जो खण्डन-मण्डन है वह तो केवल अपनी निष्ठाका मुँह सत्य-ज्ञानकी ओर मोड़नेके लिए है। दरअसल उसकी कोई कीमत नहीं है।

यदि साधनकी दिशा लक्ष्यकी ओर है तो वह साधन कितना भी छोटा होनेपर ठीक है और यदि कोई साधन बहुत बड़ा तो है परन्तु लक्ष्यसे विमुख करनेवाला अथवा भटकानेवाला है तो वह साधन ठीक नहीं है। वह लक्ष्य है परमात्माकी प्राप्ति, ब्रह्मात्मैक्यकी अनुभूति।

एक आदमी धर्म करता है, भक्ति भी करता है और योग-साधना भी करता है; और उन तीनोंको करके चाहता है कि हमको बहुत-सा धन मिल जाय, बहुत-सा भोग मिल जाय या बहुत-से कल-कारखाने चलानेका मौका मिल जाय। तो धर्म, भक्ति, योग जो साधन हैं उनका मुँह संसारकी ओर है। इन साधनोंसे

वह अपने संसारका विस्तार ही चाहता है। फिर इन साधनोंका समन्वय परमात्मामें कैसे होगा? अर्थात् नहीं हो सकता। धर्म, उपासना अथवा योगका उद्देश्य संसारको बढ़ाना नहीं है, संसारको घटानेमें ही उनका तात्पर्य है। इस प्रकार मनको वशमें करके अन्तर्मुख करनेमें ही इन सब साधनोंका उपयोग होता है।

लक्ष्यका नाम आप चाहे कुछ रख लो। कृष्ण कहो या राम; ब्रह्म कहो या आत्मा; परमार्थ कहो या सत्य। वस्तु वही होनी चाहिए। मैत्रेयी उपनिषद्में ब्रह्मका नाम शून्य भी है। (२.४.) निष्प्रपंच भी उसका नाम है और चाहो तो उसका नाम अनाम ही रख लो।

**अनेकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे।**
**एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति।** (ऋग्वेद १.१६४.४६.)

उद्देश्य एक परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति ही होना चाहिए। आप देखेंगे कि धर्म आपके क्रिया-विस्तारको रोकता है, उपासना आपके वासना-विस्तारको रोकती है और योग आपकी चंचलताके विस्तारको रोकता है। सांख्य आपको पर वैराग्यमें स्थित करता है:

**तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।** (योगसूत्र १.१६.)

मनका देहमें मिल जाना चित्तकी मूढ़ दशा है; मनका चंचल हो जाना चित्तकी घोर दशा है और मनका शान्त हो जाना चित्तकी शान्त दशा है। चित्तकी मूढ़, घोर अथवा शान्त दशा कोई क्यों न हो आत्मा इन सबसे असंग है, यह बोध ही परवैराग्य है। माने चित्तकी मूढ़ अवस्थामें विवेकी अपनेको मूढ़ नहीं समझता और न उस अवस्थाको मेरी मानता है; घोर अवस्थामें वह अपनेको घोर नहीं मानता और शान्त अवस्थामें अपनेको शान्त नहीं मानता। चित्तकी अवस्थाएँ न मेरी हैं और न मैं हैं—इस दृढ़ बोधका नाम परवैराग्य है। यह विवेक ख्यातिका फल है।

इन सबका समन्वय कहाँ है? वेदान्तमें अर्थात् आत्माकी ब्रह्मताके बोधमें, आत्माकी अद्वितीयताके बोधमें।

भूत-भैरवकी पूजाका ब्रह्मसे क्या सम्बन्ध है? सम्बन्ध यह है कि इन्द्रियोंकी दुनियासे परे किसीको मानते तो हो। हमें यही सन्तोष है कि तुम इस दुनियासे परे मरनेके बाद कोई सूक्ष्म देवयोनि मानते तो हो। चिरंजीव्यताम्! बेटा चिरकालतक जीओ! तब तुम अपनेको भी देहसे परे समझनेके योग्य हो गये। कभी मरनेके बाद तुम भी भूत-भैरव हो सकते हो, जरा सावधान हो जाओ।

पितरोंकी पूजा करनेका भी यही फल है कि मनुष्यकी देहातिरिक्त आत्माके अस्तित्वमें आस्था दृढ़ होती है:

किसीने कहा 'हम तो ऋषिकी पूजा करते है।' बहुत बढ़िया। ऋषि तो ज्ञानके निधान होते हैं। उस ऋषिको समझोगे तो कभी उसके ज्ञानको भी समझ जाओगे।

जितनी भी साधना है वह अनात्मासे आत्माकी ओर, बहिर्मुखताकी ओर, भोगसे योगकी ओर, राग-द्वेषसे वैराग्यकी ओर, बहिर्मुखतासे अन्तर्मुखताकी ओर ले चलनेमें मददगार होती है। इसलिए जो जहाँ जिससे मददले रहा है वह सब अधिकारी-भेदसे ठीक ही है। बस; नजर किस लक्ष्यपर है यह देखना पड़ेगा। मतलब तो रोटी खानेसे है। एक आदमी सेठकी चापलूसी करके रोटी ले आता है तो दूसरा मिनिस्टरकी या गृहलक्ष्मीकी चापलूसी करके रोटी ले आता है। परन्तु सबका तात्पर्य रोटीमें ही है। उनमें कोई श्रेष्ठ या कनिष्ठ नहीं हैं क्योंकि मनोवृत्ति सबकी चापलूसीकी है और प्रयोजन सबका रोटी है।

प्रयोजनकी दृष्टिसे सबका समन्वय एक स्थानपर है—परमानन्दकी प्राप्ति और दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति। परमानन्दमें जब तक स्वातन्त्र्य नहीं होगा तब तक परमानन्द भी बेकार होगा।

**स्वातन्त्र्यं परमं सुखयं।** ( मनुस्मृति )

स्वातन्त्र्य ही परम सुख है।

**सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।**
**एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः॥**
( मनुस्मृति, ४.१६० )

सुख-दुःखका संक्षेपमें लक्षण यही जानना चाहिए कि परवशता दुःख है और स्वातन्त्र्य सुख है।

**स्वातन्त्र्यात् सुखमाप्नोति स्वातन्त्र्यात् परमं पदम्।**
( अष्टावक्र गीता १८.५० )

स्वातन्त्र्य सबसे बड़ा सुख है, और जहाँ पराधीनता है वहाँ सच्चा सुख नहीं है फिर वह पराधीनता चाहे विषयोंकी हो चाहे इन्द्रियोंकी हो, मनकी हो या बुद्धि ( विचारों )की हो और चाहे वह इष्टदेवताकी हो।

तो हमारा प्रयोजनरूप जो सुख है, परमानन्द, वह ऐसा होना चाहिए जो सब जगह हो, सब अवस्थाओंमें हो, सब वस्तुओंसे हो और बिना आयासके फुरफुराता रहे। ऐसा सुख जिसमें आयास नहीं है, पराधीनता नहीं है और फुरफुराता रहे, वह तो केवल आत्म-सुख ही हो सकता है। इसलिए प्रयोजनकी दृष्टिसे इसी आत्म-सुखमें सबका समन्वय है। यह आत्मसुख देशकाल वस्तुसे अवा-धित तभी होगा जब आत्माको, अपने आपको, अद्वितीय ब्रह्म जान लेंगे! इसलिए संसारमें सुख-प्राप्तिके जितने उपाय हैं वे सब आत्मानन्द–ब्रह्मानन्दकी ओर लेकर चलते हैं और संसारमें जितने सुख हैं वे सब उसी आत्मानन्द–ब्रह्मानन्दके झरे-फरे अंश हैं।

अब तत्त्वके समन्वयकी ओर ध्यान दो। थोड़े आदमियोंका ध्यान ही तत्त्वके समन्वयकी ओर जाता है क्योंकि दुनियामें जितनी चीजें मिलती हैं वे सब मिलती हैं कर्मसे, तो इस बातपर

विश्वास ही नहीं होता कि किसी अखण्ड वस्तुके ज्ञानसे भी हमको कुछ मिल सकता है ! अरे, सब कुछ मिला हुआ ही है। अखण्डके ज्ञानसे कुछ मिलनेकी वासना मिट जाती है। बस; इतनी-सी तो बात है !

कुछ मिलनेकी वासना बड़ी दुःख दे रही है। उसको छोड़े कैसे ? तो बोले : लो छोड़ दिया ! ऐसे हुकुम देनेसे, अस्वीकार करनेसे, उपेक्षा करनेसे वासना नहीं छूटती। जबतक कुछ मिलेगा नहीं तबतक कुछ छूट नहीं सकता !

जैसे कोई कहे कि मैं जीव नहीं हूँ, 'मैं जीव नहीं हूँ, मैं जीव नहीं हूँ।' तो यह दोहरानेवाला ही तो जीव है। अच्छा जी, मान लिया कि तुम जीव नहीं हो, परन्तु फिर तुम क्या हो ?

'मैं तो आदमी हूँ।'

इसीका नाम चार्वाक मत है। मैं जीव नहीं हूँ, यह कहनेसे 'मैं मनुष्य हूँ' यह नहीं कह सकता। 'मैं ब्राह्मण हूँ, 'मैं संन्यासी हूँ, मैं हिन्दू हूँ' यह नहीं कह सकता। केवल जीवत्वका निषेध और मनुष्यत्वकी स्वीकृति—यह चार्वाक मत है।

तब यह कैसे कहेगा—कि एक बार तुम प्रमाणके द्वारा ठीक-ठीक जान लो कि 'मैं ब्रह्म हूँ' तो यह—ये सब अध्यास एक साथ निवृत्त हो जायेंगे।

निखिल अनुभवसे यह सिद्ध है कि मैं जीव हूँ। पापका कर्ता मैं, पुण्यका कर्ता मैं, सुखी-दुःखी मैं, देहाभिमानी मैं, परिच्छिन्न मैं, वृत्तिवाला मैं; तो जीव तो मैं हूँ ही। इसलिए यदि एक बार हम अपनेको ब्रह्म जान लें, अपनेको ब्रह्म पालें, (अर्थात् यह बोध हो जाय कि मैं अकर्ता, अभोक्ता, असंसारी, अपरिच्छिन्न, सजातीय-विजातीय स्वगतभेद-शून्य देश-काल-वस्तुसे अबाधित और उनके भावाभावका प्रकाशक एवं अधिष्ठान 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' हूँ)

तब तो यह जीवपना कटेगा नहीं तो उत्सर्ग ज्यों-का-त्यों रहेगा। अर्थात् 'मैं देह हूँ' यही बुद्धि बनी रहेगी। थोड़ी देर यह सोचोगे कि 'मैं देह नहीं हूँ' और अधिकांश समय यह बना रहेगा कि 'मैं देह हूँ'।

**सर्वेषु हि वेदान्तेषु वाक्यानि तात्पर्येणैतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वेन समनुगतानि। ( भाष्य )**

श्री शंकराचार्य भगवान् कहते हैं कि सब वेदान्तोंमें जितने वचन हैं सब इसी अर्थका प्रतिपादन करते हैं। किस अर्थका? कि यह जो मैं-मैं-मैं बोलते हो, इसमें एक हिस्सा और छुपा हुआ है जिसको तुम देखते नहीं हो। वह हिस्सा क्या है? 'यह मैं हूँ।' मैं-मैं-से जब इस यहपनेको बिलकुल निकाल दोगे तो देखोगे कि तुम्हारा 'मैं' एकदम नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म ही है!

'मैं' और 'यह' एक दूसरेके साथ मिल गये हैं। इनको अलग कैसे करेंगे? हुकुम देकर नहीं, असली मैंके स्वरूपका श्रवण करके, मनन करके और निदिध्यासन करके। जैसे जब पानी और मिट्टी मिल जाती है तो उसमें थोड़ी-सी फिटकरीका चूरा डाल देते हैं जिससे वे दोनों अलग-अलग हो जाते हैं, उसी प्रकार 'मैं' और 'यह' के मिश्रणको अलग करनेके लिए वेदान्त-ज्ञानका चूरा अपनी बुद्धिमें डालिये। 'मैं' और 'यह' अलग हो जायेंगे।

समस्त उपनिषद् वाक्य-तात्पर्यसे इस शुद्ध अहमर्थकी ब्रह्मरूपता और अद्वितीयताका प्रतिपादन करते हैं। तात्पर्यसे; इसको तात्पर्यवृत्ति बोलते हैं। एदम्पर्य, अभिप्राय, तत्प्रतीत्युद्देशक वचन अभिप्रायके द्वारा समझाते हैं।

वस्तुके स्वरूपको समझानेके बहुत-से प्रकार होते हैं। 'गामानय' ( गायको ले आओ ) यह विधि है, आज्ञा है कि जाओ और

गाय नामके पशुको ले आओ। इसमें गाय कर्म है और आनयन क्रिया है। और सामनेवालेको आज्ञा दी गयी है। अब कोई कहे कि ब्रह्मको ले आओ तो क्या यह कहना बनेगा? ब्रह्म तो वह वस्तु है जो कभी कहीं किसीसे दूर नहीं है और जिसके सिवाय कोई दूसरा नहीं है। इसलिए ब्रह्म विधिवाक्यका विषय नहीं हो सकता। ब्रह्मसे एक हो जाओ, ब्रह्मसे मिल जाओ—ये भी विधिवाक्य हैं। स्वतःसिद्ध वस्तुके साथ एक होने या मिलनेका आदेश असंगत है। आदेशमें क्रिया-कारकका प्रयोग होता है।

कुछ चीजें विशेषण-विशेष्यके द्वारा समझायी जाती हैं। जैसे **नीलम् उत्पलम्।** कमल नीला है। 'नीलम्' और 'उत्पलम्' दोनों एक वचन हैं। अतः नीलम् उत्पलम्का अर्थ हुआ कि कमलका एक फूल नीला है। इसी प्रकार दोनोंका—नीलम्का और उत्पलम् का—लिंग एक है, नपुंसक। अतः संख्या और लिंग दोनोंके एक होनेसे नीलम् उत्पलम्में विशेषण-विशेष्य भावरूप सामानाधिकरण्य हुआ। अर्थात् हमने समझाया कि नीलता कमलका विशेषण है।

जब-जब हम बोलना चाहते हैं तो कहीं लिंग और सांख्यका ( जैसे नीलम् उत्पलम्में ) और कहीं क्रियाकारक ( जैसे गामानयमें ) प्रयोग करते हैं। अर्थात् कुछ-न-कुछ सामग्रीको लेकर ही हमारी वचन-प्रक्रिया काम करती है।

कहीं सम्बन्धसे बोधन कराते हैं जैसे : यह अमुक मेमसाहबके पति हैं। या यह राजाका सेवक है।

कहीं जातिसे जैसे 'यह मनुष्य है', तो कहीं रूढ़िसे जैसे 'यह मोहन है' ( भले वह अत्यन्त कुरूप हो ) और कहीं क्रियावृत्तिसे जैसे 'यह प्रोफेसर है' वस्तुका बोधन कराया जाता है। तो क्रिया वृत्ति, रूढ़वृत्ति, जातिवृत्ति, सम्बन्धवृत्ति और गुणवृत्ति ये वस्तुके

बोधनकी प्रक्रियाएँ हैं। ये प्रक्रियाएँ लोकमें शंसनात्मक हैं और विधिवाक्य शासनात्मक हैं।

ब्रह्मविधि-वाक्योंका विषय नहीं है, यह बता चुके। लौकिक शंसनात्मक प्रक्रियाओंसे भी ब्रह्मका बोधन नहीं किया जा सकता। ब्रह्मका न तो किसीसे सम्बन्ध है और न यह दृश्य ही है कि कोई नाम कल्पित करके उसका निर्देश कर दें; न इसमें कोई जाति है, न क्रिया, न गुण। अतः जिन-जिन निमित्तोंसे शब्दका प्रयोग होता है वे कोई निमित्त ब्रह्ममें नहीं है।

तब? तात्पर्यके द्वारा ब्रह्मको समझाते हैं, तत्प्रतीत्युद्देशक वचनसे, अभिप्रायसे उसको समझाते हैं। उसकी प्रक्रिया क्या है कि उस वस्तुका दूसरोंसे अलग करके वर्णन करते हैं: **इतरवैलक्षण्येन प्रतिपादकत्वं सम्यक्त्वम्।** इस विलक्षणतारूप प्रतिपादन प्रक्रियामें बुद्धि लगाओ!

बुद्धि तुम कमाईमें लगा सकते हो, भोगमें लगा सकते हो, दूसरोंको ठगनेके तरीकोंमें लगा सकते हो, तो परब्रह्म परमात्माके चिन्तन अनुसन्धानमें क्यों नहीं लगा सकते? इस सम्बन्धमें एक बात ध्यान कर लो, और इसको तुम महात्माओंका शाप ही समझ लो, कि यदि तुम परमात्माके चिन्तनमें बुद्धि नहीं लगाओगे तो वह संसारके ही चिन्तनमें लगेगी, भले तुम थोड़ी देरके लिए उसे सुषुप्तिवत् शान्त कर लो। शान्तिसे उठनेके बाद वह बुद्धि कमाई, भोगके बारेमें ही सोचेगी। लेकिन यदि बुद्धिको ईश्वर-चिन्तनकी आदत डालोगे और मनको ईश्वरसे प्रेम करनेकी आदत डालोगे तो दुनियाका प्यार-चिन्तन छूट जायेगा और वैराग्य-विवेक होकर ब्रह्मज्ञानका प्रकाश होगा।

अब श्रुतियोंकी व्याख्या प्रारम्भ करते हैं: •

( ४ ६. )

# श्रुत्यर्थका समन्वय-२

## १. सद्विद्या

**सदेध सोम्येदमग्र आसीत् । एतमेवाद्वितीयम् ।**

( छान्दोग्य उपनिषद् ६.२.१ )

'हे सोम्य, सृष्टिकी उत्पत्तिसे पहिले केवल सत् ही था और वह सत् एक तथा अद्वितीय था।'

उपनिषदोंमें इसको 'सद्विद्या' बोलते है। यह सत्का साधन नहीं है सत्यकी विद्या है। सत्यको जाननेकी एक कला है। साधन-का जो फल होता है वह सीमित होता है और विनाशी होता है चाहे वह धर्मरूप साधना हो या उपासनारूप या योगरूप। जो साध्य होगा वह उत्पाद्य होगा, कृत्रिम होगा और टिकाऊ नहीं होगा। परन्तु जो असलियत है, सत्य है, वह हमेशा एक-सी रहती है और वह साधनसे प्राप्त नहीं हो सकती। सत्यका, जैसा वह है वैसा ज्ञान होता है और वह विद्याके द्वारा होता है। सत् एक होता है परन्तु उसके अधिगमके लिए शैलियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं, प्रक्रियाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं।

**एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति** ( ऋग्वेद १.१६४.४६ )

'नदिया एक घाट बहुतेरे।' समझनेकी चीज एक है पर समझानेकी रीति न्यारी-न्यारी है। प्रक्रिया माने प्रकार, ढंग,

शैली। जैसे आकारसे आक्रिया, विकारसे विक्रिया, संस्कारसे संस्क्रिया शब्द बनते हैं वैसे ही प्रकारसे प्रक्रिया शब्द बनता है।

शैल कहते हैं—पत्थरोंका समुच्चय। शिला-शिला मिलकर शैल बनता है। जैसे एक पहाड़से अनेक झरने, नदियाँ निकलती हैं और उसमें-से किसी एकके किनारे-किनारे चले जाओ तो पहाड़पर पहुँच जाओगे। उसी प्रकार एक वस्तुको समझानेकी हजार-हजार शैली हैं, किसी एकके सहारे विचार करनेपर वस्तुको समझ जाओगे। यों शैली शब्दका 'शीलेभवा' अर्थ तो प्रसिद्ध ही है।

समझना-समझना बुद्धिमें ही होता है। बौद्ध भ्रमको मिटानेके लिए ही अनेक शैलियाँ अपनायी जाती हैं। वेदान्तमें जितने दृष्टान्त दिये जाते हैं वे सब ऐसे हैं जिससे पता चलता है कि जो कुछ हेर-फेर हुआ है या होना है वह सब बाहर वस्तुमें नहीं है बल्कि मनमें हैं। असलमें दुनिया जो बनी है वह बुद्धिके ही हेर-फेरसे बनी है। जितना दुःख तुमको होता है वह सब प्रज्ञाके अपराधसे ही होता है।

अच्छा, जैसे आप एक घड़ा देखते हैं। घड़ेके साथ आपको चार चीजें और दिखती हैं, उनपर ध्यान दो :—उपादान मृत्तिका ( मिट्टी ) जो घड़ेमें है, घटदेश जो मृत्तिकासे बने घटका आधार है, प्रकाश जिसमें घट दिखता है और नेत्र जिससे घट दिखता है। अभी देखनेवालेको बिलकुल छोड़े देते हैं।

घड़ेकी सत्तापर विचार करो। घड़ा मिट्टीमें एक आकृति है श्रुति कहती है मिट्टीमें घड़ा मिथ्या है और मृत्तिकामात्र सत्य है।

**वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्** ( छान्दोग्य )

जितना कठोर रज्जु-सर्पका दृष्टान्त है उससे भी अधिक कठोर घट और मृत्तिकाका दृष्टान्त है। श्रुतिका कहना है कि सारी

दुनिया रज्जुमें सर्पको मिथ्या समझती है पर मिट्टीमें जो घड़ा है उसको भ्रम नहीं समझती, परन्तु वस्तुतः मिट्टीमें जो घड़ा है वह भी भ्रम ही है। **मृत्तिकेत्येव सत्यम्** केवल मृत्तिका ही सत्य है। 'एव' कहकर यह बताया कि घड़ा सत्य नहीं है, घड़ा तो केवल नामधेय है, नाम है, जबानी जमाखर्च है।

मिट्टीके सिवाय घड़ा नहीं है और स्वयं मिट्टी अपने आधार आकाशके सिवाय नहीं है तथा आकाशमूलसत्ता सत्के सिवाय नहीं है। इधर प्रकाश और नेत्रका अव्यतिरेक है। आँख न हों तो प्रकाश दीखेगा ही नहीं। इसलिए प्रकाशका जों देवता है वह अनुग्राहक ( अधिदैव ) और देखनेवाला जो नेत्र है वह अध्यात्म है। ( दृश्य-प्रकाश स्वयं अधिभूत है )। इस प्रकार प्रकाश और नेत्र एक ही तत्त्व हैं ( तैजस तत्त्व )। अब समझानेकी एक प्रक्रिया देखो।

प्रश्न यह है कि जो सत् है वह उपादान है या नहीं ? यदि सत् उपादान है तो वह सबीज होगा, परन्तु सत् सबीज हो नहीं सकता। पृथ्वी सबीज नहीं होती, वह अनन्त बीजोंका आधार बनती है। उसमें गेहूँका बीज, चनेका बीज, आमके बीज सब उगते हैं, परन्तु गेहूँके बीजसे गेहूँका पौधा, चनेके बीजसे चनेका पौधा और आमके बीजसे आमका पौधा उगता है। बीजका संस्कारधारा-प्रवाह पृथक् है और मिट्टी दूसरी चीज है। सब बीजोंको जला दो तो मिट्टी-की-मिट्टी है, संस्कारधार-जलकर नष्ट हो जायेगी। इस प्रकार घटके मूलमें, जगत्के मूलमें, जो सत् वस्तु है वह बीजरूप है, यह भ्रम है।

अब दूसरी ओर देखो। घटको जाननेवाली जो संविद् है, अथवा जो गेंहूँको, चनेको, आमको, जाननेवाली संविद् है वह सबीज है, यह भी भ्रम है। जो ज्ञानस्वरूप है वह बीज नहीं

हो सकता। यदि बीज हो तो कभी फूटे और कभी सिकुड़े; फूटे तो पेड़ बन जाय और सिकुड़े तो फिर बीज बन जाये! सबीज संविद् परिणामी होगी और चेतन परिणामी हो नहीं सकता क्योंकि परिणामका साक्षी चेतन होता है, परिणममान या परिणामी चेतन नहीं होता। यदि मान भी लें कि चेतन परिणामी होता है तो प्रश्न यह उठता है कि सम्पूर्ण चेतन परिणामको प्राप्त हो जाता है या उसका कोई अंश परिणामको प्राप्त होता है? यदि सम्पूर्ण ही परिणत होता है तो चेतन ही नष्ट हो गया! चेतनका अभाव अनुभवका विषय नहीं है। अभाव भी साक्षी चेतन द्वारा ही भास्य होता है। और यदि चेतनके एक अंशमें परिणाम होता है और एकमें नहीं तो प्रथम तो चेतनमें अंश या अंशांशी भाव होता ही नहीं है और दूसरे जो अंश परिणममान है, बदल रहा है, वह तो चेतनका विषय होनेसे जड़ है। चेतन साक्षी है और जो साक्षी है वह कभी बदलता नहीं है।

इस प्रकार न सत् सबीज है और न चित् सबीज है।

तो हुआ क्या कि घड़ा है मिट्टीमें, मिट्टी है आकाशमें, आकाश सत्में और सत् निर्बीज है। माने घड़ा और घड़ेका आधार दोनों सत्में हैं और सत् निर्बीज है। इसलिए सत्में न आधारता है और न उपादानता। अतः सत्का विवर्त है उपादान कारण और सत्का विवर्त है आधारता। आकाश भी सत्का विवर्त है और मिट्टी एवं घड़ा भी सत्के विवर्त हैं। दूसरी ओर घटद्रष्टा चित् भी निर्बीज है। अब रह गया प्रकाश और नेत्र।

प्रकाशकी जरूरत कहाँ है? जब इन्द्रियोंको या अन्य वस्तुको देखते हैं तब प्रकाशकी जरूरत होती है। जैसे जब नेत्रसे घटको देखते हैं तब सूर्यकी जरूरत होती है या किसी अन्य प्रकाशकी जरूरत होती है, परन्तु यदि अपने आपको अपने आपसे ही देखना

हो तो वहाँ अनुग्राहक प्रकाशकी जरूरत नहीं होती। अभिप्राय यह कि अधिभूतके दर्शनके लिए ( घट-दर्शनके लिए ) अधिदैव ( सूर्य ) और अध्यात्म ( नेत्र )की आवश्यकता होती है। परन्तु जहाँ अधिभूतको देखना नहीं है वहाँ अधिदैवकी जरूरत नहीं है। और जहाँ अधिभूत और अधिदैवकी जरूरत नहीं है वहाँ अध्यात्मकी जरूरत कहाँसे होगी! इसलिए आत्मसाक्षात्कारके लिए न इन्द्रियोंकी जरूरत है, न मनकी, और न किसी बाह्य अनुग्राहककी। [ अब घट-दर्शनमें घटरूप तैजस तन्मात्रका तमोगुणरूप है, सूर्यका प्रकाश तैजस तन्मात्रका रजोगुणरूप है और नेत्र तैजस तन्मात्रका सत्त्वगुणरूप है। अतः वहाँ तैजस ही तैजसको तैजससे देखता है। क्योंकि तैजसके रज और तमरूप सत्‌के विवर्त हैं और सत्‌रूप चित्‌के विवर्त हैं ] अतः जो चिद्वस्तु है वह सद्वस्तुसे अभिन्न है और जो सद्वस्तु है वह चिद्वस्तुसे अभिन्न है। दूसरे शब्दोंमें जो घटका व्यावहारिक आधार एवं उपादान है वह घटके प्रकाशकसे अभिन्न है अतः अधिष्ठान ही अधिष्ठान है, प्रकाशक ही प्रकाशक है, प्रकाश ही प्रकाश है; प्रकाशके अतिरिक्त घट-नामकी कोई अन्य वस्तु नहीं है।

इस प्रक्रियाका अर्थ यह हुआ कि आप आत्म-चैतन्यको अधिष्ठानसे एक कर दो। जहाँ अधिष्ठान चेतन है और चेतन अधिष्ठान है वहाँ न घड़ा है न मिट्टी, न आकाश है न प्रकाश। जहाँ अधिष्ठान और चेतनकी एकताका ज्ञान हुआ कि ये सब बाधित हुए—घड़ा, मिट्टी, आकाश और प्रकाश। घट-मृत्तिका और आकाश तो चले गये अधिष्ठान ( सत् )में और प्रकाश ( नेत्रसहित ) आ गया सम्विद्‌में। सम्विद्‌का विवर्त है प्रकाश और सत् अधिष्ठानके विवर्त हैं घट, मृत्तिका एवं आकाश। जीव, ईश्वर और इष्टदेव—आत्म-चैतन्यके विवर्त हैं और जितना भी नामरूपात्मक जगत् है वह सब सत् अधिष्ठानके विवर्त हैं। अब

यदि चेतन अधिष्ठान नहीं होगा तो वह विनाशी होगा, परन्तु चेतनकी विनाशिता अनुभव-विरुद्ध है। यह अनुभव-सिद्ध है कि सम्विद् ( चेतन )के सामने जो चीज आती है वह नाशवान् होती है, जिसके सामने वह आती है वह सम्विद् नाशवान् नहीं होती। उधर अधिष्ठान भी विनाशी नहीं होता।

तो न अधिष्ठान ( सत् )का विनाश है और न सम्विद् ( चित् ) का विनाश है। अधिष्ठानमें भी देश-कल्पना नहीं है और सम्विद् भी देश-कल्पना नहीं है। अधिष्ठानमें भी काल कल्पना नहीं है और सम्विद्में भी काल-कल्पना नहीं है। अधिष्ठान भी निर्बीज है और सम्विद् भी निर्बीज है। इस प्रकार निर्देश, निष्काल, निर्बीज दोनों हैं—सत् अधिष्ठान भी और प्रकाशक सम्विद् भी। तब? **लक्षणैक्यात् लक्ष्यैक्यम्** : लक्षण एक होनेसे लक्ष्यमें भी एकता है। अतः जो अधिष्ठान है वही सम्विद् है और जो सम्विद् है वही अधिष्ठान है।

अधिष्ठान ब्रह्म है, प्रकाशक आत्मा है। जहाँ आत्मा और ब्रह्मके अभेदका ज्ञान हुआ वहीं घटरूप जगत् प्रतीत होते हुए भी गया! घड़ेका अस्तित्व गया, मिट्टीका अस्तित्व गया, आकाशका अस्तित्व गया, आधारका अस्तित्व गया, प्रकाशका अस्तित्व गया! न जीव रहा न ईश्वर, न सूर्य रहा न चन्द्रमा, न मिट्टी रही न आकाश, न घड़ा रहा न सकोरा, न आँख रही, न शरीर! कैसा विचित्र अनुभव है यह कि कुछ रहा भी नहीं और सब कुछ भास भी रहा है।

आकाशोपलक्षित एवं उपादानोपलक्षित सत् अधिष्ठानमें तथा वृत्तिवृत्त्यभावोपलक्षित अखण्ड सम्विद्में यह सम्पूर्ण आकाश, प्रकाश, मृत्तिका, घट और कारणरूप जगत् केवल विवर्तमात्र है।

'सत्' शब्द मुँहमें है और 'सत्' प्रत्यय मनमें है। इन दोनोंका

अधिष्ठान कौन है ? मैं ही इन दोनोंका अधिष्ठान हूँ, माने ये शब्द और प्रत्यय दोनों मुझमें हैं। इसी प्रकार 'सत्' शब्द और 'सत्' प्रत्यय इन दोनोंका प्रकाशक मैं कौन है ? मैं, आत्मा। इसलिए देश और शब्द और देश प्रत्यय, काल शब्द और काल प्रत्यय, द्रव्य शब्द और द्रव्य प्रत्यय, बीज शब्द और बीज प्रत्यय, भेद शब्द और भेद प्रत्यय—इन सभी शब्दों और प्रत्ययोंका अधिष्ठान और प्रकाशक मैं अखण्ड आत्मा ही हूँ, मुझ आत्म-चैतन्यके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

सृष्टिका मूलतत्त्व अद्वितीय सत् ( अथवा अद्वितीय चित् है, इस बातको समझानेकी यह एक प्रक्रिया हुई। अब इसी बातको दूसरी प्रक्रियासे देखो।

जो चिन्तन करते हैं उन्हें रोज एक नयी प्रक्रिया सूझती है। रोज-रोज नयी वस्तु नहीं लखायी जाती है, नयी-नयी प्रक्रियासे उसी वस्तुको लखाया जाता है। सनातनधर्मका यही सिद्धान्त है :

**यत्र प्रदर्श्यो विषयः सनातनः यत्र प्रकारोऽभिनवः प्रदर्शने।**

'विषय एक सनातन है, उसीको लखाना है, परन्तु नयी-नयी प्रक्रियासे उसे लखाया जाता है।'

दूसरी प्रक्रिया क्या है कि :

**सदेव सोम्य इदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्।**

'हे सोम्य ! इदं दृश्यमानं जगद् दृश्यं अग्रे सदेव आसीत्।

**सोम्य :** हे सोम्य, यह सम्बोधन है, अर्थात् हे मेरे प्यारे शिष्य ! सोम्य कहते हैं सीधे-सादेको, कपट रहितको। शिष्यको कपटी नहीं होना चाहिए।

कुमारिल भट्टने कपट करके बौद्धोंसे उनके शास्त्रोंका रहस्य प्राप्त किया था। कपट यह था कि उनके मनमें सीखते समय

यह था कि पहले सीख लेंगे और फिर उन्हींके सिद्धान्तोंको काट देंगे। इस नीयतको उन्होंने अपने धर्मके विरुद्ध समझा और उसके प्रायश्चित्तके लिए उन्होंने अपने शरीरको भूसीकी आगमें जलाया।

ज्ञान-प्राप्तिमें कपट नहीं करना चाहिए, वरना ज्ञान पूरे रूपसे धारण नहीं होगा।

गुरुजी कहते हैं कि हे शिष्य, तुम्हारा स्वभाव बड़ा शीतल है, तुमको क्रोध नहीं आता। तुम काम-क्रोध, राग-द्वेषकी आगमें नहीं जलते। दिलको भट्टी बनाकर कोई आयेगा ज्ञान सीखने तो ज्ञान भी कहेगा कि 'बाबा, इस भट्टीसे जरा बचकर ही रहो।'

सोम्य अर्थात् भगवान् गौरीशंकरके अनुग्रह-पात्र। उमया सहितः सोमः = उमा सहित अर्थात् गौरीशंकरको कहते हैं सोम। सोमका जो अनुग्रह पात्र हो वह है सोम्य। उमा अर्थात् ब्रह्मविद्या और शिव अर्थात् परब्रह्म परमात्मा। इसलिए हे सोम्य! इस सम्बोधनका अर्थ हुआ कि परब्रह्म परमात्मा और ब्रह्मविद्याके कृपापात्र हे मेरे प्यारे शिष्य! ब्रह्म तो तेरी आत्माके रूपमें है ही, अब यह ब्रह्मविद्या भी तेरे अन्दर आती है।

सोम्य अर्थात् प्रियदर्शन। बड़ा प्यारा शिष्य है तू! जैसे चन्द्रमाको देखनेमें आँख अटक जाती है वैसे ही तुम्हें देखकर आनन्द होता है।

इदम् : यह अनुवाद है। जैसा दीख रहा है, वैसा इस प्रतीयमान प्रपञ्चका वाचक है 'इदं' शब्द। इन्द्रियोंके रूपमें और इन्द्रियोंके द्वारा गृहीत रूपमें, मनके रूपमें और मनोवृत्तिके द्वारा गृहीत रूपमें प्रपञ्च जैसा मालूम पड़ रहा है, उसका अनुवाद है 'इदम्'।

अग्रे : पूर्वमें, इस इदंवाच्य प्रपञ्चकी उत्पत्तिसे पूर्व।

शिष्यके मनमें तो यह प्रपञ्च बिलकुल सच्चा होकर बैठा है। उस सचाईको तनिक ढीला करते हैं। कैसे? कहते हैं कि जब

यह प्रपञ्च नहीं था माने प्रपञ्चकी उत्पत्तिसे पहले क्या था ? क्या प्रपञ्च ही था ? नहीं, सत् ही था। **अग्रे सदेव आसीत्।** इस समय जो नानात्व दीख रहा है, वह हम मान लेते हैं परन्तु वह नानात्व एकमें-से हुआ है. अद्वितीयमें भास रहा है। जैसे एक बीजमें-से वृक्ष, अंकुर, डाल, पल्लव, पुष्प, फल होते हैं, जैसे एक स्वप्न द्रष्टामें अनेक स्वप्न-पदार्थ बिना हुए ही भासते हैं। तो श्रुति कहती है कि आगे यह सब ( नानात्व ) एकमें था। इससे यह अर्थ निकलता है कि पीछे भी यह सब एकमें रहेगा और इसलिए अब भी ( बीचमें भी ) जो कुछ यह दीख रहा है वही अद्वितीय एक है :

**अग्रे सदेव आसीत्। अर्थात् पश्चात् सदेव भविष्यति। तात्पर्यतः इदानीमपि सदेव।**

सृष्टिकी आदिमें सत् ही था, अन्तमें सत् ही रहेगा। अतः तात्पर्य यह कि सृष्टि अब भी सत् ही है।

यहाँ 'अग्रे' पदका अर्थ है 'काल' और 'सदेव' पदका अर्थ है 'अद्वितीय सत्'। 'आसीत्' क्रिया पद है जिसका अर्थ होता है 'था'। अस् धातुका वर्तमान कालमें 'अस्ति' और भूत कालमें 'आसीत्' रूप बनता है। अब 'सत्' भी सत्तावाचक है और 'आसीत्' भी। 'आसीत्' मात्र कहनेसे सत्ताका बोध हो सकता था फिर 'सत्' 'आसीत्' दोहरा बोलनेका क्या अभिप्राय हो सकता है ?

**सदेव आसीत् न तु सक्रियं न तु परिणामि आसीदेव। सदतिरिक्तमन्यं किञ्च नास्ति च केवलमासीदेव।**

अर्थात् सत् ही था, कुछ करता हुआ या बदलता हुआ नहीं था। बस था ही था, सत्के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं था।

शंका होती है कि यदि सत् ही था तो सत् जड़ सत्ताका वाचक है। अतः श्रुति यह कहना चाहती है कि सृष्टिकी उत्पत्तिसे पहले

जड़ सत्ता ( प्रधानादि ) थी। इस आशंकाको निर्मूल करनेके लिए भगवान् श्री शंकराचार्य इसके तुरन्त बाद ही एतरेय उपनिषद्की श्रुति उद्‌धृत करते हैं :

**आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्** ( १.१.१ )

अर्थात् इस सृष्टिसे पहले केवल आत्मा ही था। दोनों श्रुतियों-को एक साथ उद्धृत करनेका आशय यह कि जो सत् है सो आत्मा है और जो आत्मा है सो सत् है। इसलिए सद्‌विद्यामें जो सत्‌का वर्णन है वह किसी दूसरे सत्‌का वर्णन नहीं है, आत्मसत्-का वर्णन है।

इस सद्‌विद्याके बादमें उपनिषद्‌में वर्णन है कि—

**सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः**
( छां० ६.८.४ )

'हे सोम्य, इस प्रकार यह सारी प्रजा सन्मूलक है, सत् ही इसका आश्रय है और सत् ही इसकी प्रतिष्ठा है।' तथा—**ऐत-दात्म्यमिदं सर्वम्।** ( छां० ६.८.७ ) अर्थात् 'यह सब यह आत्मा ही है।' और फिर कहते हैं कि—**स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो।** 'वही आत्मा है, हे श्वेतकेतु वही तुम हो।'

इस प्रकार प्रसंगका उपक्रम किया सत्‌से और उपसंहारमें बताया कि 'वही तुम हो।' इसका अर्थ होता है कि जो तुम हो सो सत् है और जो सत् है सो तुम हो। ●

## २. सद्विद्या ( वितत )

वेदान्त किस प्रकार अद्वैत-ब्रह्मका प्रतिपादन करते हैं इसको वेदान्तकी रीतिसे ही समझना चाहिए। कभी-कभी वेदान्तकी प्रक्रियाएँ समझमें नहीं आती हैं; इसका कारण यह है कि समझने

वाली बुद्धि कमाई और भोगकी समझसे इतनी आक्रान्त होती है कि उसे अपरिच्छिन्न ब्रह्म-तत्त्व समझमें नहीं आता। समझानेवाला कैसा भी हो समझना अपने आपको ही पड़ता है। इसके लिए थोड़े कर्म, भोग, संग्रह और वासनाकी शिथिलता अपेक्षित है। कभी-कभी गुरुजी भी कठिन प्रक्रियाओंका आश्रय लेते हैं। उसमें भी उनका एक हितमय उद्देश्य रहता है कि शिष्यकी बुद्धिका अभिमान टूट जाये। अभिमानीको यह महसूस होना चाहिए कि अभी समझनेको बाकी है। परन्तु वेदान्त प्रयत्न करनेपर भी यदि समझमें न आये तो भी हताश या निराश नहीं होना चाहिए कि 'हम इसके अधिकारी नहीं हैं।' अद्वैतकी अनुभूतिमें अधिकारी-अनधिकारीका प्रश्न नहीं उठता क्योंकि यह अद्वैत तत्त्व तो सबका अपना आत्मा ही है। पराये घरमें घुसनेके लिए अधिकार या आज्ञाकी अपेक्षा होती है परन्तु अपने घरमें घुसनेके लिए नहीं। यहाँ दरवाजेपर यह पट्टी नहीं लगी हुई कि—

**आर्यधर्मेतराणां प्रवेशो निषिद्धः।**

"यहाँ आर्यधर्मावलम्बियोंके अतिरिक्त अन्य धर्मावलम्बियोंका प्रवेश निषिद्ध है" अद्वैत तत्त्वकी अनुभूति जातिमूलक नहीं है, सद्गुणमूलक है, अन्तर्मुखतामूलक है, शमदमादिमूलक है, भले कोई मन्त्र पढ़े या न पढ़े। अमुक मन्त्र पढ़ना या नहीं पढ़ना, इसमें विद्वानोंका विवाद हो सकता है, लेकिन अर्थज्ञानमें वेदान्त चोर नहीं है। बैंक सबको उनकी रखी हुई वस्तु देनेको तैयार है, अन्तर सिर्फ खिड़कीका होता है कि किस खिड़कीसे लें। इसी प्रकार वेदान्तके अर्थज्ञानके सब अधिकारी हैं, परन्तु कौन वेदसे प्राप्त करे, कौन इतिहास-पुराणसे प्राप्त करे, कौन भाषा-ग्रन्थोंसे प्राप्त करे इसमें भेद होता है। आत्माके ज्ञानमें कोई रुकावट नहीं है।

प्रक्रियाकी बात यह है कि कुछ प्रक्रियाएँ कठिन हो सकती हैं कुछ सरल। उनमें भी परस्पर श्रेष्ठता-कनिष्ठता हो सकती है। परन्तु पहले आप वस्तुको समझनेके लिए एक प्रक्रिया स्वीकार कीजिये। जब एक प्रक्रियामें बँधकर निष्ठावान होकर आप परमात्माको समझनेकी कोशिश करते हैं तो उसका नाम सत्सम्प्रदाय हो जाता है।

**मुनिन्ह प्रथम हरिकीरति गाई। तेहि पथ चलत सुगम मोहि भाई।**

दो प्रकारके मनुष्य होते हैं: एक वे जो वस्तुमें ईश्वरको देखना चाहते हैं और एक वे जो दिलमें ईश्वरको देखना चाहते हैं। यह रूमाल वस्तु है। रूमाल, रूमाल, रूमाल, टुकड़े, टुकड़े, टुकड़े, परिच्छेद, परिच्छेद, परिच्छेद, इन सब परिच्छेदोंका कर दो एक ढेर। एक राशिमें सबको डाल दो। जिस एक उपादानमें ये सब मिल जायेंगे, जिस एक सत्तामें ये सब एक हो जायेंगे, उसको उपादान कारण कहा जायेगा। वहाँ उपादानता तो सिद्ध होगी कि सबका मूल मसाला यही है, परन्तु वहाँ कर्ता अथवा चेतन ( अर्थात् ईश्वर ) दिखायी नहीं पड़ेगा।

जैसे कोई चालक मशीनको चलाकर अलग छिप जाय तो चलती मशीनको देखकर उसके चालकका अनुमान भले ही करलो, परन्तु मशीनको तोड़-फोड़ डालनेपर भी चालकका पता नहीं चल सकता; उससे तो केवल मशीनकी उपादान-धातुका ही पता चल सकता है, उसके चेतन चालकका पता नहीं चल सकता। इसी प्रकार जब हम बाहरकी वस्तुओंकी ओर देखते हैं तो वैज्ञानिक अनुसन्धानोंसे वस्तुके उपादान जड़ प्रकृतिका तो पता चलता है परन्तु चेतन ईश्वरका पता कहीं नहीं चलता। लेकिन जब हम बाहर न देखकर भीतरकी ओर देखते हैं कि ये भाव मनमें कैसे पैदा होते हैं, ये मनोवृत्तियाँ कैसे पैदा होती हैं, इन वृत्तियोंका रहना

न रहना कैसे जाना जाता है, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिकी अवस्थाएँ कैसे आती जाती हैं, इत्यादि, तो इस अनुसन्धानसे आत्मचैतन्य-की सिद्धि होती है।

इस प्रकार बाह्य अनुसन्धान एक जड़ राशि, जड़ सत्ताको प्राप्त कराता है और अन्तर् अनुसन्धान एक चेतनराशि आत्माको प्राप्त कराता है जो सबके भीतर है। सबको जड़ सत्तामें डाल दो तो प्रकृति प्राप्त होगी और सबको चेतन ईश्वरमें डाल दो तो अन्तर्यामीकी स्थिति प्राप्त होगी। बौद्धोंने कहा कि जड़ चेतन-सापेक्ष है और चेतन जड़-सापेक्ष है, अतः दोनों मिथ्या हैं! दोनों शून्य हैं। लेकिन इसके आगे तब बढ़ते हैं जब साक्षी या सन्मात्र-का अनुसन्धान करने लगते हैं। कार्य, कारण, कर्ता, साक्षी और साक्षीकी ब्रह्मरूपता—अनुसन्धानका यह क्रम है।

उपनिषदोंमें जो सत्य वस्तुका वर्णन आता है तो विचारके लिए कोई-न-कोई नाम तो रखना ही पड़ता है। अब सत्से बढ़िया और क्या नाम होगा! अतः आओ सद्विद्याका विचार करें!

सत्का मतलब क्या होता है? **अस्ति इति सत्।** जब किसी चीजको हम बोलते हैं कि 'है' तो वह होता है सत्। यह अस् धातु है और वर्तमान कालमें इसका प्रयोग हुआ 'अस्ति'। जैसे **अस्ति घटः, अस्ति पटः, अस्ति मनुष्यः** ( घट है, पट है, मनुष्य है )। उर्दूमें 'अस्ति'का 'हस्ती' हो गया, समानार्थमें। 'अस्ति' और 'हस्ती' दोनोंका अर्थ है, अस्तित्व है। **सन् घटः सन् पटः** ( घट सत् है, पट सत् है ), ऐसा हम लोग व्यवहार करते हैं।

अब देखो, घड़ेमें भी सत् है, कपड़ेमें भी सत् है, मकानमें भी सत् है, स्त्रीमें भी सत् है और पुरुषमें भी सत् है। है है है ( सत् सत सत् ) तो सबको बोलेंगे न! तो सत् सत् सत्की एक झड़ी लग गयी। इससे एक सत्-सामान्य बन गया। इस सत्-सामान्यको

बोलेंगे 'सत्ता'। जैसे जन-जन-जनसे जन-सामान्यके अर्थमें बना 'जनता'; जनता माने जनोंकी जाति।[1] वैसे ही सत्ता माने सत्-जाति। जैसे एक घट, दो घट, तीन घटसे घटत्वकी समष्टिरूप जाति, जैसे गो ( गाय ) गो, गोसे गोत्वसमष्टिरूप जाति वैसे ही सत्-सत्-सत्से सत्तासमष्टिरूप जाति 'सत्'।

**सत्ता समष्टिः = सच्च-सच्च-सच्च।**

**सन्तः = सतां समूहः = सत्ता।**

असलमें सत्‌में सामान्य ( जाति ) भी नहीं है। वह तो घट, पट, मठादिकी उपाधिसे उसमें सामान्य आ गया। सत् तो अखण्ड एक-रस है, उसमें सामान्य कहाँसे आया ? तो बोले कि घट-पट मठके नाम-रूपकी विलक्षणतासे, इनकी उपाधिसे सत्‌में जाति आरोपित हो गयी, असलमें सत् एक है।

उस एक सत्‌में प्रकृति भी नहीं है, जीवता भी नहीं है और ईश्वरता भी नहीं है।

**सती प्रकृतिः, सन् जीवः, सन् ईश्वरः, सन् घटः, सन् पटः।**

प्रकृति जीव ईश्वरके भेदसे विनिर्मुक्त और इनके आरोपसे विनिर्मुक्त जो सत् है उसे वेदान्तमें सत् कहते हैं।

**सदेव सोम्येदमग्र आसीत्। एकमेवाद्वितीयम्।**

क्या विलक्षणता है कि सारा भेदका व्यवहार करते हुए भी अभेदका प्रतिपादन करते हैं!

इस सद्‌विद्याका उपक्रम यहाँसे प्रारम्भ होता है कि आरुणिका पुत्र श्वेतकेतु जब विद्याध्ययनसे घर लौटा तो अपनेको बड़ा बुद्धिमान् माननेके कारण वह बड़ा उद्दण्ड होकर लौटा। पिताने यह देखकर श्वेतकेतुसे पूछा कि 'क्या तूने गुरुसे वह आदेश पूछा

१. जन समूह वाचक जो जनता शब्द है, वह पृथक् है—[सम्पादक]

है जिसके द्वारा अश्रुत श्रुत हो जाता है, अमत मत हो जाता है और अविज्ञात विज्ञात हो जाता है ?

**तमादेशमप्राक्ष्यः ? येनाश्रुतं श्रुतं भवति अमतं मतं अविज्ञातं विज्ञातम् इति। (छां० ६.१.२-३)**

इस विचित्र प्रश्नको सुनकर श्वेतकेतुने पूछा 'भगवन्! वह आदेश कैसा है?':

**कथं नु भगवः स आदेशो भवति?**

उपक्रममें बड़ा भारी पराक्रम होता है। श्रीअप्पय दीक्षितने तो एक ग्रन्थ ही लिखा है—'उपक्रम-पराक्रम।' किसी कामकी सफलताको आँकनेके लिए यह देखना चाहिए कि कर्ताने उस कामको शुरू करनेमें कितना बल लगाया है। यह बात लोगोंको जल्दी मालूम नहीं पड़ती। ब्रह्मज्ञानसे उपक्रम करनेका अर्थ ही यह है कि श्रुति कर्म, उपासना, योगसे प्राप्त होनेवाली किसी वस्तुका प्रतिपादन नहीं कर रही है बल्कि जो यथास्थित सिद्ध वस्तु है उसको बताना चाह रही है! अब लो ब्रह्मज्ञानका मजा!

**सदेव सोम्येदमग्र आसीत्। एकमेवाद्वितीयम्।**

पहले आदेश पूछा गया! तमादेशमप्राक्ष्यः। ज्ञानमें आदेश नहीं होता है। हमने आपको कहा कि 'आप इस मूर्तिको विष्णु समझिये।' यह आदेश हुआ। आप कहेंगे: 'बाबा, हम तो आँखसे इसको मूर्त्ति देखते हैं। इसको विष्णु कैसे देखें?' तो यह ठीक है। नैसर्गिक ज्ञान यही है कि यह पत्थरकी मूर्ति है परन्तु हमारे कहनेसे आजसे ऐसी बुद्धि बनाओ कि यह विष्णु हैं और इसको विष्णु समझकर ही इसकी पूजा करो। इसका नाम उपासना हुआ। आप उसको पत्थर भी देखते हैं और विष्णु भी समझते हैं। परन्तु यदि अन्धकारमें वह मूर्ति दिखे और आप उसे कोई मनुष्य या चोर समझ लें तो? तो उस दशामें न तो आप उस

मूर्तिको मूर्ति देखेंगे और न उसको विष्णु भगवान् समझेंगे । वह भ्रमकी दशा होगी क्योंकि भ्रमजन्य जो चोर आपको दिख रहा है वह न निसर्गसिद्ध है और न विधिसिद्ध है ।

असलमें आदेश देनेपर भी आपकी जो पाषाण-बुद्धि है वह निवृत्त नहीं होती । जब आप भावमें आयेंगे तब वह मूर्ति विष्णु-रूप दिखायी पड़ेगी और जब भाव नहीं होगा तब वह पाषाण दिखायी पड़ेगी । तब आदेशका क्या रहस्य है ?

भावका सबसे बढ़िया उद्रेक तब माना जायेगा जब आप मूर्तिको विष्णु समझना भूलकर 'अहमेव विष्णुः' ( मैं ही विष्णु हूँ ) ऐसा समझेंगे । उस समय जो आप बोलेंगे वह विष्णुका बोलना होगा ! प्रह्लाद जब विष्णुभावापन्न हो गये तब उनका क्या वचन निकला कि :

सर्वगत्वादनन्तस्य स एवाहमवस्थितः ।
मत्तः सर्वमहं सर्वं मयि सर्वं सनातने ॥
( विष्णु पु. १.१९.८५ )

वह अनन्त सर्वगत होनेसे अहम्‌के-रूपमें ही अवस्थित है । मुझसे यह सर्व हुआ है, मैं ही सर्व हूँ, मुझ सनातनमें ही यह सर्व है ।

प्रतीक उपासनाकी परिणति अहंग्रह उपासनामें ही होती है, यह बात आदेशसे सिद्ध होती है । एकदिन मैं गया दर्शन करने ठाकुरजीका । अब हमको यह शास्त्रका आदेश था कि देवताके सामने जाकर बोलना कि :

पापोऽहं पापकर्माऽहं पापात्मा पापसम्भवः ।
पाहि मां पुण्डरीकाक्ष सर्वपापहरो हरिः ॥

सो बोल दिया । अब जो मैंने सोचा कि मैं भगवान्‌के सामने

आपको पापी कह रहा हूँ तो उसी समय यह ख्याल हुआ कि जब भगवान्के सामने मैंने अपनेको पापी स्वीकार कर लिया तो अब मेरे सारे पाप मिट गये। उसके बाद मेरे मनसे क्या निकला : **निष्पापोऽहम्** ( मैं निष्पापी हूँ )। यह प्रतीकोपासनाका फल **अहंग्रहोपासना** हुआ। इस रहस्यको अश्रद्धालु लोग, नास्तिकलोग नहीं समझते।

जब हम अपने हृदयमें भगवान् विष्णुको देखते हैं तो विष्णुजीका और हमारे हृदयका, दोनोंका चेतन एक हो जाता है। हृदयावच्छिन्न चेतन तो मैं हूँ और हृदयस्थ विष्णुका जो आकार है उस आकारसे अवच्छिन्न चेतन विष्णु हैं। परन्तु हृदय और उसमें आकार, ये दो नहीं हैं। अतः हृदयावच्छिन्न चेतन और विष्णु-आकारावच्छिन्न चैतन्य दो नहीं एक हैं, जैसे स्वप्नमें स्वप्न-पुरुषावच्छिन्न चैतन्य और स्वप्नद्रष्टावच्छिन्न ( तैजस चैतन्य ) दो नहीं हैं एक हैं।

अब पूछा था आदेश और बताने लगे ब्रह्मका अद्वितीय स्वरूप ! तब वहाँ आदेशका अर्थ विधि नहीं होगा बल्कि वस्तुज्ञान होगा। जो चीज जैसी है उसको वैसी ही बताना, यह आदेशका तात्पर्य है :

**आ ईषत् संकेतेन देशनम् आदेशः**

केवल संकेतसे वहाँ बात दिखायी गयी, तो वहाँ आदेशका अर्थ उपदेश है। अब सद्विद्या देखो। इस अभेद-स्वरूप सद्विद्याका प्रारम्भ आदेश-उपदेशरूपी व्यावहारिक भेदसे हो रहा है।

दूसरा भेद देखो कि यहाँ सम्बोधन है सोम्य ! गुरु ( आरुणि, श्वेतकेतुके पिता ) और श्वेतकेतु दोनों दो हैं। सम्बोध्य, सम्बोधक व्यवहारमें दो हैं, परन्तु फिर भी अद्वैतका उपदेश करते हैं। जो लोग व्यवहारका लोप करके अद्वैतका उपदेश करना चाहते हैं वे

तो अद्वैतको समाधिकी गुफामें बन्द करना चाहते हैं! अरे यह तो चलते-फिरते, हँसते-बोलतेकी चीज है। आपने यह सुना कि नहीं कि 'घोड़ेकी रकाबमें पैर और ब्रह्मज्ञान!' राजा जनक जब अष्टावक्रको प्रणाम करके घोड़ेपर चढ़ने लगे तो अष्टावक्रजीने समझा दिया कि 'अरे बाबा, तू ही ब्रह्म है।' फूलका मसलना मुश्किल, पलकका गिराना मुश्किल, घोड़ेपर चढ़ना मुश्किल और अपनेको ब्रह्म जान लेना आसान।

तो एक तो आदेश-उपदेशका भेद, दूसरे सम्बोध्य-सम्बोधकका भेद। तीसरी भेदकी बात कही—'अग्रे', अर्थात् सृष्टिके प्रारम्भमें, कालके शुरूमें। चौथी बात भेदकी यह कही कि 'इदम्' अर्थात् प्रत्यक्षतः भेदरूप जगत्। यह भी द्वैत हुआ। फिर कहा—'सदेव आसीत्' (सत् ही था)। समझानेकी यह प्रणाली है कि आपके द्वैतका कहीं खण्डन नहीं करते हैं। वे कहते हैं कि आपको द्वैत दिखायी पड़ता है तो दीखने दो। अनेकताके भानसे हमारा कोई द्वेष नहीं है। अनेकताका भान मिटाकर यदि अद्वैत बनोगे तो मर जाओगे और या तो फिर द्वैतके भान होनेपर फिर अज्ञान आ जायेगा। अद्वैत बनना नहीं है। यह द्वैत दीखता हुआ भी जो अद्वैत है, उस अद्वैतको समझना है। सत्में स्थित नहीं करना है, सत् होना नहीं है, सत् पाना नहीं है। असलमें तुम स्वयं सत् हो, परन्तु इस बातको जानते नहीं हो। इस अज्ञानको मिटानेके लिए व्यवहारके लोपकी आवश्यकता नहीं होती, ठीक इसी प्रकार जैसे कि एक जेवरको सोना जाननेके लिए जेवरको तोड़नेकी आवश्यकता नहीं होती। यह वेदान्तका अभिप्राय है।

अच्छा आओ, अब सत्की सामान्य व्याख्या पहले आपको सुना दें।

आपको जो अलग-अलग सत्ता मालूम पड़ती है—घट सत्,

पट सत्, मठ सत्, इन सब सत्को मिलाकर सत्ता होती है, सत्-सामान्य, सत् जाति। असलमें सत्में जाति नहीं होती, ये घट-पटादिकी उपाधिसे सत्में जातिका अध्यारोप होता है। उपाधिका अपवाद कर दो तो एक अखण्ड सत् है। वह सत् होता है अबाधित। **अबाधितमेव सत्यम्।** जो अबाधित है वही सत्य है। अब घड़ेको बोल सकते हो : घटो नास्ति (घट नहीं है) अथवा 'घटः अस्ति' (घड़ा है)। तो घड़ा अस्ति, नास्ति प्रत्ययका विषय हो सकता है, परन्तु सत् अस्ति, नास्ति प्रत्ययका विषय नहीं है इनका प्रकाशक है।

यहाँ यह बात समझनेकी है कि 'घटः अस्ति' या 'घटो नास्ति' में जो घट है वह बुद्धिस्थ घट है। बुद्धिमें पूर्वानुवृत्त जो घट है उसीको अस्ति (है) या नास्ति (नहीं है) बोला जाता है, बाह्य घटको नहीं। परन्तु अस्ति और नास्ति दोनोंमें सत् है।

'सत्' शब्दका अर्थ होता है अमिट—जो किसी देशमें, किसी भी वस्तुके द्वारा, किसी भी वृत्तिसे मिटाया न जासके। अबाधित सत्ताको सत् कहते हैं।

अच्छा जी, रातको नींद आयी थी, अब नहीं है। पर जिसको नींद आयी थी वही तुम हो या कोई दूसरे हो? वही हैं। इसलिए अमिट क्या है? जाग्रत, स्वप्न या सुषुप्ति? जाग्रत् आयी चली गयी, स्वप्न आया चला गया, सुषुप्ति आयी चली गयी, समाधि आयी चली गयी, जवानी आयी चली गयी और हम वहीके वही। इसलिए ये सब मिट हैं और 'मैं' अमिट। इसीको सत् बोलते हैं।

**प्रश्न :** नहीं जी, हम तो मिटे थे और मिट जायेंगे! आजसे सौ वर्ष पहले हम नहीं थे और सौ वर्ष बाद हम नहीं रहेंगे।

**उत्तर :** यह बात तुम देरकी उपाधिको लेकर बोल रहे हो, अपने स्वरूपकी दृष्टिसे नहीं। घट सौ वर्ष पहले नहीं था और

सौ वर्ष बाद नहीं रहेगा, लेकिन मिट्टी तो सौ वर्ष पहले भी थी और सौ वर्ष बाद भी रहेगी। इसलिए जिस चेतनसे तुम्हारा मैं बना है, जिसमें रह रहा है और जिसमें मिट जायेगा वह चेतन अमिट है, वह सत् है। यह सत्के विचारकी रीति है।

सत् कैसा होता है ? तो कहा 'सदेव आसीत्।' यह कोई बहुत स्वाभाविक संस्कृत नहीं है। 'सत् आसीत्' कहना द्विरुक्ति है। जैसे 'वचनम् अब्रवीत्' ( वचन बोला )में अब्रवीत् ( बोला ) कहना काफी था। वचन ही बोला जाता है, अतः 'वचनम्' अनावश्यक है, केवल क्रियापद 'अबब्रीत्'से ही काम चल जाता। उसी प्रकार यहाँ भी यदि 'आसीत्' इतना ही कहते तो काफी था। 'था' कहनेसे ही सत्का बोध हो जाता। फिर 'सत् आसीत्' कहनेकी क्या जरूरत ? वही अस् धातु भूतकालकी उपाधिसे 'आसीत्' कही जाती है, वर्तमानकी उपाधिसे 'अस्ति' कही जाती है और भविष्यत् कालकी उपाधिसे 'भविष्यति' कही जाती है। परन्तु है तो 'अस्ति' ही। तो सत्में कालकी उपाधि लगा दी और बोले 'सत् आसीत् !' जैसे गन्तव्यमगच्छत्, वक्तव्यमवोचत्, कर्त्तव्यमकरोत् वैसे ही 'सत् आसीत् !' दोहरी बात कहनेसे क्या प्रयोजन है ?

दोहरी बात कहनेमें प्रयोजन यह है कि यदि वह सत् बदलनेवाला ( परिणामी ) सत् होता तब तो केवल आसीत्, अस्ति या भविष्यति क्रियापद मात्रसे उसका बोध हो जाता, परन्तु यह बतानेके लिए कि वह सत् परिणामी सत् नहीं है, श्रुतिने कहा : सदेव आसीत्। जो आसीत् था वह तो अस्ति और भविष्यति हो जाता है लेकिन वह ऐसा था जो 'सत्' था, था ही था। उसमें था, है, होगा नहीं है वह ज्यों-का-त्यों है। सत् एव आसीत्, आसीत् एव। वह ( सत् ) विद्यमान था, वर्तमान नहीं था।

**वर्तते इति वर्तमानः, विद्यते इति विद्यमानः ।**

केवल 'होने'का नाम विद्यमान है और कुछ करते हुए होनेका नाम वर्तमान है। वर्तमानमें बर्ताव है, वर्तन है, प्रवृत्ति है; और विद्यमानमें प्रवृत्ति नहीं है। व्याकरणके पण्डित इस बातको जानते हैं कि 'सत्', 'अस्ति' और 'भवति'का एक अर्थ नहीं है। अस्तिमें 'है' है, भवतिमें परिणाम है। अस्तिमें 'सत्' है; भवतिमें 'भवनम्' है—होना है।

**घटो भवति, मृद् अस्ति ।**

घड़ा होता है, 'मिट्टी है। जहाँ परिणाम है वहाँ 'भू' धातुका प्रयोग होता है और जहाँ केवल अस्तित्व है वहाँ 'अस्' धातुका प्रयोग होता है।

अस्ति अर्थात् 'सत्' ( है ) है; पहले है, अब है, आगे है। उसमें क्रियाका संसर्ग नहीं है।

**संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र सम्मतः ।** ( पञ्चदशी ७.७५ )

अस्ति क्रियाके संसर्गसे रहित जो सत्ता है वह सत् है। वह ऐसा सत् है जिसमें देश भी एक विकल्प है, काल भी एक विकल्प है और वस्तु भी एक विकल्प है। लम्बाई, चौड़ाई, फैलना, सिकुड़ना, पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर, नीचे, बाहर, भीतर ये सब देश-कल्पना हैं; वे सत्में नहीं हैं। कल, आज और कल, आगे, पीछे, काल-कल्पना हैं, ये सत्में नहीं हैं। यह वहकी कल्पना वस्तु-कल्पना है, यह सत्में नहीं है।

**सत् एव आसीत् ।** एव माने 'ही'। सत् ही था। अर्थात् सत्के अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं थी—न देश, न काल, न द्रव्य, न परिणाम, न परिमाण और न परिणममान, न सत्का सजातीय न सत्का विजातीय और न सत्का स्वगतभेद-सम्बन्धी। **एकमेवाद्वितीयम् ।**

सत्का विजातीय असत् होता है ( जड़ नहीं )। और असत् तो होता ही नहीं : **असत्तु असत्**। ( यदि असत् 'होगा' तो वह सत्का विजातीय नहीं होगा )। सत्का सजातीय तो अनेक सत् होता है : घटः सन्, पटः सन्, मठः सन्। परन्तु सत्की अनेकता औपाधिक है, वास्तविक नहीं है अतः सत्का सजातीय कोई अन्य सत् नहीं है। सत्ता अनेक होती ही नहीं है। अब सत्का स्वगत-भेद मानें तो सत्को परिणामी मानना पड़ेगा, परन्तु सत् परिणामी नहीं होता। अतः सजातीय, विजातीय, स्वगतभेदसे रहित, जो सत् है वह **एकमेवाद्वितीयम्** है। 'एकम्'से विजातीयभेदका, 'एव'से सजातीयभेदका और 'अद्वितीयम्'से स्वगतभेदका निरास किया गया।

'सत्' एक शब्द है। सत्, सत् कहनेसे काम नहीं चलता। सत्का लक्षण जानना चाहिए।

**लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः**

शब्द बोलनेसे काम नहीं चलता। उसका लक्षण-प्रमाण जानना चाहिए, तब उसके अर्थकी सिद्धि होती है।

**न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद् ऋते** (वाक्यपदीय १.१२३)

ऐसी कोई स्थिति चित्तकी नहीं होती जिसमें शब्द न रहता हो। कहो कि शान्तिमें कोई शब्द नहीं है तो ऐसा नहीं है। क्योंकि शान्ति टूटती है इसलिए शान्तिको तोड़नेवाली चीज भी शान्ति-अवस्थामें रहती है। वह चीज क्या है? उसका नाम है स्पन्द, कम्पन। यदि स्पन्द नहीं होगा तो कोई अवस्था बदलेगी ही नहीं। जहाँ स्पन्द होगा वहाँ शब्द होगा और जहाँ शब्द होगा वहाँ स्पन्द होगा, यह नियम है। इसलिए शान्तिमें भी शब्द रहता है।

ये जो मध्यकालके शब्दी लोग हैं, सन्त लोग, ये दूसरे हैं :

**'शबदी साखी दूहरे कह कहनी उपखान'**

वाले लोग दूसरे हैं। वेदान्त शब्दवादी नहीं है, वाक्यार्थवादी है और उसमें भी महावाक्यार्थवादी है। यहाँ वाक्यके द्वारा दो अर्थोंकी एकताका बोध होता है। अर्थ हैं दो, उनके लिए पद हैं दो ( जैसे अहम् और ब्रह्म, तत् और त्वम् ) और क्रियापद-सहित अस्मि-सहित, असि-सहित ) जो वाक्य हैं ( अहं ब्रह्म अस्मि या तत् त्वम् असि ) वे भेद-भ्रान्तिका निवारण करनेवाले हैं। शब्द दोहरानेके लिए होते हैं : ॐ ॐ ॐ; रारं, रारं, रारं; सोऽहं सोऽहं सोऽहं; ये शब्द हैं। साँय साँय साँय, चीं चीं चीं, ये कोई चौदह प्रकारके शब्द हैं जो आँख-कान बन्द करके बैठनेपर सुनायी पड़ते हैं। अस्तु।

'सत्' एक शब्द है। वह जड़ प्रकृतिका वाचक है या अद्वय प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न परमात्माका ? भगवान् श्रीशंकराचार्यने दो एक-सी श्रुति साथ-ही-साथ उद्धृत की हैं : **सदेव सोम्य इदमग्रे आसीत्**; तथा **आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्**। एक जगह उसी चीजको सत् कहा गया और दूसरी जगह आत्मा कहा गया। अतः सत् शब्द जड़का नहीं चेतन आत्माका ही वाचक है। उपक्रम-उपसंहारकी एकतासे भी सत् शब्द आत्माका ही वाचक है क्योंकि पहिले कहा कि यह सृष्टि सत्-मूलवाली, सत्-प्रतिष्ठावाली और सत्-आश्रयवाली है ( सन्मूलाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः); फिर कहा कि यह सम्पूर्ण सृष्टि आत्मा ही है ( ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् ); और अन्तमें कहा कि 'वही आत्मा है और वही तुम हो' ( स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो )।

उस सत्को आत्मासे एक करनेके लिए क्या बढ़िया ढंगसे समझाया जा रहा है कि सत्में विशेष नहीं है। प्रकाशक आत्मामें

भी विशेष नहीं है। विशेष माने भेद। आत्मा भेदका प्रकाशक है और सत् भेदका अधिष्ठान है। तो निर्भेद है सत् और निर्भेद है आत्मा। भेदको उचन्त खातेमें डाल दो और फिर देखो कि अधिष्ठान और आत्मा निर्भेद और एक हैं। और जब ये निर्भेद और एक हैं तो उचन्त खातेमें डाला गया भेद कहाँ है? तब भेद-के अत्यन्तभावके अधिकरणमें यह भेद भास रहा है। इसलिए भेद बिना हुए ही भास रहा है और आत्मा एक अद्वितीय सत् है।●

## ३. सद्विद्या ( वितत )

पहले थोड़ी-सी सरल बात आपको सुनायेंगे। हमारे महन्त मण्डलेश्वर लोग जब सत्संगकी बात करते हैं तो पहले तो वह जो कुछ गम्भीर प्रसंग कहना चाहते हैं उसे सुनाते हैं और अन्तमें वे लोग १५-२० मिनटकी कोई कहानी जरूर सुनाते हैं जिससे श्रोता प्रसन्न हो जायँ और अगले दिन फिर सुनने आयें। पहले प्रसंग समझमें आये या न आये, यह दूसरी बात है। परन्तु हम जो बात आपको समझाना चाहते हैं उसको सरल करनेके लिए सरल प्रक्रियाका आश्रय लेते हैं, आपके मनोरंजनके लिए नहीं। बात यह है कि यदि आप सत्सम्प्रदायकी रीतिसे क्रमसे विचार करोगे तब तो आप वेदान्त जहाँ आपको पहुँचाना चाहता है वहाँ पहुँचेंगे, नहीं तो भटक जायेंगे। आप किसी-न-किसी वादके पक्षपाती हो जायेंगे, चाहे वह चार्वाक पक्ष हो या जीववाद, ईश्वर-वाद हो या शून्यवाद। आपको ब्रह्मवादी भी नहीं होना है। आप ब्रह्म हैं, इस बातको आपको आत्मसात् करना है। अपनी-अपनी जगह वाद भी सब सही हैं परन्तु वे सब मीलके पत्थर हैं, मञ्जिल नहीं हैं।

वह क्रम क्या हैं कि पहले आप आनन्दके बारेमें विचार करो,

फिर चिद्के बारेमें और तदनन्तर सत्के बारेमें। **व्युत्क्रमो-क्रमाभ्याम्**—उल्टे और सीधे दोनों ओरसे विचार करना चाहिए। जैसे जब चन्द्रयान भेजते हैं तो सीधी और उल्टी दोनों गिनती गिनी जाती है। छोटे बच्चोंको भी सीधी और उल्टी दोनों प्रकारसे गिनती याद करायी जाती हैं। हमको भी बचपनमें गा-गा करके उल्टी गिनती याद करा दिया था !

जब सच्चिदानन्दका विचार करना हो तो उल्टी ओरसे विचार करना चाहिए। आपका आनन्द कहाँ है ? असलमें आनन्द जहाँ होता है वहीं रहता है। आपको आनन्दका अनुभव होता है तो वह हृदयमें होता है या कहीं और ? सोनेमें, नोटमें, रिश्तेदार-नातेदारमें आनन्द होता नहीं है। पहली प्रक्रिया आप यही स्वीकार करें कि आपका आनन्द कहाँ है—परायेमें कि अपनेमें ? आप नहीं होंगे तो आनन्द कहाँ रहेगा ? आपके बिना तो न मकान है, न धन है, न बेटा है न बेटी है। **सर्वं पदं हस्तिपदे निमग्नम्**—दुनियामें जितने छोटे-बड़े पाँव होते हैं वे सब हाथीके पाँवमें समा जायेंगे। यदि अपना आपा ही नहीं होगा तो आनन्द किसको होगा ? कहावत भी है कि 'हमारी और तुम्हारी दोनोंकी दाढ़ीमें यदि आग लगे तो पहले किसको बुझाओगे ?' बोले अपनी !

तो आनन्द आत्मामें है, विषयमें नहीं है। विषय तो एक ऐसा ढेला है कि जिसको पानीमें फेंकते हैं तो पानी उछलता है। इसी प्रकार विषय तो आनन्दके सरोवरको छलकाता है, बस ! विषयमें आनन्द नहीं है। बेटी-बेटा कहनेसे छलकता है, पैसा-पैसा कहनेसे छलकता है, और राम-राम कहनेसे भी छलकता है ! असलमें अपने बिना कोई आनन्द होता ही नहीं है। ईश्वर भी अपनेको ही आनन्द देता है, गुरु और शास्त्र भी अपनेको ही

आनन्द देते हैं। यदि तुमने अपने आनन्दको किसी दूसरेके घरमें रख दिया तो तुम आनन्दसे वंचित ही हो गये समझो।

एक सज्जन अखबारके सम्पादकजी थे। एक दिन उनको कहींसे ५०० रुपया मिल गया। उसे उन्होंने पत्नीको देकर कहा कि 'रखे रहना, कभी समयपर काम आयेगा।' पत्नीके पेटमें बात पची नहीं। उसने अपनी पड़ोसिनसे बताया कि आज तो ये ५०० रुपया लाये हैं। पड़ोसिन झट बोली: 'देखो, तुम्हारे पति जरा उड़ाऊ खाऊ हैं। इस रुपयाको तुम अपने घरमें मत रखो। हमारे घरमें रख दो।' सम्पादकजीकी पत्नी बात मान गयी। अब महाराज रुपया जो पड़ोसिनके घर गया सो गया। कहावत भी है:

**लेखनी पुस्तिका नारी परहस्तगता गता।**

कलम (पैन), पुस्तक और स्त्री दूसरेके हाथ लगी कि गयी। इसी प्रकार यदि अपने आनन्दको अपने हृदयमें-से निकालकर किसी दूसरेके पास रखोगे तो तुम्हें पराधीन होना पड़ेगा, उसके वियोगमें दुःखी होना पड़ेगा और उसके मरनेपर दुःखी होना पड़ेगा।

तो तुम्हारा आनन्द तुम्हारे हृदयमें, तुम्हारा परमेश्वर तुम्हारे हृदयमें, तुम्हारा आत्मा है—यहींसे प्रक्रिया शुरू होनी चाहिए। विषयमें-से आनन्द निकाल लो, यह सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। शास्त्रकी भाषामें इसीका नाम वैराग्य है। यदि तुम किसी दूसरी वस्तुमें आनन्द मानोगे तो जिस वस्तुसे आनन्द मिलेगा उससे राग होगा और जिससे आनन्द नहीं मिलेगा या जो आनन्द-दायक वस्तुकी प्राप्तिमें बाधक होगा उससे द्वेष होगा। हमारे सत्सम्प्रदायकी (औपनिषद सम्प्रदायकी) रीति यह है कि अपने आनन्दको विषयमें-से निकालकर अपनी आत्मामें आनन्द है—इस

बातको समझिये। अब आत्मामें राम हों या कृष्ण हों या शिव, शक्ति, गणेश हों या सूर्य हों, ईश्वर हों यह बात दूसरी है। उसमें जो आपके दिलमें हैं जब उसमें आपको आनन्द आने लगेगा तब बाहरकी पराधीनता छूट जायेगी। यह पहिली बात है।

दूसरी प्रक्रिया यह है कि विषयमें-से चेतनताको निकाल लो। विषय न कुछ लेता है न देता है, न आता है न जाता। हमारी वृत्ति प्रेम करके उसे आनन्द बना देती है, द्वेष करके दुःख बना देती है और उपेक्षा करके तटस्थ बना देती है। विषय न आनन्दरूप है, न आनन्द उत्पन्न करनेमें समर्थ है। चिदचित्-विवेक कर लो। विषल जड़ है, चेतनता तुम्हारे भीतर है। भीतर घुसो।

पहले जब अपनी प्रियता आत्मामें होगी तो विषयोंकी प्रियता मिट जायेगी और विषयोंसे वैराग्य हो जायेगा। और जब कहोगे कि प्रकाशक मैं हूँ, स्वयं-प्रकाश प्रकाशक मैं हूँ तो विषय जड़ हो जायेंगे। मैं जानूँ तो सब है, न जानूँ तो कुछ नहीं। अब मान लो भगवान् ही सामने खड़े हों और हमें पता न लगे तो क्या भगवान्-के दर्शन होंगे? क्या दुर्योधनके सामने भगवान् नहीं थे? क्या कंसके सामने भगवान् नहीं थे? पर वे पट्ठे पहिचानते ही नहीं थे। वे तो उन्हें अपना दुश्मन पहिचानते थे। यह पहिचानो कि आत्मवस्तुके बिना अनात्म-वस्तुका भान नहीं होता।

विवेक करो—अहंके बिना इदं नहीं होता है और इदंके बिना अहं होता है। इदंसे अहं अन्तरंग है। जो जाना जाता है सो इदं होता है और जो जानता है सो अहं होता है। जो इदंके रूपमें मालम पड़ रहा है वह जड़ है, और जो अहंके रूपमें मालूम पड़ रह. ९ वह चेतन है।

यदि कहो कि हमको तो ये सारे शरीर चेतन मालूम पड़ते

हैं तो ये चेतन नहीं हैं, अर्थात् स्वयं प्रकाश नहीं है, जड़ हैं। जो अपनेको जाने और दूसरोंको भी जाने सो चेतन कहलाता है और जो बिना जाने किसी कामका न हो उसका नाम जड़ है। ज्ञानको ही चेतन बोलते हैं। शांकर सम्प्रदायमें चेतनके दो भेद करके ज्ञानकी अखण्डता समझायी जाती है : एक वृत्ति-ज्ञान और एक स्वरूप-ज्ञान। स्वरूप-ज्ञानसे वृत्ति बाधित हो जाती है और ( वृत्ति ) ज्ञान-स्वरूप ज्ञानसे अभिन्न हो जाता है। रामानुज सम्प्रदायमें धर्म-ज्ञान और धर्मी-ज्ञान शब्दोंका प्रयोग होता है।

अब तीसरी प्रक्रिया देखो। 'साधो आवे-जाय सो माया।' विषय और संसारके व्यक्ति आते हैं और जाते हैं, अतः वे माया हैं, सच्चे नहीं हैं। यार लोग सड़कपर मिलते हैं, वे हमेशाके साथी नहीं होते। जिससे ब्याह हो जाता है वही साथ देता है। यह धर्म हो गया। अब आत्माकी दृष्टिसे देखो कि तुम्हारा सच्चा पति कौन है, सच्चा यार ( सखा ) कौन है ? ये सब झूठे हैं। मन, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति ये सब आत्माकी अपेक्षा जड़ताकी स्थितियाँ हैं। विवेक करोगे तो देखोगे कि आत्मा कैवल्य है। यह कैवल्य-रूप आत्मा सत् है। अपना सच्चा यार, सच्चा पति केवल सत् है, और वह सत् अपना आत्मा है।

उपर्युक्त प्रक्रियाका परिणाम यह निकल आता है कि आत्मा सत्-चित्-आनन्द है और विषय असत्-जड़-दुःखरूप है। इसलिए विषय भी असत् हैं और विषयानन्द भी असत् है।

**प्रश्न :** विषयरूप संसार तो फैला हुआ है और आत्मा छोटा-सा है ! तब संसार असत् कैसे ?

**उत्तर :** फैला हुआ और छोटा-सा वृत्तिमें होता है, आत्मामें नहीं होता। तुम आत्माको छोटा-सा मानते हो इसलिए शास्त्रमें उसको विस्तरित ( ब्रह्म ) बताया गया है। छोटेपनेकी भ्रान्ति

मिट जानेपर आत्माकी अणुता और वृहत्ता दोनों भाव कट जाते हैं। आत्मामें देश नहीं है।

**प्रश्न :** आत्मा नित्य है या अनित्य ?

**उत्तर :** नित्य-अनित्य तो कालमें भासते हैं और वह काल बुद्धिमें भासता है। शुद्ध चेतनमें तो बुद्धि भी नहीं है। अतः आत्मामें नित्यता-अनित्यताका प्रश्न नहीं है। आत्मामें काल नहीं है।

आत्मामें वस्तु भी नहीं है, क्योंकि वह आनन्द है।

जो विषयानन्द है सो दुःख है। जो विषय है सो अचित् ( जड़ ) है। जो अन्य है सो असत् है। जो आत्मा है सो आनन्द है। जो आत्मा है सो चित् है। जो आत्मा है सो सत् है। यह विवेक है।

अपनी आत्मामें सजातीय-विजातीय-स्वगतभेद नहीं हैं। इसमें आनन्दका विजातीय कोई दुःख नहीं है और आनन्दका सजातीय कोई दूसरा आनन्द नहीं है। यह आनन्द कभी गाढ़ा-पतला नहीं होता इसलिए आनन्दमें कोई स्वगत-भेद नहीं है! आत्मामें चित्का विजातीय कोई जड़ नामकी वस्तु नहीं है और चित्का सजातीय कोई दूसरा चित् ( जीव-ईश्वररूप ) भी नहीं है। चित्में कोई अंश किसी अंशका दृश्य नहीं है ( अंशांशी-भाव नहीं है ) इसलिए चित्में स्वगत-भेद नहीं है। आत्मामें सत्की विजातीय कोई नामकी चीज नहीं हैं और सत्का सजातीय कोई दूसरा सत् ( प्रधानादि ) नहीं है। सत्में टुकड़े नहीं हैं, इसलिए उसमें स्वगतभेद नहीं है। सच्चिदानन्द आत्मा सभी प्रकारके भेदोंसे विनिर्मुक्त है।

सत्-चित्-आनन्द एक हैं और असत्-जड़-दुःख एक हैं। चूँकि जड़ और दुःख असत् हैं इसलिए जड़ और दुःखका अस्तित्व नहीं है। और चूँकि चित् और आनन्द सत् हैं इसलिए अपना आत्मा ही सत् है।

यदि आनन्दमें स्थित हो जाओगे तो उपासना हो जायेगी। यदि चित्‌में स्थित हो जाओगे तो द्रष्टाके स्वरूपमें स्थिति हो जायेगी। यदि स्वप्नमें स्थित हो जाओगे तो सम्पूर्ण दृश्य और विषयानन्द मिथ्या हो जायेंगे।

यह आत्मा अद्वितीय है। सद्विद्यामें इसीको सत् कहा गया है। इसमें पहली भूमिका है वैराग्यकी। दूसरी भूमिका है चिदचित्-विवेककी, आत्मा-अनात्मा-विवेककी। यह बिना वैराग्यके नहीं हो सकती। रागी लोगोंकी स्थिति इसीलिए नहीं बनती। उनकी सदैव यही शिकायत रहती है कि उनकी वृत्ति नहीं टिकती।

शंकराचार्य भगवान्‌ने अपने भाष्यमें एक जगह कहा है कि किसीको अगर तुम्हें साधना बतानी हो कि अमुक अभ्यास करो या अमुक आवृत्ति करो तो उसको 'तत्त्वमसि' महावाक्यके अर्थसे विचलित करके या अलग हटाकर कोई साधना या अभ्यास मत बताना। क्योंकि—

**नहि वरविघाताय कन्यास् उद्वाहयन्ति** ( ब्रह्मसूत्र-भाष्य ४.१.२ )

लड़कीकी शादी इसलिए नहीं की जाती है कि वर मर जाय। यदि तुम कोई ऐसी साधना, अभ्यास करते हो कि ब्रह्म और आत्माकी एकताके बोधमें ही बाधा पड़ जाय तो ऐसी साधना, अभ्यास कभी किसीको मत बताना।

जब वह साधक यह स्वीकार करले कि वह मन्दमति है, मन्दप्रज्ञ है, मन्द अधिकारी है, और उसे अद्वैतका भान नहीं हो रहा है, तब उसको दो नम्बरका साधन बताना जिससे आगे चलकर यदि काटना पड़े तो काट भी देना कि 'भाई तुम्हारी समझमें नहीं आया था, तब मैंने ऐसा बताया था!'

मैंने आपको यह सीढ़ी बतायी। पहले, विषयमें आनन्द नहीं है; फिर विषय आत्मा नहीं है; और अन्तमें विषय और विषया-

नन्द सत् नहीं हैं। सत् आत्मा है। वह कालसे अबाध्य है, काल उसमें अध्यस्त है; वह देशसे अबाध्य है, देश उसमें अध्यस्त है; वह द्रव्यसे अबाध्य है, द्रव्य उसमें अध्यस्त है। ऐसा जो सच्चिदानन्द अद्वय ब्रह्म है, वह अपना आत्मा है। यही सद्विद्याका रहस्य है।

यह व्युत्क्रम साधना जो बतायी उससे क्या हुआ कि यह जो परिच्छिन्न मैंपना है, परिच्छिन्न शरीरके द्वारा विषयका आनन्द लेना, परिच्छिन्न चेतन बनकर शरीरमें बैठ जाना और अपनेको शरीर रूपसे ही सत्य मानना, वह सब कट गया!

अब देखो यही जो सत् वस्तु है सृष्टिके प्रारम्भमें भी वही थी। 'एकमेवाद्वितीयम्'। जब सत् वस्तु आत्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है तो यह समष्टि जड़ और समष्टि विषय-भोग सबका आत्मामें समन्वय हो गया। जितना विषयानन्द है सब आत्माका ही आनन्द है और जितना भी जड़ताका भास है वह सब आत्माका ही भास है। जितना भी सद्भास है वह असत् होते हुए भी सद्भास है। जितना जड़-भास है वह चेतन होते हुए ही जड़-भास है। जितना दुःख है वह आनन्द होते हुए ही दुःखाभास है। यह क्या आश्चर्य है कि यहाँ सब अद्वय होते हुए ही द्वयाभास है। अद्वय सच्चिदानन्द एक है और इसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। परमात्मा ही परिपूर्ण है—

**सदेव सोम्य इदमग्रे आसीत्। एकमेवाद्वितीयम्।**

हे सोम्य! हे प्यारे शिष्य! तुम घबड़ाओ मत! दुनियाके व्यवहारमें यह जो दुःख, अज्ञान और मरण आता है वह तो तुम्हारा स्वरूप ही है। वह दुःख नहीं सुख है, अज्ञान नहीं ज्ञान है, मरण नहीं जीवन है। यहाँ वियोग नहीं संयोग है और संयोग नहीं वियोग है। जीवन्मुक्तकी दृष्टि बड़ी विलक्षण है। जो

चीज मिली हुई है उसको मरनेवाली देखता है और जो चीज मर गयी है उसको मिली देखता है। वह संयोगमें वियोगका रस ले रहा है ( यह वैराग्य है ) और वियोगमें संयोगका रस ले रहा है ( यह तादात्म्य है ), परन्तु जीवन्मुक्तकी दृष्टिमें न किसीका संयोग है न वियोग है।

**शिष्य :** गुरुजी, हमको सबसे बड़ा उपदेश दीजिये।

**गुरुजी :** प्यारे शिष्य, यह जो दुनिया दीख रही है वह अपने बननेसे पहले सत् थी—ऐसे ही जैसे घड़ा बननेसे पहले मिट्टी अथवा जेवर बननेसे पहले सोना।

**शिष्य :** कुछ और होगा गुरुजो ?

**गुरुजी :** नहीं, केवल सत् ही था।

**शिष्य :** कुछ तो और होगा गुरुजी ?

**गुरुजी :** नहीं सत् ही था। 'एकमेवाद्वितीयम्।' न सत्का कोई विजातीय था ( एकम् ), न सत्का कोई सजातीय था ( एव ), और न सत्का कोई स्वगत-भेद ही था ( अद्वितीयम् )। वह सत् जड़ नहीं था, चित् था और वह सत्-चित् दुःख नहीं था, आनन्द था। वह सत्-चित्-आनन्द एक सच्चिदानन्द था।

असलमें असत्, जड़, और दुःख इन तीन विकल्पोंके निवारणके लिए आत्मामें सत्, चित् और आनन्द अध्यारोपित हैं। वस्तुतः वह सच्चिदानन्द अद्वय है। 'एकमेवाद्वितीयम्।'

वेदान्ती लोग अद्वितीय शब्दका ज्यादा प्रयोग करते हैं, एकका कम। क्योंकि एक बढ़ती घटती हुई संख्या है १+१ दो हो जाता है और १−१ शून्य हो जाता है। एक गुण है ( गुणित होता है ) जिसमें वृद्धि और ह्रास दोनों होता है। अद्वितीयमें न गुणा है न भाग। अद्वितीय+अद्वितीय=अद्वितीय। सत्ता ऐसी है जो 'एकमेवाद्वितीयम्' है।

सद्विद्याके प्रकरणमें ही आगे कहते हैं कि ऐतदात्म्यमिदं **सर्वम्।** पहले तो यह बताया कि सृष्टिके पूर्व सत् था। अब कहते हैं कि सृष्टि-कालमें जो तुम अनेक देख रहे हो वह एक ही सत् है। जो जीवन है वही मरण है और जो मरण है वही जीवन है! कहीं सोनेमें अंगूठी गढ़ी जारही है तो कहीं अंगूठी टूटकर सोना ही हो रही है। दोनों दशामें स्वर्ण स्वर्ण ही रहता है। अज्ञानी बालक अंगूठी गढ़े जानेपर हँसते हैं और अंगूठी टूटनेपर रोते हैं, परन्तु स्वर्णका पारखी सराफ दोनोंमें सम रहता है क्योंकि स्वर्ण तो स्वर्ण ही रहता है सिर्फ दृष्टिका भेद है।

आप यह जो दुनिया देख रहे हैं, यह वही सत वस्तु है। यहाँ अलग-अलग सत् नहीं है कि यह स्त्री-सत् और यह पुरुष-सत्। स्त्री, पुरुष तो आकृति हैं, व्यक्ति हैं, जाति हैं, और जो सत् है वह आकृति नहीं है, व्यक्ति या जाति नहीं है, वह तो इन आकृतियोंकी मूल धातु है। दुनियामें अलग-अलग नाम मत देखो, अलग-अलग रूप मत देखो। उन नामों और रूपोंमें मत फँसो। सबके भीतर एक ही मूल मसाला है। 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्।' वही जो सृष्टिके पूर्व अद्वितीय था, वह सृष्टिमें अब भी है।

यह सत् कोई दूसरा तो नहीं है? तो कहा, नहीं,

**तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो** ( छां० ६.१६.३ )

'वह सत्य है, वही आत्मा है और हे श्वेतकेतु तुम वही हो।' अर्थात् जो सृष्टिका मूल है वह कोई दूसरा नहीं है, अपना आपा ही है।

बचपनमें हम वेदान्तकी किताब पढ़ते तो सोचते : 'हम तो सन्तनु हैं, बालक हैं, ब्राह्मण हैं, हिन्दू हैं, यह आत्मा कौन है?' फिर सोच लेते : 'होगा कोई। हम नहीं जानते होंगे। मिलेगा

तो हाथ जोड़ लेंगे।' जब सत्संगमें आये तो मालूम पड़ा कि आत्मा तो हमारा ही नाम है।

एक आदमी था, इतना कट्टर हिन्दू कि माने ही नहीं कि हिन्दू-मुसलमान दोनों एक मनुष्य हैं। कहता था: 'हम तो हिन्दू हैं, मुसलमानोंको मारेंगे। हमारे चोटी-जनेऊ है मुसलमानके चोटी-जनेऊ नहीं है। मुसलमानके दाढ़ी है, खतना है, हिन्दूके दाढ़ी नहीं है खतना नहीं है। फिर दोनों एक मनुष्य कैसे?' अब सोचो, उसे हिन्दूसे मनुष्य बननेमें क्या करना पड़ेगा? मनुष्य तो वह है ही, बस जहाँ (बुद्धिमें) हिन्दूपनेका ख्याल है वहाँ 'मैं मनुष्य हूँ' यह ख्याल लाना पड़ेगा। असलमें तो तुम मनुष्य भी नहीं हो, तुम जीवात्मा हो—सुखी-दुःखी, कर्ता-भोक्ता, स्वर्ग-नरकमें आने-जानेवाला, पुनर्जन्म प्राप्त करनेवाला, देहमें देहसे अतिरिक्त। और वास्तवमें तो तुम जीवात्मा भी नहीं हो। जीवधर्मोंके आरोपोंका प्रकाशक एवं अधिष्ठान तथा जीवधर्मोंसे विनिर्मुक्त अद्वितीय शुद्ध ब्रह्म हो तुम! अपने बारेमें ये सारे ख्याल बुद्धिके विपर्ययमात्र हैं। तुम ब्रह्म तो हो ही, बुद्धिमें जहाँ विपर्यय है वहीं मैं नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव अद्वितीय ब्रह्म हूँ' यह प्रमाण-वृत्ति उत्पन्न करनी होगी। अपने ब्रह्म होनेमें उतनी ही तकलीफ है जितनी कि एक हिन्दूको यह समझनेमें कि मैं मनुष्य हूँ। केवल बुद्धिका एक विपर्यय है। दबाया खटका और हो गया प्रकाश! बस इतनेमें ही ब्रह्म-ज्ञान होता है।

माँ-बापने सिखाया कि तेरा नाम सन्तनु है। गुरुने सिखाया कि तेरा नाम अखण्डानन्द है। पहले सफेद कपड़े पहिनते थे, अब लाल पहिनते हैं। अब ब्रह्म-ज्ञान क्या है? ऐसे ही जैसे सन्तनु-का अखण्डानन्द।

हम जीव हैं, यह किसने बताया? नैसर्गिक अविद्या-वासना-

की जो अखण्ड धारा है वही जीवत्वका उपदेश करनेवाली है। हम पापी हैं, पुण्यात्मा हैं, सुखी हैं, दुःखी हैं, संसारी हैं, यह किसने सिखाया? बिना विचारके अविद्यामूलक जो संसार वासना हमारे हृदयमें बह रही है उसने हमको जीव बताया है। और उपनिषद् बताता है कि तुम जीव नहीं हो! अब तुम स्वयं देख लो कि तुम अविद्याके चेले हो कि सद्विद्याके चेले हो! जबतक विषय-वासना, अभिमान, अविवेक बढ़ा रहेगा तबतक तुम अज्ञान-के हुकुममें चलोगे और जब थोड़ा वैराग्य होगा, अभिमान घटेगा, थोड़ा चित्त शुद्ध होगा तब उपनिषद्में जो बात बतायी गयी है उसपर तुम्हारा ध्यान जायेगा। यह उपनिषद्की बात कोई आज्ञा माननेकी बात नहीं है, वह तो वस्तुका अपरोक्ष करानेवाली विद्या है। जब उपनिषद्की दृष्टिसे देखोगे तो पाओगे कि तुम भेदके, परिच्छिन्नताके, साक्षी हो और जो भेदका साक्षी होता है वह स्वयं भेदरूप या परिच्छिन्न नहीं होता। अतः तुम अपरिच्छिन्न ब्रह्म हो।

इस प्रकार—

**यत्सृष्टेः प्रागासीत् यदग्रे आसीत् यत्सदग्रे आसीत् यच्च स्वरूपतः एकमेवाद्वितीयम् ऐतदात्म्यमिदं सर्वं यश्चात्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो।**

'जो सृष्टिसे पहले था, जो सृष्टिके प्रारम्भमें था, जो सत् पहले-प्रारम्भमें था और जो स्वरूपसे एकमेवाद्वितीयं था, वही सत् यह सब है, वही आत्मा है और हे श्वेतकेतु तुम भी वही हो।'

सद्विद्यामें इस प्रकार उपक्रम-उपसंहारकी एकता दिखायी गयी है।

**अस्तीति सत्** ( जो है सो सत् है ) अथवा **अबाधितमेव सत्यम्** ( जो अबाधित है सो सत् है ), इस अर्थमें सत् शब्दको मत लो। सत् ब्रह्मका एक नाम है। **सत् इति ब्रह्म नाम। ॐ तत्सदिति**

निर्देशः । ( गीता १७.२३ ) सत् एक नाम है परमात्माका । अतः 'सदेव सोम्य इदमग्र आसीत्'का अर्थ हुआ कि 'ब्रह्मैव सोम्य इदमग्र आसीत् ।' सृष्टिके पूर्वमें ब्रह्म ही था, 'एकमेवाद्वितीयम्' । वही ब्रह्म यह सब है । वही आत्मा है और वही ब्रह्म तुम हो, हे श्वेतकेतु ! षड्लिंग विधिसे सद्विद्यापर एक दृष्टि डालो ।

( १ ) **उपक्रम-उपसंहार :** एक है । जो सत् है वही आत्मा है, वही तत् है, वही त्वम् है और वही यह सम्पूर्ण प्रपञ्च है । अद्वितीय सत्से उपक्रम करके 'वही तुम हो' 'वही यह सब है' इस अद्वितीयता-में उपसंहार है ।

( २ ) **अभ्यास :** सद्विद्या प्रकरणमें 'तत्त्वमसि' वाक्यको नौ बार दोहराया गया है । अतः सद्विद्याका तात्पर्य तत् और त्वम्की एकतासे सिद्ध आत्माकी अद्वितीयतामें है ।

( ३ ) **अपूर्वता :** सद्विद्याके द्वारा उपनिषद् उस वस्तुको बता रहा है जो किसी भी धर्मानुष्ठान, उपासना, समाधिसे या अन्य किसी प्रमाणसे नहीं जानी जा सकती । अर्थात् ब्रह्मात्मैक्य-बोध या आत्माकी अद्वितीयता एवं अपरिच्छिन्नताका बोध । सद्विद्याके द्वारा उपनिषद्ने सिद्ध आत्माके रूपमें ब्रह्मका साक्षात् अपरोक्ष उपदेश किया है ।

( ४ ) **फल :** सद्विद्याका फल है मुक्ति । **तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये ।** ( छां० ६.१४.२ ) अर्थात् ( आचार्य-वान् पुरुष ही सत्को जानता है और ) उसके लिए मोक्ष होनेमें उतना ही विलम्ब है जबतक कि वह देह-बन्धनसे मुक्त नहीं होता । उसके पश्चात् तो वह सत्सम्पन्न (=ब्रह्मको प्राप्त ) हो जाता है ।

( ५ ) **अर्थवाद :** सद्विद्यामें जो इतिहास है कि सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्मने सृष्टि की । तेज, जल और अन्नकी रचना की ।

और उस सत्‌ने ईक्षण किया कि मैं इस जीवात्मरूपसे इन तीनों देवताओंमें अनुप्रवेश करके नाम और रूपकी अभिव्यक्ति करूँ' ['''**अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणी** (छां० ६.३.२)] यह अर्थवाद है।

असलमें सृष्टिका प्रारम्भ कभी नहीं होता। सृष्टि-प्रलयका जो वेदमें वर्णन है वह सृष्टिसे वैराग्य उत्पन्न करनेके लिए है—ऐसा वेदान्तका मत है। सांख्यवादी भी ऐसा ही मानते हैं परन्तु उनका कहना है कि सृष्टि-प्रलयके चिन्तनसे हमारे राग और द्वेषकी निवृत्ति होती है।

( ६ ) **उपपादन :** नौ प्रकारके दृष्टान्तोंके द्वारा सत्‌की अद्वितीयता बतायी गयी है जैसे मिट्टीका दृष्टान्त, लौह पिंडका दृष्टान्त इत्यादि।

इस प्रकार सद्विद्यामें 'सत्' शब्द अद्वितीय ब्रह्मके लिए प्रयुक्त है। वह ब्रह्म चेतन है क्योंकि उसे आत्मा कहा गया है। फिर भी यदि किसीको शंका हो कि यहाँ सत् शब्द जड़-प्रधानका वाचक है तो इसका विचार आगेके सूत्र :

**गौणश्चेन्नात्मशब्दात्** ( ब्रह्मसूत्र १.१.६ )

में किया गया है।

## ४. सद्विद्या ( वितत )

यह बात सारी दुनिया मानती है कि श्रीशंकराचार्य भगवान्‌-जैसा गम्भीर तत्त्व-विचारक अभीतक नहीं हुआ। आश्चर्य तो यह है कि तत्त्वका निर्णय करनेके लिए जब वे वेद-वचनोंका उद्धरण देते हैं तब बिल्कुल क्रमसे देते हैं। सर्वप्रथम सामवेदीय उपनिषद् छांदोग्यका 'सदेव सोम्य०', फिर ऋग्वेदीय उपनिषद्

एतरेयका 'आत्मा वा०' तदनन्तर यजुर्वेदीय उपनिषद् वृहदारण्यक-का 'तदेतत् ब्रह्म०' तथा अन्तमें अथर्ववेदीय उपनिषद् मुण्डकका 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्।'

श्री शंकराचार्यका अपना वेद, अपनी शाखा, ऋग्वेद था।[1] सम्भवत: इसीलिए उन्होंने ऋग्वेदीय उपनिषद् एतरेयपर सबसे पहले उपनिषद्-भाष्य लिखा। परन्तु यहाँ जब उद्धरण देना हुआ तो पहले सामवेदका उद्धरण दिया : सदेव सोम्य०। वे इस बातको जानते थे कि विचारकी अन्तिम सीमा क्या है! इसके लिए यदि कोई व्यवस्था नहीं होगी तो जो छुटभय्या लोग विचार करेंगे वे अपने विचारको ही विचारकी अन्तिम सीमा बतायेंगे। इसलिए सीमाके लिए कोई संविधान चाहिए, कोई मर्यादा चाहिए। और वह सीमा द्वैतपर समाप्त नहीं होती है, अद्वैतपर समाप्त होती है। अद्वैतमें भी प्रत्यक्ष जड़ाद्वैतपर समाप्त नहीं होगी क्योंकि जड़ाद्वैतका प्रकाशक तो अपना आत्मा होगा। परोक्ष ईश्वराद्वैत-पर भी समाप्त नहीं होगी क्योंकि उसका प्रकाशक भी आत्मा होगा। अपरोक्ष शून्याद्वैतपर भी समाप्त नहीं होगी क्योंकि उस शून्यका प्रकाशक भी आत्मा होगा। वह तो साक्षादपरोक्ष आत्मा-द्वैतपर ही समाप्त होगी। क्योंकि किसी अन्यको यदि अद्वैतके रूपमें देखोगे तो देखनेवाला उस अद्वैतसे न्यारा होकर बैठ जायेगा और उस देखनेवालेकी सत्ताको कोई काट नहीं सकेगा। जब कोई भी वस्तु अद्वितीय होगी तो वह स्वरूप होकर ही अद्वितीय हो सकती है, अन्य होकर अद्वितीय नहीं हो सकती।

तो ज्ञानकी अवधि क्या है? यह कि ज्ञान स्वयं अद्वितीय रूपमें रहे। दूसरे शब्दोंमें, ज्ञानका कोई ज्ञाता न हो और ज्ञानका कोई ज्ञेय न हो। ज्ञानका ज्ञेय ज्ञानका विजातीय होगा और ज्ञानका

---

१. मतान्तरमें शङ्कराचार्य यजुर्वेदी थे।

ज्ञाता ज्ञानका सजातीय होगा। ज्ञानमें जो परिवर्तन, परिणाम होगा वह ज्ञानमें स्वगत-भेदरूप होगा। क्योंकि ज्ञान स्वरूपतः सजातीय, विजातीय, स्वगत-भेद रहित है ( अद्वितीय है )। अतः न तो ज्ञानका कोई दूसरा ज्ञाता है, न ज्ञानका कोई दूसरा ज्ञेय है और न तो ज्ञानमें स्वयं किसी प्रकारका परिवर्तन और परिणाम है। दूसरा ज्ञेय नहीं है, यह कहनेसे ज्ञानमें देश, काल, वस्तु तीनोंका बाध हो गया; दूसरा ज्ञाता नहीं है, यह कहनेसे ज्ञान स्वयं-प्रकाश है, अल्पज्ञ या सर्वज्ञ नहीं है; यह बात सिद्ध हो गयी। ज्ञान परिणामी नहीं है, यह कहनेसे ज्ञान क्षणिक विज्ञान अथवा क्षणिक विज्ञानकी धारा नहीं है, यह बात सिद्ध हो गयी। ज्ञान परिणामी नहीं परिणामका साक्षी है।

ज्ञानको कालमें प्रवाही मानना कालको ज्ञानसे बड़ा मानना है। ज्ञानको देशमें संकोच-विस्तारवाला मानना देशको ज्ञानसे बड़ा मानना है। ज्ञानको घट-पटादिके भेदसे भिन्न-भिन्न मानना वस्तुको ज्ञानसे बड़ा मानना है। जबकि असलियत यह है कि ज्ञानके बिना देश, काल, वस्तु, किसीकी सिद्धि नहीं है। देश, काल, वस्तु ज्ञानमें अध्यारोपित आकारमात्र हैं। आत्मा ज्ञान-स्वरूप 'एकमेवाद्वितीयम्' है।

इस तरहसे अद्वितीयता कहीं भी आत्मासे भिन्न वस्तुमें नहीं हो सकती। परोक्षमें अद्वितीयता कल्पित होगी। प्रत्यक्षमें अद्विती-यता अपनेको बेहोश करके ही हो सकती है। शून्यमें अद्वितीयता अपना बाध करके हो सकती है। परन्तु न तो अपनेको बेहोश किया जा सकता है और न अपना बाध किया जा सकता है। इसलिए प्रत्यक्ष ( जड़-प्रकृति ) या शून्य अद्वय नहीं हो सकता। परोक्ष वस्तुकी कल्पित अद्वितीयताके साक्षात्कारका साधन यदि परोक्ष वस्तुके साथ तन्मयताको मानें, तब सायुज्यमें-से भी

निकलना होता है और तदनन्तर अपना आपा शेष रहता है, इसलिए परोक्ष ईश्वर भी अद्वितीय नहीं हो सकता। श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, सबसे यही सिद्ध है कि प्रत्यक्ष, परोक्ष और शून्यमें जो अद्वितीयता मानी जाती है वह असंगत है और एक-मात्र आत्माद्वैत ही सिद्ध है। भगवान् शंकराचार्य जी यही बात कहना चाहते हैं।

जहाँ धर्म और धर्मके फलका प्रतिपादन होता है वहाँ केवल शास्त्र प्रमाण होता है। और वह बिलकुल ठीक होता है। तत्त्व-ज्ञान होनेके पूर्व जितनी व्यावहारिक सत्यताएँ हैं वे ज्योंकी-त्यों स्वीकार हैं। क्योंकि मनुष्य केवल श्रमिक ही नहीं है, वह धार्मिक भी है। यह जो मनुष्यका जीवन है वह तीन प्रकारकी धाराओंमें बह रहा है :

( १ ) **अविद्याकी धारा :** इस धारामें नाम-रूप-आकृति बनती है, बिगड़ती है।

( २ ) **कामनाकी धारा :** इसमें नाम-रूप-आकृतिका बीज है कि शक्ल-सूरत कैसी बने और कैसी न बने। कामनाके अनुसार शरीरसे कर्म होता है और कर्मसे कामना होती है। कर्म करते-करते थककर जड़ हो जाते हैं और कामना करते-करते बेहोश हो जाते हैं।

( ३ ) **कर्मकी धारा :** कामनासे प्रेरित कामनाकी पूर्तिके लिए किये जानेवाले कर्मोंकी धारा।

ये नैसर्गिक धाराएँ हैं। जबतक मनुष्य कर्ममें रस लेता है, कामनाकी पूर्तिमें रस लेता है और बेहोशी, निद्रा, सुषुप्तिमें रस लेता है तबतक वह मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, घोर और शान्त अवस्थाओंमें यहाँसे वहाँ और वहाँसे यहाँ डूबता-उतराता रहता है। जब विवेक करके वह अपनेको जाग्रत् आदि अवस्थाओंसे विविक्त कर

लेता है कि 'मैं इस जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, समाधि अवस्थाओंका साक्षी हूँ' पञ्चकोषोंका विवेक करके अपनेको इनसे विविक्त कर लेता है कि 'मैं इन अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोषोंका साक्षी हूँ', तब कहीं यह साक्षिता परिच्छिन्न होकर न रह जाय, वेदान्त प्रस्तुत होता है यह बतानेके लिए कि यह जो तुम पञ्चकोषोंसे विविक्त तथा पञ्चकोषोंके साक्षी हो, तुम जो इन जाग्रतादि अवस्थाओंसे विविक्त इनके साक्षी हो, वह तुम देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न सजातीय, विजातीय, स्वगतभेद-रहित नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म हो !

वेदान्त माने तीन अवस्थाओंसे अपना विवेकमात्र नहीं होता, वह तो सांख्य और योगसे ही हो सकता है। वेदान्त माने पञ्च-कोषोंसे अपना अलगावमात्र नहीं होता, वह तो विचारसे देखनेपर बुद्धि ही न्यारी सिद्ध कर सकती है। वेदान्तकी यह विशेषता है कि वह परोक्ष स्वर्गके समान ब्रह्मका, आत्माका वर्णन नहीं करता। आत्मामें तो साक्षात् अपरोक्षकी योग्यता होती है अतः वेदान्त आत्माका जो वर्णन करता है वह अनुभव-पर्यवसान करता है।

यह बात शांकर-भाष्यमें भी और भामतीमें भी बिलकुल स्पष्ट है कि यदि एक आदमी किसी ऐसी चीजका वर्णन करे जो कभी देखनेमें न आये और एक दूसरा आदमी किसी ऐसी चीजका वर्णन करे जो बताते ही दीख जाय तो पहला आदमी अप्रामाणिक होगा और दूसरा आदमी प्रामाणिक होगा, क्योंकि प्रत्यक्षादिके अनुसार जब वर्णन होता है तभी वह सच्चा होता है। परन्तु वेदान्त जो वर्णन करता है वह प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे देखी हुई चीजका वर्णन नहीं करता वह तो इस प्रकार वर्णन करता है कि तुम स्वयं हो।

यदि कहो कि अज्ञात-ज्ञापनसे वेदान्त वर्णन करता है तो अज्ञातज्ञापकरूपसे भी वेदान्तका प्रामाण्य नहीं है। मूल बात यह है कि अज्ञातको कोई जना दे तो वह प्रमाण हो जाता है परन्तु वेदान्त ऐसा प्रमाण नहीं है। तब कैसा प्रमाण है ? वेदान्त ब्रह्मको इन्द्रियोंसे नहीं दिखाता, ब्रह्मका ध्यान मनमें नहीं लगवाता और ब्रह्मको बुद्धिके पेटमें भी नहीं भरता। वह प्रतिषेध-प्रतिषेध्य-रूपमें ब्रह्मका निरूपण करता है; केवल असद्-व्यावृत्तिरूपसे ब्रह्मका वर्णन करता है। अर्थात् आत्मासे अलग जो चीज मालूम पड़ती है वह ब्रह्म नहीं हो सकती क्योंकि उसके ब्रह्म होनेमें बाधा ही तो आत्मा है ( जब ब्रह्मसे अतिरिक्त आत्मा नामकी एक चीज बनी हुई है तब ब्रह्म अनन्त एवं अद्वितीय कहाँ हुआ ? ) इसीलिए अन्यरूपसे निषेध करता है वेदान्त। वेदान्तका काम है कि वह तुम्हारी आँखमें जो रोग है उसको मिटा दे, जो पर्दा पड़ गया है उसको हटा दे, आवरणको भंग कर दे। अर्थात् जिसका निषेध करना है उसका निषेध कर देता है वेदान्त। वह ज्ञेयका निषेध करता है, बदलनेवाली वृत्तिका निषेध करता है, अहंके साथ जो ज्ञान है ( ज्ञाता, अल्पज्ञया सर्वज्ञ ) उसका निषेध करता है।[1] ज्ञाता, ज्ञेय और परिणामके आकारोंसे विनिर्मुक्त ज्ञान एकमेवाद्वितीय ब्रह्म है वही तुम हो, उसीका नाम सत् है जिसका 'सदेव सोम्य इदमग्र आसीत्' श्रुतिमें वर्णन किया गया है।

वेदान्तका ऐसा निर्वचन है कि जिसमें परिच्छिन्न अहंता—व्यष्टि या समष्टि नहीं है, जिसमें व्यष्टि या समष्टि-रूप ज्ञेय नहीं है और जिसमें स्वयं परिवर्तन नहीं है, ऐसा जो ज्ञानस्वरूप है वही अपना आत्मा है और इसके अतिरिक्त जो कुछ भासता है वह बिलकुल झूठा है।

---

१ इदमाकार ज्ञान ज्ञेय है और अहमाकार ज्ञान ज्ञाता है।

**सदेव सोम्य इदमग्र आसीत्। एकमेवाद्वितीयम्।**

'इदं सदेव आसीत्' ( यह सत् ही था )। लो, पहले ही 'वदतो व्याघात' हुआ ! 'इदम्' भी कहोगे और 'सत्' भी कहोगे ? 'इदम् सत्' पहले ही द्वैत निकल आया ! इस बोलनेकी शैलीको समझो।

जैसे कोई कहे कि 'इदं रजतम्' ( यह चाँदी है )। तो इसमें 'इदम्' जो है उसका अर्थ है—सामान्य सत्ता और 'रजतम्'का अर्थ है—प्रतीयमान सत्ता। रजत जिसमें प्रतीत हो रही है वह है 'इदम्'। जब शुक्तिको ( सीपीको ) भ्रमसे ऐसा बोलते हैं कि 'इदम् रजतम्' ( यह चाँदी है ) तो उसका अर्थ होता है कि शुक्तिका ही रजतके रूपमें भास रही है। माने रजतके रूपमें जो यह भास रही है वह असलमें शुक्तिका है। भ्रमके इस उदाहरणमें रजत और शुक्तिकाका सामनाधिकरण्य है। इस अनुभव-वाक्यमें कि 'यह ( सीपी ) चाँदी है' चाँदी बाधित है और इदमर्थ जो सीपी है वह सच्ची है। इसलिए बोलनेकी इस शैलीको बाध-समानाधिकरण्य कहते हैं।[1]

अब यहाँ जब कहा कि 'इदम् सदेव आसीत्' तो इसका अर्थ हुआ कि अज्ञान-कालमें ( प्रतीति-कालमें ) जो इदम्के रूपमें भास रहा है वह ज्ञान-कालमें, वस्तुतः सत् है।

**प्रतीतितः यत् इदं तत् वस्तुतः सत्।**

---

१. दो शब्दोंका एक ही विभक्तिमें जब प्रयोग किया जाता है तब समान अधिकरणमें प्रयुक्त होनेके कारण उनका सामानाधिकरण्य होता है। मुख्य सामानाधिकरण्य ( जैसे घटाकाश महाकाश है ) बाध सामानाधिकरण्य ( जैसे इदम् रजतम् ), विशेषण-विशेष्य भावमूलक सामानाधिकरण्य ( जैसे कमल नीला है—नीलम् उत्पलम् ), कार्य-कारण भावसे सामानाधिकरण्य ( जैसे घड़ा मिट्टी है )—ये उसके कई भेद हैं।

अब आप सद्वस्तुका स्वरूप सुनो। हमारे उपासकोंने इसका बड़ा-बड़ा विचित्र अर्थ किया है। वह सब अर्थ हम आपको नहीं सुनायेंगे क्योंकि फिर जो आपका मन एक अर्थके निश्चयमें लगा हुआ है वह उधरसे गड़बड़ा जायेगा। केवल नमूनेके लिए आपको सुनाते हैं।

जैसे 'तत्त्वमसि' महावाक्य है। एक उपासक मिले। उन्होंने कहा 'कि छोटेसे जीवको, अणुको, ब्रह्म बताना असंगत है। मुख्यार्थ बैठता ही नहीं है। कण पहाड़ नहीं है, कण पहाड़का है। 'कण पृथ्वी हैं' जब यह कहा जाता है तो इसका अर्थ यह है कि कण पृथ्वीसे निकला है और पृथ्वीमें मिल जायेगा। तो कण पृथ्वीमें मिलनेके लिए है, इस वाक्यका यह अर्थ है। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वाक्यका अर्थ है कि आत्मा ( जीव ) परब्रह्म परमात्मासे अग्निसे चिनगारीकी तरह निकला है, उसीमें उड़ रहा है और उसीमें मिल जानेके लिए है। **ब्रह्मणे महते आत्मानं युञ्जीत।** इसलिए 'तत्त्वमसि'का अर्थ है—**तस्मै त्वम् असि** ( उसके लिए, उसीमें मिलनेके लिए तुम हो )।' उन्होंने चतुर्थी विभक्तिका प्रयोग कर दिया।

दूसरे उपासकने अर्थ किया—**यतः त्वम् उत्पद्यसे ततः त्वम् असि।** अर्थात् जिससे तुम्हारी उत्पत्ति हुई है उसीसे तुम हो। उन्होंने पंचमी कर दी : **तत् ततः तस्मात् त्वम् असि।**

तीसरे उपासकजीने षष्ठी विभक्तिका प्रयोग किया—**तस्य त्वम् असि।** उस परमात्माके तुम हो। क्योंकि परमात्मा 'कारण-कारणाधिपः' है, वह तुम्हारा स्वामी है।

चौथे उपासकने कहा कि क्योंकि अन्तमें ब्रह्ममें ही लीन होना है अतः तत्त्वमसिका अर्थ है—**तस्मिन् त्वम् असि**=उसीमें तुम हो। इन्होंने सप्तमी विभक्ति कर दी।

पाँचवेने कहा : यहाँ 'तत्त्वमसि'में शरीर-शरीरीभावसे त्वम्‌को तत् कहा गया है। जैसे शरीरमें जीव रहता है वैसे ही जीवमें परमेश्वर रहता है। ईश्वरका शरीर जीव और जीवका शरीरी ईश्वर, ठीक वैसे ही जैसे जीवका शरीर यह अस्थि मांस चामका पिण्ड और इस शरीरका शरीरी जीव। इसको शरीर-शरीरीभाव या विशेष-विशेष्यभाव भी कहते हैं। (उनके अनुसार) यहाँ तत्त्वमसिमें इसी भावसे त्वम्‌को तत् कहा गया है।

अब इस अर्थमें व्याकरणकी जो गड़बड़ी है उसपर ध्यान दो। 'असि' जो मध्यम पुरुषकी क्रिया है वह त्वम्‌की प्रधानतामें ही तो बैठेगी न! अतः त्वम् तत् असि (तुम वह अज्ञात तत् हो) यह अर्थ हुआ। लेकिन यदि शरीरी मान लिया जाय तब तो 'शरीरं नष्टम्'से 'शरीरी नष्टः' यह अर्थ निकलेगा। परन्तु शरीरके नाशसे शरीरीका नाश नहीं होता। इसलिए शरीर और शरीरीमें सामानाधिकरण्य नहीं है।

उपर्युक्त सब अर्थोंमें मुख्यार्थको छोड़कर अर्थ किया है। ऐसी स्थितिमें तत्त्वमसिका क्या अर्थ समझा जाय? वह यह है :

**त्वं तत् सत् असि। यत् सृष्टेः प्राक् एकमेवाद्वितीयम् आसीत्। यत् इदानीमपि एकमेवाद्वितीयम् अस्ति। यत् पश्चादपि एकमेवाद्वितीयं भविष्यति।**

तुम वह सत् हो जो सृष्टिके पूर्व एकमेवाद्वितीयम् था, जो इस समय भी एकमेवाद्वितीयम् है और बादमें भी एकमेवाद्वितीयम् रहेगा। अर्थात् कालकी दाल जिसमें नहीं गलती वह सत् तुम हो। **तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतोः** इस श्रुतिसे यही तात्पर्य निकलता है।

**प्रश्न :** सत्‌को जड़ ही क्यों न माना जाय?

**उत्तर :** ठीक है, यदि 'इदम् अद्वितीयम्' है तब 'अहं किम्?'

यह प्रश्न तो रह ही जाता है। इसी प्रकार यदि 'तत् अद्वितीयम्' तो 'अहं किम्' तथा यदि 'शून्यम् अद्वितीयम्' तो 'अहं किम् ?' 'इदम्', 'तत्' और 'शून्य' तीनों अहंकी भित्तिपर खड़े होते हैं—**निरधिष्ठाने प्रतीत्यभावात्।** साक्षीके बिना तीनोंमें-से किसीकी भी हस्ती नहीं है। अतः आत्माकी अद्वितीयता ही सिद्ध है।

वह सत् आत्मा ही है, यह बतानेके लिए ही भगवान् श्री शंकराचार्यने 'सदेव सोम्य इदमग्र आसीत्' श्रुतिके तुरन्त बाद ही 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' इस श्रुतिको उद्धृत किया है। उपनिषद्में सत् ब्रह्मका वाचक है, आत्मा और ब्रह्म एक है।

ब्रह्मसूत्रमें ब्रह्मका लक्षण किया—जन्माद्यस्य यतः। 'अस्य' अर्थात् इस जगत्का जन्म होता है, स्थिति प्रलय होती है और यह इदम् है। परन्तु जिस ब्रह्मसे इसका जन्म-स्थिति-भंग होता है वह इदम् नहीं है और जन्म-स्थिति-भंगवाला नहीं है। वह 'यत्' पदसे लखाया गया।

अब जब वेदमें उस ब्रह्मका वर्णन हुआ तो कहा कि जिससे हिरण्यगर्भकी उत्पत्ति हुई, वह ब्रह्म है :

**हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।**
( ऋग्वेद १०.१२१.१ )

जातः हिरण्यगर्भः। ब्रह्मका पहला बच्चा कौन ? कि हिरण्यगर्भ। हिरण्यगर्भ माने एक अण्डा। ब्रह्म है पक्षी—तीतर और उसका पहला अण्डा है हिरण्यगर्भ। वह हिरण्यगर्भ क्या करता है?

**स दाधार पृथिवीं द्याम्** ( ऋग्वेद १०.१२१.१ )

वह द्युलोक और पृथ्वीलोकको धारण करता है। अब यदि सत् जड़ होगा तो हिरण्यगर्भको उसका विकार मानना पड़ेगा। ब्रह्ममें ईषत् विकृति माननी पड़ेगा। अतः सत् जड़ नहीं हो सकता।

उपनिषद् कहता है कि ब्रह्म केवल हिरण्यगर्भका बाप ही नहीं है, वह हिरण्यगर्भको वेदका दान भी करता है :

**यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।**
**तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥**

( श्वेता० ६.१८ )

ब्रह्म विकृत होकर हिरण्यगर्भ नहीं बना। ब्रह्ममें हिरण्यगर्भकी आकृति बनी और ब्रह्म ही हिरण्यगर्भमें आभास चेतनके रूपमें आया। वही हमारी बुद्धिका साक्षी है अर्थात् वही त्वं-पदार्थ है। यह परमात्माका वर्णन है जो हमारी आत्मासे अभिन्न है। इसलिए सत् और आत्मा एक है।

**समस्त-आकृतिप्रत्ययाधिष्ठानत्वे सति प्रत्यक्चैतन्याभिन्नत्वं ब्रह्मत्वम्।**

समस्त आकृति और प्रत्ययोंका जो अधिष्ठान है और जो प्रत्यगात्मासे अभिन्न है वह ब्रह्म है। उसीका नाम सत् है।

ब्रह्मका ( सत्का ) अब दूसरा लक्षण सुनाते हैं :

'तस्मात् प्राणः' इस श्रुतिसे पहले परमात्मासे प्राणकी उत्पत्ति हुई, फिर प्राणसे रयिकी उत्पत्ति हुई। प्राण अर्थात् बल, क्रियाशक्ति। रयि अर्थात् प्रज्ञाशक्ति, ज्ञानशक्ति। ये दोनों जिससे उत्पन्न होते हैं। वह ब्रह्म है। यह वैज्ञानिक ब्रह्म है। दोनों शक्तियोंकी उत्पत्तिका अधिष्ठान, दोनोंका प्रकाशक और जिससे ये दोनों हैं वह ब्रह्म है। इस दृष्टिसे सत् वह है जिसमें स्पन्दन होता है और जिसमें रस आता है।

अब तीसरा लक्षण लो।

**एकोऽहं बहुस्याम् प्रजायेय।** यह श्रुति है। 'एकोऽहं' छान्दोग्य श्रुति ( ६.२.३ ) में नहीं है। 'बहुस्याम्' में जो 'स्याम्' क्रियापद है वह वक्ताको अहं सिद्ध कर ही देता है। वह तो एक होगा ही।

तो परमात्माने संकल्प किया कि मैं बहुत हो जाऊँ। उसने तेज उत्पन्न किया। फिर तेजने संकल्प किया कि मैं बहुत हो जाऊँ। तब जलकी रचना हुई। फिर जलने संकल्प किया कि मैं बहुत हो जाऊँ। अन्नकी रचना हुई। इस प्रकार सत्से उत्तरोत्तर संकल्पके द्वारा तेज, जल और अन्न तीन चीजें उपन्न हुईं।

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत।
तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजत॥
( छां० ६.२.३ )

ता आप ऐक्षन्त बह्वयः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त।
( छां० ६.२.४ )

मूल बात यह हुई कि तेज, जल और अग्नि सत्के (परमात्माके) ईक्षणसे उत्पन्न हुए। अतः सत् जड़ नहीं चेतन ही है। ईक्षण कहनेका अर्थ ही यह हो गया कि सृष्टि चेतन सत्के अतिरिक्त किसी तत्त्वान्तरसे बनी हुई नहीं है, परब्रह्म परमात्मामें भानमात्र है। जैसे जीवके संकल्पसे जीवके अन्दर स्वप्नमें सृष्टि होती है वैसे ही सत् ( ईश्वर ) के संकल्पसे ईश्वरमें यह सृष्टि होती है। अतः यह ईश्वररूप ही है।

मीमांसक कहते हैं कि सष्टि कर्मसे हुई है। इसका अर्थ है कि सृष्टि वास्तविक नहीं है कर्मसे बनी है। बनती है तो बिगड़ भी जायेगी। यह वस्तु नहीं है, नाम-रूप है, बना है बिगड़ जायेगा।

सांख्यवादी मानते हैं कि पंचभूततक ही कार्य है। आत्मा न कार्य है, न कारण। तब यह हजारपना क्या है कि मिथ्या है, सिर्फ पाँचपना सत्य है। आत्मा और बुद्धिके बीचमें बैठकर जो प्रकृति सृष्टि करती है वह तो बिलकुल दृश्यमात्र ही है इसलिए अपने अधिष्ठानमें वह मिथ्या ही है।

न्याय-वैशेषिक निरवयव परमाणुसे सृष्टि मानते हैं। जब निरवयव परमाणुओंका परस्पर संयोग ही नहीं हो सकता तब उनसे बनी सृष्टि सच्ची कहाँसे हो सकती है?

हमारे सारे दर्शन और सारे साधन अद्वैत वेदान्तसे सुसंगत होकर ही जीवन लाभ करते हैं। यदि वे अद्वैत वेदान्तसे मेल-जोल करके न रहें तो सब-के-सब मर जायेंगे।

इसलिए सत् कौन है? वेदान्त प्रतिपादित जो ब्रह्म है वही सत् है और वह एकमेवाद्वितीयम् है।

## ५. सद्विद्या बनाम आत्मविद्या

**इदं सदेव आसीत्** : यह जो दृश्यमान प्रपञ्च है वह सत् ही था। यहाँ इदम्का बाध होकर सत्स्वरूपताके साथ सामानाधिकरण्य है। जैसे कोई **अयं सर्पो रज्जुः** बोले तो उसका अर्थ होता है कि तुम्हारी दृष्टिमें यह जो सर्प दीख रहा है वह वस्तुतः रज्जु है। वहाँ 'सर्प भी सत्य है' और 'रज्जु भी सत्य है' यह कहनेका अभिप्राय नहीं है। 'साँप रस्सीमें लिपटा हुआ है' यह बतानेमें भी अभिप्राय नहीं है। न तो सर्प रज्जुका विशेषण है (जैसे नीलम् उत्पलम्में नीलता कमलका विशेषण है) न सर्प रज्जुका कार्यकारण है और न सर्प और रज्जुका संयोग है। इसी प्रकार न तो प्रपञ्च सत्का कार्य है, न विशेषण है, न संयोग है। सत् एक रस है और उस एक रस सत्में इदम् जो है वह सर्पवत् प्रतिभासित हो रहा है। 'इदं सदेव आसीत्'में न संसर्ग-रूप वाक्यार्थ है और न विशिष्ट-रूप वाक्यार्थ है। **संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र सम्मतः** (पञ्चदशी ७.७५)

**अग्रे**—पदका अर्थ है, इदम्के साथ प्रतीयमान काल। जब

हमको कोई चीज यहके रूपमें मालूम पड़ती है तो उसके साथ उसकी पहली-पिछली स्थितिकी भी कल्पना होती है। आप जानते हैं कि सारे ही भेदोंको—जगत्-जगत्का भेद, जीव-जगत्का भेद, जीव-जीवका भेद, ईश्वर-जगत्का भेद, जीव-ईश्वरका भेद—मनकी क्रियाशील अवस्थामें ही जीवनलाभ होता है। घट-पटका भेद ( वस्तु-भेद ), आजकलका भेद ( काल-भेद ), यहाँ वहाँका भेद ( देश-भेद ) यह सब जगत्-जगत्के भेदके अन्तर्गत हैं। मैं तूका भेद जीव-जीवका भेद है। मैं शरीरका भेद जीव-जगत्का भेद है। मैं अल्पज्ञ और वह सर्वज्ञका भेद जीव, ईश्वरका भेद है। सत् और इदंका भेद ईश्वर, जगत्का भेद है। ये सम्पूर्ण भेद जाग्रत्-स्वप्नमें मनके रहनेपर भासते हैं और सुषुप्तिमें मनके न रहनेपर नहीं भासते हैं। इसलिए भेद भान मनके अधीन है। वह जाग्रत-वत् है, स्वप्नवत् है, परन्तु सुषुप्तिमें भेद नहीं है। इसीसे हमारे योगियोंने कहा कि 'तुम क्या भेद मिटाने जा रहे हो, मनको रोक लो, भेद मिट जायेगा !' परन्तु मनको रोकनेपर भी भेद-बीज नहीं मिटता। भेदका बीज रह जाता है तभी तो सुषुप्ति-समाधिसे उठनेपर पूर्ववत् सम्पूर्ण व्यवहार चालू हो जाता है।

अच्छा लो, हमने बीजको भी छोड़ दिया। बीजत्व तो चित्तकी घोर और शान्त अवस्था तक ही रहता है। हम साक्षी हैं। साक्षीमें बीज नहीं है। ठीक है, परन्तु साक्षीमें स्थित हो जानेपर भी अज्ञान फिर भी शेष रह जायेगा, क्योंकि दूसरा द्रष्टा है कि नहीं यह भी तुमको नहीं मालूम है, ईश्वर है कि नहीं यह भी तुमको नहीं मालूम है और अपना आपा सान्त है कि अनन्त है यह भी तुमको नहीं मालूम है। इस प्रकार जाग्रत्-अवस्थामें जो तुमको अज्ञान था वह जब-जब तुम व्यवहारमें उतरोगे तब-तब

बना रहेगा भले तुमको समाधि लग जाय अथवा तुम साक्षी भावमें स्थित हो जाओ।

इसलिए आओ वेदान्तके द्वारा भेद-भ्रमको मिटा लो। फिर न यहाँ भेद है न वहाँ, न अब भेद है न तब, न इसमें भेद है न उसमें। भेदको जाग्रत्-अवस्थामें वेदान्त-विचारके द्वारा मिटा लो। यदि तुम जाग्रत्-अवस्थामें, होश-हवासमें भेदको नहीं मिटाओगे तो फिर कहीं नहीं मिटेगा। इसीसे श्रवण मुख्य है। श्रवण जाग्रत् अवस्थामें गुरुके सामने बैठकरके होता है। समाधिमें या द्रष्टाकी स्थितिमें अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती।

सदेव सोम्य इदमग्र आसीत्। एकमेवाद्वितीयम्।···तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो: एकने कहा कि 'शून्यमेव सोम्य इदमग्र आसीत्।' इससे पूर्व शून्य ही था। अब इनसे पूछो कि :

**शून्यमासीद् इति ब्रूषे सद्योगं वा सदात्मताम् ?**

(पञ्चदशी २.३२)

यह जो तुम कहते हो कि शून्य था तो शून्यमें थापना कहींसे आकर जुड़ गया था इसलिए 'शून्य था' ऐसा बोलते हो या कि शून्यमें थापना पहलेसे ही था इसलिए 'शून्य था' ऐसा बोलते हो ? माने सत्का संसर्ग है शून्यमें या सत्से विशिष्ट है शून्य ? अन्यथा शून्यके साथ 'आसीत्' यह क्रियापद कभी जुड़ नहीं सकता। 'आसीत्' भी कहो और 'शून्य' भी कहो, यह नहीं हो सकता। और यदि शून्य था तो किसने देखा ? क्या शून्यको देखनेवाला भी शून्य था ? शन्यका साक्षी शून्य नहीं होता, चेतन होता है।

इसीसे जडाद्वैतका अनुभव चेतन इस रूपसे कर सकता है कि 'मैं जड़से न्यारा हूँ' और ईश्वराद्वैतका अनुभव ईश्वरसे तादात्म्यापन्न होकर कर सकता है लेकिन शून्याद्वैतका अनुभव चेतन कभी

नहीं कर सकता क्योंकि अपनी असत्ताका अनुभव कभी कोई नहीं कर सकता। यदि शून्यका अनुभव कर लेनेका कोई दावा भी करे तो एक तो वह खुद ही रहेगा और दूसरे शून्य अनुभवका विषय हो जानेसे शून्य पदार्थ हो जायेगा।

इसलिए न तो 'यह' अद्वैत हो सकता है क्योंकि उसके द्रष्टा हम होंगे; और न वह अद्वैत हो सकता है क्योंकि उसके कल्पक हम होंगे; और न शून्य अद्वैत हो सकता है क्योंकि उसके साक्षी हम होंगे। इसलिए जब कभी अद्वैत होगा तब प्रत्यक् चैतन्याभिन्न तत्त्वको ही अद्वैत कहा जायेगा। इसीसे 'सदेव सोम्य०' श्रुतिके तुरन्त बाद **आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्** ( इसके पूर्व आत्मा ही था ) यह ऋग्वेदकी श्रुति उद्धृत की गयी है।

दोनों श्रुतियोंकी एकवाक्यार्थता करनेपर, जो सत् है सो आत्मा है और जो आत्मा है सो सत् है। सत् आत्मा है। आत्मा सत् है। आत्मासे जुदा होनेपर सत् जड़ हो जायेगा और सत्से जुदा होनेपर आत्मा क्षणिक हो जायेगा।

एक भक्तने कहा है : "हे प्रभो! मेरे बिना आप बेहोश पड़े हैं और आपके बिना मैं छिन्न-भिन्न हो रहा हूँ। इसलिए आओ, हम और आप एक हो जाँय। इससे आप होशमें आ जाओगे और मैं अविनाशी हो जाऊँगा।"

मैं नहीं हूँ, मैं जड़ हूँ, मैं अपना प्रिय नहीं हूँ—ये तीन बातें कभी किसीके अनुभवमें नहीं आ सकती। यह व्यतिरेक मुखसे सच्चिदानन्दका वर्णन है। यह सच्चिदानन्द अद्वय है। जो सत् है वही चित् है, जो सच्चित् है वही आनन्द है और देश-काल-वस्तुके भेद मात्रसे रहित है। भेद बौद्ध है, वह बुद्धिके रहनेपर भासता है न रहनेपर नहीं भासता है।

यह जो सृष्टि दीख रही है वह कभी—अपने नामरूपके

व्याकरणके पहले—आत्मा ही थी। यह पहले-पीछे क्या है? जिज्ञासुके मनमें कालकी जो वासना बैठी हुई है, उसकी दृष्टिसे सृष्टिके पूर्वकाल और उत्तरकाल ( प्रलय )की कल्पना की जाती है, अन्यथा जब काल ही नहीं है तब पहले-पीछेका क्या मतलब? इसका नतीजा जो निकलता है वह यह है कि सृष्टि पहले सत् थी या आत्मा थी, माने सदात्मा थी, चेतन ब्रह्म थी और बादमें भी यही सदात्मा, चेतन ब्रह्म रहेगी। तब इस समय जो सृष्टि है वह क्या है? क्या वह चेतन ब्रह्मका परिणाम है? दूधसे दहीकी तरह अथवा सोनेसे जेवरकी तरह? नहीं इदम्को सत्का या आत्माका परिणाम बताना इष्ट नहीं है। माण्डूक्यकारिकामें विचार है कि :

**मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्या चोदितान्यथा।**
**उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथंचन॥** ( ३. १५ )

उपनिषदोंमें जो मृत्तिका, लोहखण्ड और अग्निकी चिनगारी आदिके दृष्टान्तों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकारसे सृष्टिका निरूपण किया है वह ब्रह्मात्मैक्यमें बुद्धिका प्रवेश करानेका उपाय है, वस्तुतः उनमें कुछ भी भेद नहीं है।

एक जगह कहा—आत्मासे आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथ्वी; ऐसे सृष्टि हुई।[1] दूसरी जगह बताया कि आत्मासे प्राण, प्राणसे रयि; ऐसे सृष्टि हुई।[2] तीसरी जगह बताया कि आत्मासे तेज, तेजसे जल और जलसे अन्न; ऐसे सृष्टि हुई।[3] यदि सृष्टिकी उत्पत्तिमें वास्तवमें कोई क्रम होता तो एक ही तरहसे सृष्टि-प्रक्रिया बतायी जाती। इसका

---

१. तैत्तिरीय उपनिषद् ( २.१.१ )।

२. प्रश्नोपनिषद् ( १.४ )।

३. छान्दोग्य उपनिषद् ( ६.२.३ )।

अभिप्राय है कि असलमें प्रक्रिया या सृष्टिको परिणाम बतानेमें श्रुतिका तात्पर्य नहीं है। फिर क्या बतानेमें है कि 'एकके विज्ञानसे सर्वका विज्ञान होता है' यह जो उपनिषद्की प्रतिज्ञा है :

**यस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति**

उस प्रतिज्ञाकी पूर्तिके लिए अनेकात्मक सृष्टिका एक उपादान बतानेमें है। इसीलिए मृत्तिका, लोहखण्ड, विस्फुलिंग आदिके दृष्टान्त दिये गये हैं। वह उपादान चेतन ही है, यह बतानेके लिए सत्को आत्मा बताया गया है। सृष्टि चिदात्मासत्का विवर्त है, आत्मामें बिना हुए ही भास रही है।

महामहोपाध्याय पं० श्री अनन्तकृष्ण शास्त्रीजी बताते थे, 'स्वामीजी, श्रुति चाहे पूरी हो या उसका एक टुकड़ा हो, यदि प्रत्येक श्रुतिका अलग-अलग अर्थ होगा और उन सबमें एक-वाक्यार्थता नहीं होगी तो श्रुतिका वर्णन तो उन्मत्त प्रलापवत् हो जायेगा, जैसे कोई पागल अलग-अलग असम्बद्ध बात बोलता है। समस्त श्रुतियोंकी एकवाक्यार्थता करनेपर श्रुतिका एक टुकड़ा भी अद्वैतका निरूपण करता है। टुकड़े-टुकड़े मिलकर मन्त्र, मन्त्र-मन्त्र मिलकर पूरे उपनिषद्, सब उपनिषद्, सारे आरण्यक, सारे ब्राह्मण और सारे दर्शन एवं संहिता अद्वैत ब्रह्मका ही वर्णन करते हैं।'

तो 'सदेव सोम्य इदमग्र आसीत्' तथा 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' इन दोनों श्रुतियोंको मिलानेपर यह बात निकलती है कि सृष्टिके पहिले सत् था और सृष्टिके पहिले आत्मा था। यदि आत्मा और सत् दोनों दो हों एक न हों तब तो श्रुतिका कथन उन्मत्त प्रलाप ही होगा न! इसलिए सत् और आत्मा एक ही वस्तुके दो नाम हैं।

सृष्टिके आगे भी सत् ( आत्मा ) और पीछे भी सत्—इसका

अर्थ है कि इस समय जो सृष्टि है वह भी सत् ही है, आत्मा ही है। भेद असत् है, तत्त्व सत् है। भेद प्रातिभासिक है, तत्त्व परमार्थ है। इस ज्ञानका लाभ यह है कि जिन छोटी-छोटी चीजोंके लिए तुम जान हथेलीपर रखकर भी राग-द्वेष करते हो, वे राग-द्वेष करनेकी चीजें नहीं हैं। एक ही सत्ता है जीवनमें, मरणमें। वही रणमें है, वही वनमें है। वही एकाकीपनमें है वही भीड़-भाड़में है।

**अहो जनसमूहेऽपि न द्वैतं पश्यतो मम।**
**अरण्यमिव संवृत्तं क्व रतिं करवाण्यहो ॥**

अहो! जनसमूहमें भी मैं द्वैत नहीं देखता। वहाँ भी जंगलके समान ही एकान्त नजर आता है। फिर भला मैं किसी जंगलके एकाकीपनमें या जनसमूहमें आसक्त क्यों होऊँ?

हमारे एक महात्मा थे खांडा गाँवमें। वह गाँवका गाँव ही वेदान्ती था। घर-घरमें वृत्ति-प्रभाकर, विचार-सागर, विचार-चन्द्रोदय आदि हिन्दी-पुस्तकें वेदान्तकी पढ़ी जाती थीं। सन् १९३४-३५ में मैं श्री उड़ियाबाबाजी महाराजके साथ वहाँ गया था। स्वामी करपात्रीजी महाराज, श्री विश्वेश्वराश्रमजी महाराज, वहाँ थे। रोज प्रवचन होता था। दस-दस हजारकी भीड़ होती थी। अवागढ़की एक मण्डली थी। मण्डलीके लोग छोटे-छोटे बच्चोंको पीले कपड़े पहनाकर धोंसाकी चोटपर सारी भीड़से जोर-जोरसे कीर्तन करवाते थे: जय राम हरे सुख धाम हरे। जय जय प्रभु दीनदयाल हरे॥ तो वे वेदान्ती महात्मा अपना कमण्डलु उठाते और चल देते। बोलते, द्वैत आया-द्वैत आया!

इसका नाम अद्वैत नहीं है। भले लाखोंका मेला लगा हो; सपनेमें हजारों आदमी होते हैं तो क्या वहाँ द्वैत पैदा हो गया? वहाँ द्वैत पैदा नहीं हुआ क्योंकि वहाँ द्रष्टा एक है और द्रष्टाकी

दृष्टि एक है। वहाँ अधिष्ठान एक है, प्रकाशक एक है। वहाँ द्वैत जो प्रतीत होता है वह मनकी फुरफुराहट है।

तो पहले भी सद्ब्रह्म, बादमें भी सद्ब्रह्म। फिर बीजमें क्या है? यह आत्माका परिणाम नहीं हो सकता क्योंकि परिणामके साक्षीको आत्मा कहते हैं और जिस कल्पित अन्यमें परिणाम दिखाई पड़ रहा है उसे अधिष्ठान कहते हैं। इसलिए बीचमें भी आत्मा ही है, सत् ही है। अधिष्ठानकी दृष्टिसे उसी वस्तुको सत् कहते हैं और चेतनकी दृष्टिसे उसीको आत्मा कहते हैं। अतः जो आत्मा है सो सत् है जो सत् है सो आत्मा है।

'अग्रे आसीत्', 'पश्चात् भविष्यति', इनमें काल विवक्षित अर्थ नहीं है। इनका अर्थ है कि अभी भी आत्मा ही आत्मा है, सत् ही सत् है, ब्रह्म ही ब्रह्म है, परमात्मा ही परमात्मा है। योगमें वियोगमें, जन्ममें-मरणमें, सुखमें-दुःखमें, सब आत्मा ही आत्मा है। **एकमेवाद्वितीयम्।**

अब कुछ नीचे दर्जेकी बात भी कह देते हैं। विद्यारण्य स्वामीने बृहदारण्यक वार्त्तिक-सारमें ( सम्बन्ध-वार्त्तिकमें ) यह प्रसग उठाया कि जिज्ञासु गुरुजीसे कहता है: 'गुरुजी, आपने बताया कि तुम ब्रह्म हो, परन्तु हमारे अन्तःकरणमें तो राग-द्वेष है। राग-द्वेषके रहते हमको ब्रह्म क्यों कहते हो?' गुरुजीने कहा: 'प्यारे शिष्य! **रागं द्विषं भवान् सत्त्वं द्वेष्टि।** तुम्हारा रागके प्रति इतना द्वेष हो गया है कि उस रागके कारण तू सत्यसे भी द्वेष करने लगा है! तू ब्रह्म है, यह तो सत्य है। यदि तेरे अन्तःकरणमें राग आ गया तो क्या तेरी सच्ची ब्रह्मताका लोप हो गया? जिसका लोप सृष्टिके उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयकालमें भी नहीं होता। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिमें नहीं होता; वह क्या रागसे लुप्त हो जायेगा?

कोई रंगीन चीज गंगाजीमें बहती दीख गयी या कोई मुर्दा गंगाजीमें बहता दीख गया तो क्या गंगा-स्नान ही नहीं करोगे ?'

दृश्यमें अन्तःकरणकी धारा बह रही है और आत्मा अदृश्य, असंग, साक्षी, अद्वितीय ब्रह्म है। अन्तःकरणमें कभी विक्षेपकी धारा बहती है तो कभी शान्तिकी धारा[1] बहती है। यह बहती रहती हैं और यह आत्मा सद्ब्रह्म, अनन्तद्रष्टा, ज्यों-का त्यों रहता है।

श्रीमद्भागवतमें आया है :

**न यत्पुरस्तादुत यन्न पश्चात् मध्ये च तन्न व्यपदेशमात्रम्।**
**भूतं प्रसिद्धं च परेण यद् यत् तदेव तत्स्यादिति मे मनीषा॥**

( भागवत ११.२८.२१ )

'जो उत्पत्तिसे पहले नहीं था और प्रलयके पश्चात् नहीं रहेगा वह बीचमें भी नहीं है, केवल कल्पनामात्र है। यह निश्चित सत्य है कि जो पदार्थ जिससे बनता है और जिससे प्रकाशित होता है, वही उसका वास्तविक स्वरूप है—यह मेरा दृढ़ निश्चय है।'

सृष्टिसे पूर्व सृष्टि नहीं थी सत् था, सृष्टिके पश्चात् सृष्टि नहीं रहेगी सत् रहेगा, इसलिए बीचमें भी सृष्टि नहीं है सत् है। सृष्टि सत्से बनी और सदात्मासे प्रकाशित है, इसलिए सदात्मा ही सृष्टिका स्वरूप है। इसलिए यह सृष्टि भासते हुए भी नहीं है। **एकमेवाद्वितीयम्** का यही अर्थ है।

उपनिषदोंमें अनेक विद्याएँ प्रसिद्ध हैं जैसे दहरविद्या, गार्ह-

१. शान्ति भी प्रवाही परिणामी है। तत्त्वसामान्यसे शान्ति होती है, वस्तु-दृष्टिसे नहीं। 'तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्' ( योगसूत्र ३.१० ) दशामें भी वृत्तियाँ बहती रहती हैं, परन्तु उनका आकार एक होनेके कारण वे एक सरीखी लगती है।

पत्याग्निविद्या, प्राणविद्या, अग्निविद्या इत्यादि प्रस्तुत प्रसंग सद्विद्या है। इन सब विद्याओंका उपसंहार **प्रज्ञानं ब्रह्म** इस महावाक्यजन्य-बोधमें होता है। आचार्यने पहले सामवेदीय छान्दोग्य उपनिषद्का 'सदेव सोम्य०' मन्त्र उद्धृत किया उसके पश्चात् ऋग्वेदीय एतरेय उपनिषद्का मन्त्र 'आत्मा वा०' उद्धृत किया है। यह उपनिषद् 'आत्मा वा०' से प्रारम्भ होता है और 'प्रज्ञानं ब्रह्म' पर समाप्त होता है।

ज्ञानको सब जानते हैं। उसमें-से तीन चीजें अलग कर दो—ज्ञानका विषय ( जैसे रूमाल आदि ), ज्ञानका करण ( जैसे नेत्रादि ) और ज्ञानका विषयाकार परिणाम ( जैसे रूमालाकार वृत्ति )। फिर निर्विषय, निष्करण और निर्वृत्तिक ज्ञान जो शिष्ट रहेगा वह है प्रज्ञान। वह ज्ञान तुमसे एक है। वह ज्ञान तुम हो।

**प्रकृष्टं ज्ञानं प्रज्ञानम्।** प्रकृष्ट ज्ञान अर्थात् शुद्ध ज्ञानका नाम प्रज्ञान है। इस ज्ञानमें वस्तुभेद नहीं है क्योंकि निर्विषयक है। इस ज्ञानमें देश और काल-भेद नहीं हैं क्योंकि निर्वृत्तिक है। इसमें द्रष्टा-दृश्यका भेद नहीं है क्योंकि निर्विषय और निर्वृत्तिक हैं। यह ज्ञान अपराधीन स्वयंप्रकाश है क्योंकि यह निष्करण है। अतः यह प्रज्ञान तुम ब्रह्म हो। परन्तु सावधान ! जब तुम विषय, करण और वृत्तिसे रहित होते हो तब तुम ब्रह्म हो, यह ठीक है परन्तु जब इनके सहित होते हो तब क्या होते हो ? तब क्या ब्रह्मके बेटे बन जाते हो ? यह बात नहीं है। जो इनके न रहनेपर तुम हो वही इनके रहनेपर भी हो। व्यवहारसे परमार्थका बाल भी बाँका नहीं होता। घट बनने, बिगड़ने या उसका जल भरनेके उपयोग करनेसे मिट्टीका कुछ नहीं बिगड़ता। जेवर गढ़नेसे सोनेका क्या बिगड़ता है ? सर्परूप प्रतीत होनेपर रज्जुका क्या बिगड़ता है। इसलिए तुम सर्वत्र सर्वदा अपरिच्छिन्न अद्वितीय ब्रह्म हो। ●

( ४.७ )

## श्रुत्यर्थका समन्वय—३

### १. तदेतद् ब्रह्म

**तदेतद् ब्रह्म अपूर्वम् अनपरम् अनन्तरम् अबाह्यम् । अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः** ( बृहदा० २.५.१९ )

'वह यह ब्रह्म अपूर्व, अनपर, अनन्तर और अबाह्य है। यह आत्मा ही सबका अनुभव करनेवाला ब्रह्म है।'

सामवेद और ऋग्वेदके मन्त्रोंके बाद अब भगवान् श्रीशंकराचार्य यजुर्वेदीय उपनिषद् बृहदारण्यकका उपर्युक्त मन्त्र उद्धृत करते हैं—**तदेतद् ब्रह्म०** ।

बृहदारण्यक उपनिषद्के दूसरे अध्यायमें पाँचवाँ ब्राह्मण मधु ब्राह्मणके नामसे विख्यात है। उस मधुब्राह्मणके अन्तिम मन्त्रका अन्तिम भाग उपर्युक्त मन्त्र है। मधुब्राह्मणका विषय संक्षेपमें यों है—

जैसे मधु अनेक पुष्पोंका सार होता है। तो हम पुष्पोंको कारण और मधुको कार्य कह सकते हैं। वास्तवमें तो मधुको कार्य नहीं, उपकार्य कहना चाहिए और पुष्पोंको कारण नहीं मधुका उपकारक कहना चाहिए। उसी प्रकार ये पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र, विद्युत् और दिशा आदि सब चार भूतोंके उपकार्य हैं और चार भूत इनके उपकारक है। इसलिए चार भूत और पृथिव्यादि परस्पर एक दूसरेके 'मधु' हैं। मधुब्राह्मणमें उपकार्य-उपकारक भावको ही 'मधु' कहा है। परन्तु परमार्थ दृष्टिसे इन सबका (भूत और उनके उपकार्योंका) अधिष्ठान ज्योतिर्मय अमृत-पुरुष ही है। वही इनका अध्यात्म है। इसीका नाम आत्मा है और यह आत्मा ही अमृत ब्रह्म एवं सर्वरूप है। इस प्रकार इस ब्राह्मणमें सम्पूर्ण प्रपञ्चकी ब्रह्मरूपताका प्रतिपादन किया गया है। वहाँ **इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते** इस श्रुतिद्वारा यह स्पष्ट कहा गया है कि आत्मतत्त्व ही अपनी माया-शक्तिसे अनेकों रूप धारण किये हुए है। इस मन्त्रका पूर्णांश इस प्रकार है—

**इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेति। अयं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च; तदेतद्-ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्। अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनु-शासनम्** (बृहदा० २.५.१९)।

'परमेश्वर मायासे अनेकरूप प्रतीत होता है। शरीररूप रथमें जोड़े हुए इसके इन्द्रियरूप घोड़े सौ और दस हैं। यह परमेश्वर ही इन्द्रियरूप घोड़ा है और यही दस, सहस्र, अनेक और अनन्त

है। यह ब्रह्म अपूर्व है, अनपर है, अनन्तर है और अबाह्य है। यह आत्मा ही सबका अनुभव करनेवाला है, यह आत्मा ब्रह्म है। केवल इतना ही समस्त वेदान्तोंका अनुशासन है।'

तदेतद् का क्या अभिप्राय है? तत्=वह, तथा एतद्=यह। तदेतद् ब्रह्म= वह यह ब्रह्म ( अपूर्व है इत्यादि )।

**तत् परोक्षत्वेन कल्पितं मायाभिर्बहुधा प्रतीतं यद् ब्रह्म तद् एतद् अपरोक्षम्।**

'तत्' अर्थात् परोक्षरूपसे कल्पित और मायासे अनेकरूप प्रतीत होता हुआ जो ब्रह्म है वह 'एतद्' अर्थात् यह अपरोक्ष आत्मा है।'

पुराणोंमें 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इस श्रुतिका उपबृंहण मिलता है। जैसे कोई जादूगर जादूसे अपनेको अनेक दिखाता है तो क्या वह अनेक हो जाता है? नहीं। इसको दो तरहसे समझो–

( १ ) पुराणमें कथा है कि सगर राजाके यज्ञमें इन्द्र यज्ञका घोड़ा चुरा लिया करता था कि कहीं कोई उसके बराबर न हो जाय। परिच्छिन्नमें अहंकार होनेके कारण इन्द्रको भी यह भ्रान्ति हो जाती है, स्पर्धा हो जाती है। अब गया इन्द्र यज्ञको नष्ट करने ( घोड़ा चुराने ) परन्तु हो गया चोर! चौबेजी गये थे छब्बे होने लौटे दुब्बे होकर! लोग समझते नहीं हैं कि अमुक वृत्तिको स्वीकार करके वे क्या हो जायेंगे, वासनाके आवेशमें चाहे जो करते रहते हैं। तो इन्द्र मायासे चोर बन गया, यह पुराणमें 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'का दर्शन है। यह स्थूल दृष्टि है।

( २ ) एक है इन्द्र, परमेश्वर। वह स्वयं ही जीवात्माके रूपमें करण आदि स्वीकार करके दुनियाको देखने लगते हैं। अलग-अलग अन्तःकरणमें अलग-अलग अहं करके अलग-अलग इन्द्रियोंसे वही दिखायी पड़ रहा है :

**इन्द्रः परमेश्वरो मायाभिः अन्तःकरणभेदैः पुरुरूपो बहुरूप ईयते गम्यते ।**

'इन्द्र अर्थात् परमात्मा मायासे अर्थात् अन्तःकरण-भेदसे पुरुरूप अर्थात् अनेकरूप ईयते अर्थात् जाना जाता है अथवा उपलब्ध होता है ।'

तो मायाके कारण बहुरूप प्रतीत जो ब्रह्म है वह कौन है ? वह यही है—तदेतद् ब्रह्म । यह जो साक्षादपरोक्ष अपना आत्मा है यही वह ब्रह्म है । वह कैसा है, तो कहा कि वह **अपूर्वम्** है अर्थात् कारणरहित है, वह **अनपरम्** है अर्थात् इसका कोई कार्य नहीं है, वह **अनन्तरम्** है अर्थात् इसके मध्यमें ( पूर्व और उत्तरके मध्यमें ) कोई जात्यन्तर नहीं है और यह **अबाह्यम्** है अर्थात् उसके बाहर कुछ नहीं है । फिर वह निरन्तर ब्रह्म कौन है ? तो कहा कि **अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः** अर्थात् यह जो प्रत्यगात्मा द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, बोद्धा, विज्ञाता और सर्वानुभू अर्थात् सबको सब प्रकार अनुभव करनेवाला है, वही ब्रह्म है ।

इस ब्रह्मका न कोई कारण है न कार्य : **न कश्चित् जनिता न कार्यं न करणं श्रूयते ।** क्या है तब ? अनाथ या अललटप्पू । न आगे नाथ न पीछे पगहा । है यदि कुछ तो सब यही है और नहीं तो कुछ नहीं है ।

कुछ दिन हुए एक सज्जन मिलने आये । मैंने पूछा : आप क्या काम करते हैं ?

वे : अमुक विद्यालयमें हेडमास्टर हूँ ।

मैं : नीचे कितने अध्यापक हैं ?

वे : मैं अकेला ही हूँ ।

मैं : विद्यालयमें कितने छात्र हैं ?

वे : चार विद्यार्थी थे। अब वे भी नहीं हैं।

**देवदत्तस्य एक एव पुत्रः स एव ज्येष्ठः स एव कनिष्ठः।**

देवदत्तके एक ही पुत्र है, वही बड़ा है और वही छोटा है। ऐसा ही है आत्मा। आत्मा ही बाप है, आत्मा ही बेटा है, आत्मा ही पत्नी है और आत्मा ही नौकर है। घर-द्वार और सब वस्तुएँ आत्मा ही हैं। एक ही आत्मा उपाधिभेदसे, प्रज्ञाभेदसे, अभिमान-भेदसे, अनेकरूप दीख रहा है।

**तद् एतत्**=जो वह है सोई यह है। जो वहाँ है सोई यहाँ हैं। जो भीतर है वही बाहर है। जो कभी था, जो कभी होगा, वही अब भी है। जो मैं है सोई यह है। जो वैकुण्ठमें है अथवा जो सृष्टिके पूर्वमें था वही सृष्टि है। इस बातको न जाननेके कारण मनुष्य अनेक हीन भावनाओंका शिकार हो जाता है। हमारे पास यह नहीं है, मैं यह नहीं हूँ, मैं ऐसे करूँगा तब ऐसे हो जायेगा—ये सब हीन भावनाओंके लक्षण हैं। मनुष्य मानता है सच्चाई कहीं दूसरी जगह है, दूसरेमें है. दूसरे कालमें है, मानों वह स्वयं तो कुछ है ही नहीं। यह जो अपने प्रति तिरस्कारका भाव है; इसका शास्त्रमें बड़ी गाली देकर वर्णन किया जाता है।

**अन्यथा सन्तमात्मानं योऽन्यथा प्रतिपद्यते।**
**किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा॥**

यह श्लोक वाल्मीकीय रामायणमें भी है, महाभारतमें (शकुन्तलोपाख्यान) भी है और मनुस्मृति (४.२५५)में भी है। इसका अर्थ है कि जो स्वयं है तो कुछ और मानता है कुछ और—है तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध मुक्त ब्रह्म और मान बैठा अपनेको अस्थि-मांस-चाम-विष्ठा-मूत्रसे भरा शरीर—उसने क्या पाप नहीं किया? अर्थात् वह सबसे बड़ा पापी है। इस चोरने अपने आपकी ही चोरी करवा दी।

तुम जो यहाँ हो, यही हो, वह तो कुछ रहा नहीं और सब तत्त्व सातवें आसमानमें रख दिया गया, समाधिमें रख दिया गया या कारण ईश्वर में रख दिया गया ! यह क्या अज्ञानका खेल है ! श्रुतिने क्या स्पष्ट कहा है—

**यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।**
**मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥**
( कठ० २.१.१० )

'जो यहाँ है वही वहाँ है और जो वहाँ है वही यहाँ है। जो यहाँ नाना देखता है वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है।'

जो केवल यहीं मानेगा वहाँ नहीं मानेगा तो वह मोही हो जायेगा। जो केवल वहाँ मानेगा यहाँ नहीं मानेगा वह वासनावान् हो जायेगा। जो अच्छा-बुरा मानेगा वह रागी-द्वेषी होगा ही। भेदमें तो मोह, वासना और राग-द्वेषकी निवृत्ति होगी नहीं। जो नानात्व-भेद देखेगा वह जन्म-मरणरूप संसारमें, शोक-मोह-वासनारूप संसारसे—राग-द्वेषरूप संसारसे मुक्त नहीं होगा। वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होगा। असलमें प्रमादका नाम ही मृत्यु है : **प्रमादं वै मृत्युः**, यह शास्त्र है। ( द्र० सनत् सुजातीय १.४ प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि ) इसलिए श्रुतिने कहा कि सब जगह सब अवस्थाओंमें सबमें सब वही परमात्मा है और वही यह अपरोक्ष आत्मा है। तदेतत् ब्रह्म।

**यदेतत् तत्तत् यत्तत् तदेतत् ।**

जो एतत् है वही तत् है, जो तत् है वही एतत् है।

**तनोति इति तत् । तनोति विस्तारयति सूत्रे पट इव इति तत् ।**

'तनु विस्तारे' धातुसे 'तत्' शब्द बनता है। जो विस्तारको प्राप्त होता है—सूतमें वस्त्रकी भाँति, उसका नाम तत् है। सूत्र

'तत्' है, पट 'एतत्' है। असलमें जो सूत है वही पट है और सचाई तो यह है कि सब सूत ही सूत है। तदेतद् ब्रह्म।

'तत्' और 'एतत्' दोनों प्रातिभासिक हैं। देशके सम्बन्धसे 'वहाँ' और 'यहाँ' होता है, कालके सम्बन्धसे 'तब' और 'अब' होता है, शरीरके सम्ब्रन्धसे मैं और तू होता है और द्रव्यके सम्बन्धसे कार्य और कारण होता है। तत् परोक्ष है और एतत् अपरोक्ष है। वस्तुतः यदि देश, काल, द्रव्य, शरीरकी उपाधि छोड़कर देखो तो जो 'तत्' है सोई 'एतत्' है। 'तदेतद् ब्रह्म'में ब्रह्म पारमार्थिक है और 'तत्' तथा 'एतत्' प्रातिभासिक हैं क्योंकि इनकी कल्पना बुद्धिमें होती है।

एकबार झुनझुनमें, ऋषिकुलमें, श्री जयदयाल गोयन्दकाजीसे सत्संगकी चर्चा चली। मैं उस समय ज्यादा बड़ा नहीं था। गोयन्दकाजीने कहा: 'आप जो बात कहते हैं वह ज्ञानकालमें तो ठीक है पर अज्ञानकालमें तो ठीक नहीं है।' मैंने कहा—'सेठ जी, ये ज्ञानकाल और अज्ञानकाल दो कैसे हो गये?' सेठ जी हँसकर बोले: 'आप छोटे हैं तो क्या, बात बड़ी सूक्ष्म पकड़ते हैं।'

असलमें, ज्ञान-अज्ञानका भेद भी अज्ञानदशामें ही है, ज्ञान-दशामें नहीं।

श्री उड़ियाबाबाजी महाराजसे पूछा: जो प्रत्यक्ष है सो परोक्ष नहीं हो सकता और जो परोक्ष है सो प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। अब आत्मा तो अपरोक्ष है, न प्रत्यक्ष, न परोक्ष। फिर यह जो वेदान्ती लोग आत्माके परोक्षज्ञान और अपरोक्षज्ञानकी चर्चा करते हैं, सो क्या है?

बाबा बोले—ज्ञानमें परोक्षता और अपरोक्षता दोनों अज्ञानसे ही कल्पित हैं। ज्ञान ही हैं; उसमें परोक्षकी भ्रान्ति और अपरोक्ष-

की कल्पना अज्ञानसे होती है। उसमें परोक्षज्ञान और अपरोक्षज्ञान दोनों अज्ञान-कल्पित हैं।

**अपूर्वम् अनपरम् अनन्तरम् अबाह्यम्।**

ब्रह्म **अपूर्वम्** है। अर्थात् ब्रह्मसे पहले और कोई नहीं था। अर्थात् ब्रह्मका कोई कारण नहीं है, कोई निमित्त नहीं है, कोई उपादान नहीं है। ब्रह्म **अनपरम्** है अर्थात् ब्रह्मके बाद कुछ नहीं है माने उसका कोई कार्य नहीं है। ब्रह्म न किसीसे बनता है और न किसीको बनाता है। उसमें हाथ नहीं, पाँव नहीं, गुण नहीं, संकल्प नहीं, क्रिया नहीं। वह किसीका उपादान भी नहीं। न आगे सींग न पीछे पूँछ। ब्रह्मके न कुछ भीतर है न बाहर है—**अनन्तरम् अबाह्यम्**। इसका अर्थ है कि ब्रह्म अद्वितीय है।

तब फिर ब्रह्म क्या है? **अयमात्मा ब्रह्म**। यह अपना आपा ही है।

संस्कृत भाषामें ब्रह्मका अर्थ अपरिच्छिन्न होता है। परिच्छिन्नके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित माने अशेष-विशेषके निषेध करनेपर भी जो अवशेष रहता है सो अपरिच्छिन्न है। वह अन्य है कि स्व है? यदि अन्य होगा तो वह दृश्य होगा, प्रमेय होगा, जड़ होगा, विकारी होगा। यदि स्व है तो अबतक मालूम क्यों नहीं पड़ा? तो बोले: तुमने कभी गौर ही नहीं किया। अनात्मासे अलग करके कभी आत्माको देखनेकी कोशिश ही नहीं की। हो तो अपरिच्छिन्न नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म, परन्तु अपनी इस ब्रह्मतापर कभी गौर ही नहीं किया तुमने। जैसे कोई पालकीमें बैठकर पालकीको ही अपना आपा मान ले, ऐसा ही किया तुमने! छोटे बच्चे गोदमें पिल्ले खिलाते हैं। यदि पिल्लेको मारनेके लिए कोई चाँटा उठाये तो पिल्ले नहीं रोते, बच्चा रोने लगता है। इसी प्रकार यह जो हमारा शरीर है जिसको हम मैं-मैं

करके बैठे हैं वह हम नहीं हैं। हम तो आत्मा हैं और यह आत्मा ब्रह्म है।

**अयमात्मा ब्रह्म**—यह उपनिषदोंका महावाक्य है। अद्वैत वेदान्तियोंको छोड़कर और लोग वेदमें महावाक्य नहीं मानते। इसीसे कहते हैं कि हमारी औपनिषद सम्प्रदायकी रीतिसे समझोगे तभी समझमें आयेगा, वर्ना नहीं आयेगा।

**अयम् आत्मा**—यह जो परिच्छिन्न रूपसे प्रतीयमान अपना आत्मा है, जो जाग्रत् अवस्थामें जीभकी उपाधिसे वक्ता है, नेत्रकी उपाधिसे द्रष्टा है, कानकी उपाधिसे श्रोता है, त्वचाकी उपाधिसे स्प्रष्टा है, नाककी उपाधिसे घ्राता है, जिह्वाकी उपाधिसे रसयिता है, मनकी उपाधिसे मंता है, बुद्धिकी उपाधिसे बोद्धा है, प्राणकी उपाधिसे प्राणयिता है, शान्तिकी उपाधिसे शान्त है, दृष्टिकी उपाधिसे द्रष्टा है; जो सुषुप्तिमें सुषुप्तिका साक्षी है, जो स्वप्नमें स्वप्नका साक्षी है, जो जाग्रतमें जाग्रत्-अवस्थाका साक्षी है; वह यह आत्मा है। 'अयम् आत्मा' इसमें अंगुल्यानिर्देशन है।

यह आत्मा जो जाग्रत्में सब विषयोंको ग्रहण करता है, स्वप्नमें सब विषयोंकी कल्पना करता है और सुषुप्तिमें सब विषयों-का उपसंहार करके सो-जैसा जाता है, वह ब्रह्म है अर्थात् सजातीय विजातीय स्वगतभेदसे रहित अद्वितीय ब्रह्म है। अयमात्मा ब्रह्म।

**सर्वानुभूः = सर्वम् अनुभवति इति सर्वानुभूः।**
**एष एव आत्मा सर्वम् अनुभवति।**

सर्वका सर्वप्रकारसे जो अनुभव करता है वह सर्वानुभूः है। ईश्वर है, यह अनुभव कौन करता है? जगत् है, यह अनुभव कौन करता है? ईश्वर नहीं है, यह अनुभव कौन करता है? है, नहीं है ये दोनों जिसको अनुभव होते हैं वह है सर्वानुभूः आत्मा। अतति विषयानुपसेवते इति आत्मा।

आत्मा शब्द व्याकरणमें चार तरहसे बनाते हैं—

**यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।**
**यच्चास्य संततो भावस्तस्मात् आत्मेति कथ्यते ॥** ( लिङ्गपु० )

१. **यच्चाप्नोति विषयान् इति आत्मा।** जो जाग्रत् अवस्थामें विषयोंको ग्रहण करता है और घटाकार, पटाकार, रसाकार, गंधाकार हो जाता है वह आत्मा है। यह आपलृ धातुसे 'आप्नोति' शब्द बनता है।

२. **यदादत्ते विषयान् इति आत्मा।** जो स्वप्न अवस्थामें विषयोंकी कल्पना कर लेता है। आ+दा से 'आदत्ते' है।

३. **यद् अत्ति विषयान् इति आत्मा।** जो सुषुप्ति अवस्थामें विषयोंको खा जाता है और आनन्दका उपभोग करता है। यह 'अद् भक्षणे' धातुसे 'अत्ति' शब्द बनता है।

४. **यद् अतति सततं भवति इति आत्मा।** जो जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनोंमें एक रहता है वह आत्मा है। अत् सातत्यगमने-से 'अतति' बनता है।

जो जाग्रत् अवस्थामें विश्व है, स्वप्नावस्थामें तैजस है, सुषुप्ति-अवस्थामें प्राज्ञ है और तीनों अवस्थाओंमें जो तुरीयरूपसे रहता है वह यह आत्मा है सर्वानुभूः और वह आत्मा ब्रह्म है। 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः'। यह आत्मा जीव, जगत्, ईश्वर और इनके भेदमात्रका अनुभविता है और अनुभवसे पृथक् कोई वस्तु नहीं है।

**अयमात्मा ब्रह्म** महावाक्य है। महावाक्यका अर्थ होता है ऐसा वाक्य ( क्रियापद सहित ) जिसमें पद तो हों दो परन्तु दोनोंका हो सामानाधिकरण्य, जिसके कारण दोनों पदोंका अर्थ होता हो एक। पद दो, पदार्थ ( वाच्यार्थ ) दो ( त्वम् और तत्,

अहम् और ब्रह्म, आत्मा और ब्रह्म, प्रज्ञान और ब्रह्म ), परन्तु लक्षणासे अर्थ निकलता हो एक। अर्थात् आत्मा और ब्रह्मको एक बतानेवाला वाक्य महावाक्य है।

**सर्वानुभूः।** सर्व यही है, अनुभव यही है, अनुभवसे अलग सर्वनामकी कोई चीज नहीं है। नाम, रूप, आकृति और कर्म— इन्हींके कारण अनुभवकी एकतामें अनेकता है। इनसे अलग करके तत्त्व होता है—**अनारोपिताकारं तत्त्वम्।** जैसे, सोनेमें न जेवरका आरोप करो न सिल्लीका। तब सोना क्या है? समष्टि तैजस तत्त्व ( हिरण्यगर्भ ) का नाम सोना है। तैजस तत्त्वसे पृथक् सोना नामकी कोई वस्तु नहीं है।

अयमात्मा ब्रह्म। यह आत्मा ब्रह्म कैसे है, इसकी एक-दो प्रक्रिया सुनाते हैं।

शरीर पंचभूत। पंचभूतोंमें आकाश नामकी एक ऐसी चीज है कि यदि चिन्तन करो कि 'मैं आकाश हूँ' तो तुम्हें पता लगे कि तुम कैसे हो! आकाश-जैसा विस्तृत, आकाश-जैसा नित्य, आकाश-जैसा सर्वका उपादान! आकाशसे एक होनेके कारण मैं परिच्छिन्न नहीं रहा और आकाशमें-से ( चेतनसे ) एक होनेके कारण सर्वका परिणामी उपादान नहीं रहा, विवर्ती उपादान हो गया ( क्योंकि चेतन परिणामी विकारी नहीं हो सकता )। आत्मा चिदाकाश हो गया और मैं-की परिच्छिन्नता अज्ञानमूलक हो गयी। अभी ब्रह्मतक पहुँचनेकी कोई बात नहीं है! अपने शरीरको केवल पंचभूतमें डालनेका ही यह नतीजा निकल आता है। इसीसे वेदान्ती लोग कई तरहसे विचार करते हैं कि मैं शरीर नहीं हूँ पृथिवी हूँ, मैं शरीर नहीं जल हूँ, मैं शरीर नहीं अग्नि हूँ, मैं शरीर नहीं वायु हूँ, मैं शरीर नहीं आकाश हूँ!

दूसरी प्रक्रिया देखो! संसारमें जितनी रूप और आकृतियाँ हैं

उनको आकाररहित करके देखो। सबका जो आकाररहित मन है वह एक मन है। उसको हिरण्यगर्भका मन कहते हैं। एक शरीरमें चेतनका नाम तैजस है और समष्टिमें चेतनका नाम हिरण्यगर्भ है। उपाधिको हटा दें तो जो तैजस है वही हिरण्यगर्भ है। जो विश्व है वही विराट् है।

यही मैं जो देहमें बैठकर विषय भोग कर रहा था और अन्यको मैं-मेरा मान रहा था, वही विराट्से एक होनेपर देह नहीं है, विश्वविराट् है और विश्वसृष्टिका द्रष्टा है। वही मन हिरण्यगर्भसे एक होनेपर समग्र मनका द्रष्टा है, समग्र देश-कालका द्रष्टा है। वही मैं हिरण्यगर्भसे एक होनेपर परिपूर्ण है। वही मैं जो एक सुषुप्तिका साक्षी है, आत्मा है। सुषुप्तिको एक शरीरमें मत पकड़ो। जब तुमने देहको डाल दिया विश्वसमष्टिमें तो सुषुप्ति भी तुम्हारी व्यष्टि नहीं रही, समष्टि सुषुप्ति हो गयी। इस प्रकार तुम्हारी सुषुप्ति भी समष्टि सुषुप्ति हो गयी, तुम्हारा मन भी समष्टि मन हो गया और शरीरमें भी परिच्छिन्नता नहीं रही। अब तुम क्या हो ? विराट्, हिरण्यगर्भ या ईश्वर ? असलमें ये चेतनके ही तीन नाम हैं तीन अवस्थाओंके कारण। यह विश्व—विराट् जाग्रत्में भी सप्तांग है ( पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, ( द्युलोक ) और सूर्य-चन्द्रमा शरीरवाला ) तथा उन्नीस मुखवाला है और स्वप्नावस्थामें भी सप्तांग है तथा उन्नीस मुखवाला है और यह प्राज्ञ-ईश्वरसे एक है, अतः अनन्त है। इसलिए विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वर तीनों एक हैं।

आप माण्डूक्यकारिकाका यह श्लोक ध्यानमें लो :

त्रिषु धामसु यद् भोज्यं भोक्ता यश्च प्रकीर्तितः।
वेदैतदुभयं यस्तु स भुञ्जानो न लिप्यते॥ (१.५)

'तीनों अवस्थाओंमें जो कुछ भोज्य है और भोक्ता है, इन

दोनोंको जो जानता है वह भोगते हुए भी उनसे लिप्त नहीं होता।'

जाग्रत्में दूसरेका भोग है, स्वप्नमें अपनी कल्पनाका भोग है और सुषुप्तिमें आनन्दका भोग है। जाग्रत्में भोक्ता विश्व है, स्वप्नमें भोक्ता तैजस है, सुषुप्तिमें भोक्ता प्राज्ञ है। समष्टिमें इनके ही नाम विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर हैं। इन भोज्य और भोक्ताओंको जो जानता है उसीका नाम साक्षी ब्रह्म है, वही तुरीय है। वह मैं है। मैंने जाग्रत्के भोग और भोक्ता देखे, उसी मैं-ने स्वप्नके भोग और भोक्ता देखे और उसी मैं-ने सुषुप्तिके भोग और भोक्ता देखे। ये भोक्ता तीन नहीं एक हैं और ये भोग-भोग-भोग भी तीन नहीं एक हैं। मैं इन भोक्ता और भोगको जाननेवाला हूँ। अतः मैं भोग करते हुए भी लिप्त नहीं होता हूँ। जैसे अग्नि शाकल्यसे हवन करनेपर प्रसन्न नहीं होता क्योंकि पृथ्वी और जलसे बनी सब वस्तुएँ अग्निका भोजन है। अपने भोग्यका भोग करनेसे किसीको लेप नहीं होता, भोग करके भी लिप्त नहीं होता ( स्वप्नकी भाँति )।

अच्छा जी; मैं साक्षी अलेप। अब बस! अब बस नहीं। वेदान्त अब यहाँसे प्रारम्भ होता है। यह ब्रह्मकी स्थिति नहीं है। वह क्या है कि—

**नान्तः प्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टम् अव्यवहार्यम् अग्राह्यं अलक्षणम् अचिन्त्यम् अव्यपदेश्यम् एकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।** ( माण्डूक्य उप० मंत्र ७ )

वह आत्मा ( जो ब्रह्म है ) अन्तःप्रज्ञ नहीं है ( अर्थात् तैजस हिरण्यगर्भ नहीं है ); बहिष्प्रज्ञ नहीं है ( अर्थात् विश्व-विराट् नहीं है ); बहिः और अन्तः दोनों प्रज्ञावाला नहीं है ( अर्थात् विराट्

हिरण्यगर्भ या विश्व तैजसके बीचकी कोई अवस्था नहीं है ); प्रज्ञानघन नहीं है ( अर्थात् प्राज्ञ-ईश्वर नहीं है ); प्रज्ञ नहीं है ( अर्थात् सबको युगपत् जाननेवाला परमेश्वर नहीं है ); अप्रज्ञ नहीं है ( अर्थात् जड़ नहीं है ); यह दृश्य नहीं है; व्यवहार्य नहीं है; कर्मेन्द्रियोंसे ग्राह्य नहीं है; उसका कोई लक्षण नहीं है जिससे उसका अनुमान हो सके। वह चिन्तनका विषय भी नहीं है और शब्दका विषय नहीं है। तब वह कैसे मिलेंगे कि एकात्म प्रत्यय सारम् अर्थात् जाग्रत् आदि स्थानोंमें एक ही आत्मा है 'अहमेव एक:' ऐसा जो अव्यभिचारी प्रत्यय है उससे अनुसरण किये जाने योग्य है। उसमें प्रपञ्चका उपशम है अर्थात् उसमें जाग्रतादि अवस्थाओंके धर्म नहीं हैं; इसीलिए वह शान्त है अर्थात् अविकारी है; वह शिव है अर्थात् भेदविकल्पसे रहित अद्वैत है। उसीको तुरीय मानते हैं, अन्य तीनसे विलक्षण होनेके कारण। वही आत्मा है और वही ज्ञातव्य है।

यह माण्डूक्यकी प्रक्रिया है। 'अयमात्मा ब्रह्म' माण्डूक्य उपनिषद्में भी है :

**सर्वं ह्येतद् ब्रह्म। अयमात्मा ब्रह्म। सोयमात्मा चतुष्पाद।**

( माण्डूक्य मंत्र २ )

अब ज्ञातव्य क्या है? 'स आत्मा स विज्ञेयः' कहा गया। तो मुण्डकोपनिषद्में यह प्रश्न है कि :

**कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति ?** (मुण्डक १.१.३)

'हे भगवन्, किसके जान लेनेपर यह सब कुछ जाना हुआ हो जाता है?' स्मरण रहे कि माण्डूक्य और मुण्डक दोनों ही आथर्वण उपनिषद् हैं। इसके उत्तरमें मुण्डककी श्रुति कहती है :

**यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम्।**

**नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥** ( मुण्डक १.१.६ )

'यह जो अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण, चक्षु-श्रोत्रादिहीन, अपाणिपाद, नित्य, विभु, सर्वगत, अत्यन्तसूक्ष्म और अव्यय है तथा जो सम्पूर्ण भूतोंका कारण है उसे विवेकी लोग सब ओर देखते हैं।' उसीको जाननेसे सर्वका विज्ञान हो जाता है। वह पराविद्या या ब्रह्मविद्या द्वारा जाना जाता है :

**अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते** ( मुण्डक० १.१.५ )।

ब्रह्मसूत्रके अदृश्यत्वाधिकरणमें—

**अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः** ( ब्रह्मसूत्र १.२.२१ )।

सूत्रद्वारा इस श्रुतिपर विचार किया गया है। यहाँ भाष्यमें यह संशय उठाया है कि अदृश्यत्व आदि गुणवाला जो भूतयोनि है वह क्या है? सांख्योंका प्रधान जीव अथवा परमेश्वर? वहाँ अनेक युक्ति-प्रमाणोंके द्वारा यह निर्णय दिया गया है कि :

**तस्माददृश्यत्वादिगुणको भूतयोनिः परमेश्वर एव ।**

'इसलिए अदृश्यत्वादि गुणवाला भूतयोनि परमेश्वर ही है।'

अब 'नान्तः प्रज्ञं०' मन्त्रसे आत्मामें भी दृश्यत्व आदिका निषेध किया गया है और उसको 'विज्ञेय' बताया गया है। अतः आत्मा और परमेश्वर एक ही हैं। अयमात्मा ब्रह्म। ●

## २. ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्

भगवान् श्री शंकराचार्यने अबतक यह बताया कि सामवेद, ऋग्वेद और यजुर्वेदकी श्रुतियोंका तात्पर्य और समन्वय ब्रह्म और

आत्माकी एकताके प्रतिपादनमें है। अब इसी अर्थमें वे अथर्ववेद-की श्रुति उद्धृत करते हैं 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्'।

यह आथर्वण उपनिषद् मुण्डककी श्रुति है। पूरी श्रुति इस प्रकार है—

**ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।**
**अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥**
**(मुण्डक० २.२.११)**

'यह अमृत ब्रह्म ही आगे है, ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दाँये है और ब्रह्म ही बाँये है और ब्रह्म ही नीचे-ऊपर फैला हुआ है। यह सारा जगत् सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही है।'

इस मन्त्रके भाष्यमें भगवान् शंकराचार्य कहते हैं :

**ब्रह्मैवोक्तलक्षणमिदं यत्पुरस्तादग्रे ब्रह्मैवाविद्यादृष्टीनां प्रत्यवभासमानं**

'यह जो अविद्यामयी दृष्टिवालोंको सामने दिखायी दे रहा है वह उपर्युक्त लक्षणोंवाला ब्रह्म ही है।'

इसके आगे आचार्य लिखते हैं :

**अब्रह्मप्रत्ययः सर्वोऽविद्यामात्रो रज्ज्वामिव सर्पप्रत्ययः।**

'यह सम्पूर्ण अब्रह्मरूप प्रतीति रज्जुमें सर्प-प्रतीतिके समान अविद्यामात्र ही है।'

तात्पर्य यह है कि अविद्याके कारण जो तुमको अपने सामने-पीछे, दाँये-बाँये, ऊपर-नीचे अब्रह्मरूप प्रतीति हो रही है वह वस्तुतः सब ब्रह्म ही है। **यदिदं अब्रह्म इव भाति तत्सर्वं ब्रह्मैव।**

सम्बन्धमें जो अपना है वह कैसा भी हो, शुद्ध है और जो पराया है वह शुद्ध होनेपर भी अशुद्ध है। इसके विपरीत जो अहम् है वह हर दशामें शुद्ध है और जो अनहम् है वह अशुद्ध है।

उदाहरणार्थ जब तक मल पेटमें रहता है वह शुद्ध है परन्तु पेटसे बाहर आते ही वह अशुद्ध हो जाता है। मल-मूत्रका भाण्ड यह शरीर शुद्ध माना जाता है क्योंकि इसमें अहंबुद्धि है। इसी प्रकार यह जगत् जब आत्मासे अलग अनुभव होता है तब तो यह अशुद्ध है ( ममतासे कुछ वस्तुएँ भले ही शुद्ध मालूम पड़ें ) और जब 'यह आत्मा ही है' ऐसा अनुभव होता है तब यह शुद्ध सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही है।

सब जगह अमृत है। सत्संग जिनको नहीं मिलता है वे अभागे हैं। यह महीने-दो-महीनेमें रुपया, माला-फूल चढ़ानेसे काम नहीं चलेगा। बुद्धिमें परिवर्तन आना चाहिए और वह होता है सत्संगसे।

आत्माके अमृतमें सारी दुनिया डूब-उतरा रही है। आश्चर्य है कि लोग अमृतके समुद्रमें डूबें-उतरायें परन्तु न तो अमृतका पान करें और न अमृतको पहिचानें। दूसरा आश्चर्य यह है कि लोग आत्मामृतके समुद्रमें डूबें-उतरायें और साथ ही मृगतृष्णाके समान जो भवसागर है उसमें वे डूबें उतरायें! अरे प्यारे! देखो तुम्हारे सामने अमृत ब्रह्म है, पीछे अमृत ब्रह्म है, दायें-बायें, ऊपर नीचे[1] सब ओर वह अमृत ब्रह्म ही लहलहा रहा है।

उपनिषदोंमें इसी भावको चार प्रकारसे अभिव्यक्त किया है:

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्।
आत्मैवेदममृतं पुरस्तात्।
स एवेदम् अमृतं पुरस्तात्।
अहमेवेदममृतं पुरस्तात्।

१. एक परमाणुकी अपेक्षा छह दिशाओंकी कल्पना की जाती है: सामने, पीछे, दायें, बायें, ऊपर और नीचे। परन्तु नैयायिकोंके मतमें क्योंकि परमाणु निरवयव है अतः वे परमाणुके बाहर-भीतरकी कल्पनाको नहीं मानते। बाहर-भीतरको मिलाकर आठ दिशाओंकी कल्पना होती है।

'सामने ( सब ओर ) अमृत ब्रह्म है'। 'सामने अमृत आत्मा ही है।', 'सामने वह यह अमृत ही है।', 'सामने मैं अमृत ही हूँ।' सबको मिलाकर यह अर्थ निकला कि ब्रह्म, आत्मा, वह ( परोक्ष ईश्वर ) और मैं—ये एक ही अमृत-तत्त्वके चार नाम हैं।

अमृत किसे कहते हैं ?

**नास्ति मृतं यस्य तत् अमृतम्।** जिसकी मृत्यु नहीं है, जो अबाधित तत्त्व है सो अमृत है।

**नास्ति मृतं यस्मिन् तत् अमृतम्।** जिसमें मृत नहीं है वह अमृत है—जिसमें अधिष्ठान-भाव भी नहीं है यह अर्थ है।

**नास्ति मृतं यस्मात् तदमृतम्।** जिससे ( जिसको पीनेसे ) मृत्यु नहीं होती वह अमृत है अर्थात् स्वर्गमें रहनेवाला देवताओंका अमृत।

असलमें अमृत माने आनन्द अथवा आनन्दस्वरूप ब्रह्म।

सब ओर आनन्दस्वरूप ब्रह्म ही प्रतिष्ठित है। अपनी देहमें-से मैंको हटाओ। स्थूल सूक्ष्म कारणमें-से 'मैं' को हटाओ। 'मैं' पदका जो अर्थ है वह ब्रह्म है।

दिक् तत्त्वमें दिशा बाधित है और ज्ञानमें दिक् भी बाधित है। तब ईश्वर हमारे किस ओर है? हम ईश्वरसे किस ओर हैं? ईश्वर इतना बड़ा है कि उसके बड़प्पनमें एक कणिका डूब जाता है और हम इतने बड़े हैं कि हमारे बड़प्पनमें ईश्वर भी डूब जाता है। आत्मा और ब्रह्मकी एकताके बोधमें मैंपने और ईश्वरपनेका भेद मिट जाता है।

इस प्रकार इन श्रुतियोंके उद्धरणसे आचार्यने श्रुत्यर्थंका समन्वय ब्रह्मात्मैक्य-बोधमें किया है। ऐसी अनेक दूसरी श्रुतियाँ उद्धृत की जा सकती हैं। ●

( ४.८ )

# वेदान्त-वाक्योंका कर्मके प्रतिपादनमें तात्पर्य नहीं है

**मूल भाष्य :**

न च तद्गतानां पदानां ब्रह्मस्वरूपविषये निश्चिते समन्वयेऽवगम्यमानेऽर्थान्तरकल्पनायुक्ता:, श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गात्। न च तेषां कर्तृस्वरूपप्रतिपादनपरतावसीयते, 'तत्केन कं पश्येत्' ( बृहदा० २.४.१४ ) इत्यादिक्रियाकारकफलनिराकरणश्रुतेः।

( क्रमशः )

**भाष्यार्थ**—उन वेदान्त-वाक्योमें आये हुए पदोंका ब्रह्मस्वरूप विषयमें निश्चित समन्वय जान लेनेपर दूसरे अर्थकी कल्पना युक्त नहीं है क्योंकि इससे श्रुतिप्रतिपादित अर्थकी हानि और श्रुतिसे अप्रतिपादित अर्थकी कल्पनाका प्रसंग उपस्थित होगा। और न इन वेदान्त-वाक्योंका कर्ताके स्वरूप प्रतिपादनमें तात्पर्य निश्चित हो सकता है क्योंकि 'तत्केन कं पश्येत्' आदि श्रुतियाँ क्रिया, कारक और फलका निराकरण करती हैं।

आजकल ऐसा मत है कि किसी-न-किसी कर्मपुरुषार्थमें ही लगना चाहिए। झाड़ू लगाना बहुत अच्छा काम है। अखबार पढ़ना बहुत अच्छा काम है। परन्तु वेदान्त पढ़ना बहुत खराब है। पहले भी कर्मकाण्डी लोग यही कहते थे कि सब वेद यही कहते हैं कि कर्म या उपासना कुछ-न-कुछ कर्म करते रहना चाहिए। अर्थात् सब वेदोंका सार (उनके मतमें) कर्ममें ही है। यहाँ तक कि 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि महावाक्योंको भी वे कर्ताकी शुद्धिमें ही हेतु मानते हैं जिससे वह कर्ममें लग सके। जैसे वसिष्ठ जीने रामको वेदान्तका उपदेश देकर उन्हें अन्ततः कर्ममें ही प्रेरित किया। अथवा वे इन वाक्योंको देवताकी स्तुतिके लिए मानते हैं जिससे उसकी उपासनामें तत्पर हो सके। अथवा वे इनको देवता और उपासक दोनोंकी स्तुतिके लिए मानते हैं जिससे उपासक-उपास्यभाव दृढ़ बना रहे। जैसे जब किसी नौकरको किसी सेठके यहाँ नौकरी दिलानी होती है तो सेठकी प्रशंसा नौकरसे करते हैं और नौकरकी प्रशंसा सेठसे करते हैं। उद्देश्य वहाँ सेठ और नौकरको परस्पर बाँधना है। आत्माको ब्रह्म कहना भी ऐसी ही स्तुति है। बेमतलब आत्माको ब्रह्म बतानेसे क्या फायदा। इस प्रकार पहले भी और आज भी एक-सी ही बातें हैं। पहले कर्मकाण्ड था अब समाज-सुधार है;

बहुत हुआ तो इष्टकी उपासना करो, उसको साक्षात् ब्रह्म मानो। उन लोगोंके मतमें, वेदान्तमें और आँख मूँदनेमें क्या रखा है।

श्री शंकराचार्य भगवान् कहते हैं कि ऐसा सोचना गलत है। जब हम पूर्वोक्त श्रुतियोंके द्वारा बताये गये तत्त्वका साक्षात्कार कर लेते हैं (सद्विद्या आदिके द्वारा) और सारी श्रुतियोंका तात्पर्यसे 'आत्मा ब्रह्म है' इसमें समन्वय मान लेते हैं तब अन्यार्थके लिए अवकाश ही कहाँ है ?' और यदि अन्यार्थ करते हैं तब श्रुतिके अर्थकी हानि तथा अश्रुत अर्थकी कल्पनाका प्रसंग आयेगा।

**पूर्वपक्षी :** नहीं, वे श्रुतियाँ तो यज्ञ करनेमें उपयोगी अर्थवादके अन्तर्गत हैं।

**सिद्धान्ती :** ऐसा नहीं है। लक्षणा वही करनी चाहिए जहाँ मुख्यार्थ सम्भव न हो। मँगाया मिट्टीका घड़ा और ले आये मिट्टीसे बना सकोरा, ऐसा नहीं होता। हाँ, यदि घड़ा वहाँ न हो या घड़ा लाना शक्य न हो तब 'घड़ा ले आओ'का अर्थ सकोरा हो सकता है अन्यथा नहीं। अन्वयानुपपत्ति या तात्पर्यानुपपत्ति हो तब लक्षणा की जाती है, वर्ना वाच्यार्थ ज्यों-का-त्यों माना जाता है।

'दो ग्रास खा लीजिये'में **अजहत् लक्षणा** है क्योंकि वहाँ दो ग्रासका अर्थ—तात्पर्य दो ग्राससहित अनेक ग्रास खानेमें है।

'तुम्हारी बात सुनकर बिच्छू डङ्क मार गया' इस वाक्यमें जहत् लक्षणा है क्योंकि यहाँ तादृश दुःख होनेमें तात्पर्य है। वहाँ न बिच्छू है और न डङ्क मारना है।

बात-बातमें लक्षणा और तात्पर्य नहीं होता। जहाँ सीधी बात ग्राह्य न हो बस वहीं लक्षणा होती है। वर्ना तो सारे व्यवहारका ही भंग हो जायेगा। लक्षणा गौणी है।

यदि आत्माको हम कोषातीत जान लें तो आत्मा ब्रह्म है; इस मुख्यार्थको छोड़ना क्यों जब आत्मामें ब्रह्मताकी योग्यता है ? यदि आपको पदोंके अर्थमें समन्वय नहीं मालूम पड़ता तो हम समन्वय करनेको तैयार हैं। ऐसी स्थितिमें वेदान्तको यह कह दिया जाय कि दुनियामें कोई सांड़ ही न छोड़ा जाय सब बैल ही बैल हल जोतनेके लिए रहें; या कि कोई भी निवृत्तिपरायण न रहे, सब प्रवृत्तिमें ही रहें' या कि कोई भी आत्माके निरुपाधिक स्वरूपको न जाने, सब सोपाधिक स्वरूपमें ही प्रसन्न रहें—इस प्रकारका आग्रह करना नितान्त असंगत है। इससे वेदका भी अपमान होता है—**श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गात्**, क्योंकि जो बात वेदमें सुनी गयी वह तो बिलकुल ही छूट गयी और जो बात बिलकुल नहीं कही गयी उसकी कल्पना कर ली गयी, जैसे कि सबको कर्ममें जोतनेकी बात या देवता और उपासककी स्तुति-की बात।

जो लोग वेदको अपौरुषेय मानते हैं वे सभी आख्यायिकाओंको तत्त्वकी कथा मानते हैं, इतिहास नहीं। और जो पौरुषेय मानते हैं वे नैयायिक भी वेदको ईश्वरका वचन मानते हैं :

**तद्वचनाद् आम्नायस्य प्रामाण्यम्।** ( वैशेषिक सूत्र )

अर्थात् ईश्वरका वचन होनेसे वेदवाक्योंका प्रामाण्य है। लेकिन ईश्वर पूर्वकल्पके अनुसार उत्तरकल्पकी सृष्टिको प्रकट करता है इसलिए वेद भी वही रहते हैं और उनकी आख्यायिकाएँ भी।

अब यदि 'आत्मा ब्रह्म है' यह बात बिलकुल ही असम्भव हो, अर्थात् श्रवणसे या मननसे या निदिध्यासनसे या समाधिसे, किसी भी साधनसे यदि आत्माकी ब्रह्मरूपता अनुभवमें न आ सकती हो तब तो गौण अर्थ करना ठीक है वर्ना गौण अर्थ क्यों करना ? इससे तो श्रुत-हानि और अश्रुत-कल्पनाका प्रसंग आता है।

**पूर्वपक्षी** : आत्मा कर्ता है; इसीका प्रतिपादन वेदमें है और यह कर्म करता है इसीलिए इसका प्रतिपादन है।

**सिद्धान्ती** : नहीं। हम कहते हैं कि ब्रह्मका ( आत्माका ) कर्मके साथ सम्बन्ध कहाँ होता है ?

**न च तेषां कर्तृस्वरूपप्रतिपादनपरतावसीयते ।**

उन वेदान्त-वाक्योंका कर्ताके स्वरूप-प्रतिपादनमें तात्पर्य निश्चित नहीं हो सकता। क्यों ?

मनुष्यके सिरपर कर्मका कितना बड़ा बोझ है कि रातको उसे नींद नहीं आती ! नींदकी गोलियाँ खा-खाके लोग सोते हैं। कर्मियोंकी भावधारा इतनी प्रवण हो जाती है कि पलंगपर सोनेपर भी कर्म-चिन्ता ही उनको व्याप्त होती है। इसी प्रकार भोगकी वासनावालेको भी नींद नहीं आती।

महाभारतमें उद्योगपर्वके अन्तर्गत एक प्रजागर पर्व है, छोटा-सा। उसमें है कि धृतराष्ट्रको रातको नींद नहीं आती है। विदुर उन्हें समझाते हैं कि नींद किस-किसको नहीं आती है। नींद उसको नहीं आती :

१. जिसके मनमें मरे हुए लोगोंकी याद ज्यादा आती है।
२. जिसको कार्य बहुत करना होता है।
३. जिसके मनमें कामका वेग होता है।
४. जिसके मनमें क्रोधका वेग होता है।
५. जिसके मनमें उद्वेग अधिक होता है।
६. जिसके मनमें राग अधिक होता है।
७. जिसके मनमें द्वेष अधिक होता है।

जब धृतराष्ट्र नहीं समझे तब विदुरने सनत्सुजातका आह्वान किया और उन्होंने धृतराष्ट्रको अध्यात्मविद्याका उपदेश दिया।

तो क्या यही कर्ममय जीवन जीना कहलाता है ? क्या इससे परे कोई जीवन नहीं है ? बृहदारण्यककी श्रुति कहती है कि— है एक जीवन जिसमें क्रिया, कारक और फल ( जो कर्मके अंग हैं ) नामको भी नहीं हैं—

**यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति, तदितर इतरं पश्यति, तदितर इतरं शृणोति, तदितर इतरं अभिवदति, तदितर इतरं मनुते, तदितर इतरं विजानाति। यत्र वा अस्य सर्वम् आत्मैवाभूत् तत्केन कं जिघ्रेत्, तत्केन कं पश्येत्, तत्केन कं शृणुयात्, तत्केन कं अभिवदेत्, तत्केन कं मन्वीत, तत्केन कं विजानीयात्। येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्, विज्ञातारमरे केन विजानीयात् इति।** ( बृहदारण्यक० २.४.१४ )

'जहाँ ( अविद्या-अवस्थामें ) द्वैत-सा होता है, वहीं अन्य-अन्यको सूँघता है, अन्य अन्यको देखता है, अन्य अन्यको सुनता है, अन्य अन्यका अभिवादन करता है, अन्य अन्यका मनन करता है, अन्य अन्यको जानता है। परन्तु ( ब्रह्मात्मैक्य-बोध दशामें ) जहाँ इसके लिए सब आत्मा ही हो गया है वहाँ किसके द्वारा किसको सूँघे, किसके द्वारा किसको देखे, किसके द्वारा किसको सुने, किसके द्वारा किसका अभिवादन करे, किसके द्वारा किसका मनन करे, किसके द्वारा किसको जाने ? जिसके द्वारा इन सबको जानता है उसे किसके द्वारा जाने ? अरे विज्ञाताको किसके द्वारा जाने ?'

आचार्यने सिर्फ नमूनेके लिए **तत्केन कं पश्येत्**, इतनी ही श्रुति उद्धृत की है।

तत् पश्येत्, केन पश्येत्, कं पश्येत्। उसको देखे यदि ऐसा कहो तो किसके द्वारा देखे और किसको देखे, जब कि ब्रह्मविद्याके द्वारा अविद्या-नाश हो गया और आत्मासे भिन्न अन्य वस्तुका

अभाव हो गया अथवा सब कुछ आत्मा ही हो गया ? 'पश्येत्' क्रिया है, 'केन' कारक है और 'कं' फल है। इसलिए **तत्केन कं पश्येत्** इत्यादिसे आत्मामें क्रिया, कारक और फलका निषेध किया गया है क्योंकि इससे पहले **तदितर इतरं पश्येत्** में भिन्न देखनेवाला अपनेसे भिन्न नेत्रेन्द्रियके द्वारा उससे भिन्न द्रष्टव्य पदार्थको देखता है, ऐसा बताया गया था। अविद्याके रहते हुए ही क्रिया, कारक और फलका व्यवहार रहता है, ब्रह्मवेत्ताका ऐसा कोई व्यवहार नहीं रहता क्योंकि वह तो सबका आत्मा ही है; उसकी दृष्टिमें आत्मासे भिन्न क्रिया, कारक अथवा फल है ही नहीं। ऐसी सूरतमें वेदान्त-वाक्योंका तात्पर्य कर्ममें कैसे हो सकता है ?

**यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्** = जहाँ इसके लिए सब आत्मा ही हो गया ! इसपर ध्यान दो। क्या इसका यह मतलब है कि अविद्याकालमें जब हम एक शरीरमें थे तो उस शरीरके हाथ-पैरवाले थे और अब ब्रह्मज्ञानसे हम सबकी आत्मा हो गये तो सब शरीरोंके हाथ-पैरवाले हो गये ? व्यक्ति एक और हाथ-पैर करोड़ों अथवा सभी व्यक्ति 'मैं' और उनके हाथ-पैर 'मेरे' ? यह ब्रह्मज्ञान नहीं है, व्यक्ति और जातिके साथ अविवेकपूर्ण तादात्म्य ही है।

'एक' और 'सब' विकल्पित हैं। 'सब' किसने देखा है ? जब एक-एक अलग ही अलग है तब उनमें जो 'सब' है, वह भी औपाधिक ही है। सर्वका नाम ब्रह्म नहीं है। जो व्यक्ति है उसका नाम भी ब्रह्म नहीं है। व्यक्ति सर्वका एक हिस्सा है और सर्व व्यक्तियोंका समूह है।

पानी जो हम देखते हैं वह हमको एक लगता है, वस्तुतः वह अनन्त बूँदोंकी समष्टि है। हमारी आँख उनको अलग-अलग देख नहीं पाती। व्याकरणमें अप् शब्द एकवचन और द्विवचन नहीं

होता, वह बहुवचन ही होता है। 'आपः अपः अद्भिः। अप्‌शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः'।

यदि सर्वको ईश्वर माने तो गलत होगा। जैसे एकका अधिष्ठान और प्रकाशक होता है वैसे ही सर्वका भी अधिष्ठान और प्रकाशक होता है। यह जो अद्वय ब्रह्म है वह न एक है न सर्व है। वह तो दोनोंका प्रकाशक एवं अधिष्ठान अखण्ड अद्वय है।

जब अपने-आपको ब्रह्म जान लिया तो वहाँ देखनेवाला कौन? देखनेका करण कौन? देखा जानेवाला विषय कौन? **कः प्रमाता केन करणेन कं विषयं पश्येत्?**

इसी बातको श्रुति दूसरी तरहसे समझाती है:

**आत्मानं चेद्विजानीयाद् अयमस्मीति पूरुषः।**
**किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥**

(बृहदा० ४.४.१२)

'यदि अपनेको जान लिया 'मैं यह पुरुष (ब्रह्म) हूँ' तो फिर किसकी इच्छा करता हुआ किस कामनाकी पूर्तिके लिए इस शरीरको कर्ममें तपाये?' जब अपनेको ब्रह्म जान लिया तब—

(१) कौन प्रमाता किस प्रमाण-वृत्तिपर आरूढ़ होकर किस विषयको देखेगा?

(२) कौन भोक्ता किस विषयकी क्या इच्छा करेगा?

(३) कौन यजमान किस करणसे किस देवताको देखेगा?

श्रुतिने भोक्ता, भोग–भागकरण और भोज्य, प्रमाता, प्रमाण–प्रमाण-क्रिया और प्रमेय, उपासक, उपासना–उपासनाके करण और उपास्य, कर्ता, कर्म–कर्मकरण–कर्मफल, इन सबका निषेध कर दिया।

इन श्रुतियोंके रहते हुए वेदान्तोंका तात्पर्य कर्ममें नहीं हो सकता। यह तो कर्ता, क्रिया, कर्म, करण और विषयका उपमर्दन

करनेवाला बोध है, इनको बाधित करनेवाला बोध है। यह यजमानको कर्ममें लगानेवाला बोध नहीं है।

यह आत्मा कैसा है कि यह छोटा-बड़ा नहीं है: **अनणु अदीर्घम्**। यह किसी कर्मको करनेमें उपयोगी नहीं है। यह किसी देवताकी उपासनामें उपयोगी नहीं है: **अरूपम् अरसम् अगन्धवत्** इसका वर्णन है। **अलोहितं अस्नाविरम्, न तदश्नाति किंचन**—न इसमें नस-नाड़ी-खून है और न यह कुछ खाता है। यह किसी स्वर्ग पानेमें मददगार नहीं है क्योंकि यह **अनपरम् अबाह्यम्** है। इसकी न कोई जाति है और न इसमें कोई भेद है। फिर आत्म-ज्ञानका उपयोग कर्म या उपासनामें कैसे हो सकता है। 'तत्केन कं पश्येत्' यह श्रुति क्रिया-कारक-फल सबकी निषेधक श्रुति है।

कहो कि फिर तो आत्मज्ञान व्यर्थ है। तो एक बार इसको जानो तो, तुम्हारी सारी गुलामी, सारी पराधीनता, सारी हीनताएँ, सारे अभाव, सारी परिच्छिन्नताएँ सदैवके लिए विदा हो जायेंगी। क्योंकि ये सब तुमने बेहोशीमें, नशेमें, अज्ञानसे, बेवकूफीसे, भ्रान्तिसे अपने चिपका ली हैं। असलमें तो ये तात्कालिक वृत्तियाँ हैं। आयीं और गयीं, आयी और गयी, परन्तु अपने स्वरूपके अज्ञानसे तुम उनके साक्षी और अधिष्ठान होते हुए भी उनसे एक हो जाते हो और दीनहीन बन जाते हो। पत्नी मर गयी, रोने लगे; लड़केका विवाह हो गया, हँसने लगे। फिर व्यापारमें हानि हो गयी, रोने लगे। परन्तु अपनी असंगता पर कभी विचार नहीं किया। तुम ऐसे असंग हो कि रोतेको छोड़ा, फिर हँसतेको भी छोड़ दिया। हँसने और रोनेवाले आये और चले गये और तुम ज्योंके-त्यों हो। श्रुति कहती है कि तुम यही ब्रह्मतत्त्व हो जिसमें एक हँसनेवाला नहीं, एक रोनेवाला नहीं,

करोड़ों हँसने-रोनेवाले हँसें और रोयें तब भी उसका कुछ नहीं बिगड़ता है।

आत्माको ब्रह्म बतानेवाले वेदान्त तुमको मजदूर (कर्ता) नहीं बनाना चाहती। वह तुम्हारे साथ कर्मका सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहती, क्योंकि कर्मके पास पाप-पुण्य आवेगा तो कभी तुम अपनेको पापी मानकर दुःखी होगे और कभी पुण्यात्मा मानकर सुखी होगे! वह भोगका सम्बन्ध तुम्हारे साथ नहीं जोड़ना चाहती क्योंकि भोग प्राप्त करके तुम कभी सुखी होगे तो उनके अभावमें कभी दुःखी होगे! श्रुति तुम्हारे साथ लोक परलोकका सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहती क्योंकि तुम्हें उनमें आने-जानेका कष्ट वहन करना पड़ेगा।

इसलिए यह जो वेदान्त ज्ञान है वह कर्म-उपासनाका अंग नहीं है। यह तो जो तुम्हारा असली स्वरूप है उसको बतानेके लिए है। जो लोग वेदान्तको इसलिए पढ़ते हैं कि सीखलो, यजमानके घर मन्त्र सुनायेंगे तो ढेर सारी दक्षिणा मिलेगी, वे कभी वेदान्त समझ ही नहीं सकते। वेदान्त स्वाध्याय विधिका अंग नहीं है यह तो मोक्ष-प्रापक शास्त्र है। मुमुक्षुको ही इसका गुरुमुखसे श्रवण करना चाहिए।

हम सन् १९३०-३१-३२ में कनखल जाते थे तो वहाँ भारती विद्यालयमें स्वामी भागवतानन्दजीके पास जाते थे। वहाँ कुछ नये-नये संन्यासी पंचदशी पढ़ते या शंकरानन्दी, शांकरभाष्य वगैरह पढ़ते। मैं फालतू समयमें २-४ घण्टे उन्हें पढ़ा देता था। मैं उन संन्यासियोंसे पूछता—"मैंने पहले इन ग्रन्थोंको पढ़ा। अब लगता है इनको पढ़नेकी जरूरत नही है। वैराग्य हो गया है पढ़नेसे। तुम इनको क्यों पढ़ते हो?"

उनमेंसे कोई कहता : हमारी माँ हमें बचपनमें स्वामीजीको दे गयीं थी। कोई कहता हम बचपनमें भीख मांगते थे, अनाथ थे इसलिए संन्यासी हो गये। अब हमारे मनमें संसारकी वासना होती है। इसलिए हम पढ़ते हैं कि पढ़ लिखकर किसी मठमें महन्त हो जायेंगे या कोई मण्डलेश्वर बना देगा तो हमारा कुछ महत्त्व हो जायेगा और जीवन हमारा ठीक हो जायेगा।

अब देखो पढ़ते थे वेदान्त, परन्तु वह तो सम्पत्ति पानेका अंग हो गया। यदि वेदान्त यज्ञयागादिमें दक्षिणा पानेका अंग हो तो वह ऐसा हो है। वेदान्त स्वाध्याय विधि ( स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ) का अंग नहीं है। यह तो श्रवणविधिका अंग है : **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।** आत्माके बारेमें गुरु-मुखसे सुनो। किसलिये ? आत्माके दर्शनके लिए, आत्माके ब्रह्म-रूपके साक्षात्कारके लिए।

श्री हरिबाबाजी महाराजके बाँधपर मैं पहले-पहल गया। यह बात सन् १९३४-३५ की है। वहाँ भागवतकी कथा सुनायी। उसमें कोई वेदान्तका प्रसंग आया तो मैंने साफ-साफ शांकर-प्रक्रियासे सुना दिया। सुनकर श्रोताओंमें-से पण्डित सुन्दरलालजी उठकर खड़े हुए और बोले : "पण्डितजो, तुमने वेदान्त पढ़ा है ?" मैंने जवाब दिया ; "पण्डितजो, वेदान्त मैंने पढ़ा तो नहीं है, सुना है।" वे बड़ी जोरसे हँसे और वहीं बोले : "मैं गलत था, तुम ठीक हो। वेदान्त पढ़नेकी चीज नहीं, सुननेकी ही चीज है।"

वेदान्त अध्येतव्य नहीं है, यह श्रोतव्य है। वेदान्तका श्रवण न तो किसी देवताकी उपासनाके लिए है और न तो किसी यजमानकी स्तुतिके लिये है। यह कर्मका अंग नहीं है। यह तो अपना सच्चा स्वरूप बतानेके लिए है। ●

( ४.९ )

# ब्रह्मावगति शास्त्रैकगम्य है

मूलभाष्य :—

न च परिनिष्ठितवस्तुस्वरूपत्वेऽपि प्रत्यक्षादि-विषयत्वं ब्रह्मणः, तत्त्वमसि ( छां० ६.८.७ ) इति ब्रह्मात्मभावस्य शास्त्रमन्तरेणानवगम्यमानत्वात् । ( क्रमशः )

भाष्यार्थ :—परिनिष्ठित स्वरूप होनेपर भी ब्रह्म प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका विषय नहीं है। तत्त्वमसि, इस वेदान्तशास्त्रके बिना ब्रह्मात्मभाव अवगत नहीं होता।

## १. वेद ब्रह्मका शंसन करता है

वेदमें दो प्रकारका वर्णन आता है—शासन और शंसन। शासन अर्थात् क्या करना है और क्या नहीं करना है। इसको विधिभाग ( मन्त्रभाग ) बोलते हैं। जिसका देहाभिमान बड़ा प्रबल होता है उसके लिए विधिभाग है। मैं ब्राह्मण हूँ, मैं संन्यासी

हूँ, मैं हिन्दू हूँ, मैं मनुष्य हूँ—यह जो देहमें शक्लसूरतके कारण आरोपित अभिमान है, इसीको जो 'मैं' मानकर आग्रह कर बैठ गया है वह देहाभिमानी है। जब तुम अपनेको कुछ मानोगे—ब्राह्मण, संन्यासी इत्यादि तब ब्राह्मणको क्या करना चाहिए क्या नहीं करना चाहिए, संन्यासीको क्या करना चाहिए क्या नहीं करना चाहिए, इस विधि-निषेधकी आवश्यकता होती है। असलमें विधि-निषेधका प्रयोजन सर्वज्ञ ईश्वरके आज्ञापालनरूप कर्मके द्वारा कर्ताके अन्तःकरणमें सत्त्वकी वृद्धि कराना है। संयतात्मा सत्त्वगुणसम्पन्न कर्ता ही क्रमसे अन्ततः ब्रह्मजिज्ञासाका अधिकारी बनता है।

जैसे लोकमें जब हम कोई पद स्वीकार कर लेते हैं तब उस पदका विधि-निषेध हम पर लागू होता है, उसी प्रकार वेद भगवान् हमारे लिये जितने विधि-निषेध बताते हैं वे हम पर तब लागू होते हैं जब हम कर्तापनेकी, भोक्तापनेकी, संसारीपनेकी और परिच्छन्नतापनेकी पदवी धारण कर लेते हैं।

इसके अलग हम वास्तवमें क्या हैं, इस बातको भी वेद शंसन-वाक्योंके द्वारा समझाता है। इसको वेदान्त या उपनिषद् भाग कहते हैं। जो विपर्ययसे ग्रस्त हैं और उसमें मजा ले रहे हैं और उससे छूटना भी नहीं चाहते हैं वे इस वेदान्तके अधिकारी नहीं हैं। विपर्यय क्या? साढ़े तीन हाथके शरीर और उसके प्रत्ययोंको मैं मान बैठना विपर्यय है। उसमें मजा लेना क्या? शरीरके रिश्तेदार-नातेदार मेरे रिश्तेदार-नातेदार हैं, शरीरका धर्म-कर्म मेरा धर्म-कर्म है, इसकी वासना मेरी वासना है, इसकी शान्ति मेरी शान्ति है—ऐसा मानना यही मजा है। इतनी ही नहीं मैं शान्तिसे युक्त शान्त हूँ, मैं बुद्धिसे युक्त प्रमाता हूँ, मैं चित्तसे युक्त भोक्ता हूँ, मैं इन्द्रियोंसे युक्त कर्ता हूँ, अमुक प्रकारके शरीरसे युक्त मैं मनुष्य हूँ, मैं ब्राह्मण

हूँ, मैं संन्यासी हूँ इत्यादि—देहकी किसी चीजको 'मैं' मानना और देहसे सम्बन्धित किसी चीजको 'मेरी' मानना यह सब विपर्ययका विलास है। जात, पात, सम्प्रदाय, जिला, प्रान्त, देश किसीको भी मैं-मेरा मानना विपर्ययके अन्तर्गत। संक्षेपमें, आत्माको वह न मानना जो वह है और वह मानना जो वह नहीं है विपर्यय है। उसमें आग्रह बुद्धि उसमें मजा लेना है।

फिर वेदान्तका कौन अधिकारी है? जो सत्यको नंगा देखना चाहता है और उसके लिए वह अपने समस्त आग्रह, यहाँ तक कि अपना व्यक्तित्व भी छोड़नेको तैयार है, वह वेदान्तका अधिकारी है। इस अधिकारकी गारंटी है उसका शमदमादि साधनोंसे सम्पन्न होना।

जब आत्माका अनुसंधान किया जाता है तो बड़ा विलक्षण होता है। जिस जिसको हम मैं-मेरा मानते हैं वह तो हमारे सामनेकी चीज (दृश्य) होती है। उसको तो हम देखते हैं। कभी उसके साथ मिलते है और कभी नहीं भी मिलते हैं। ये जितनी भी चीजें मैंने बतायी—राष्ट्रीयता, प्रान्तीयता, मानवता, जातीयता, साम्प्रदायिकता, पारिवारिकता, गोत्रीयता, काला, गोरा, बलवान्, बुद्धिमान्, भोगवाला, शान्तिवाला इत्यादि—जब इनमें-से किसीको मैं-मेरा मानकर बैठोगे तब कुछ-न-कुछ करना पड़ेगा क्योंकि ये पूर्ण नहीं हैं। यदि आप परिच्छिन्न हो तो पूर्णसे कुछ लेना पड़ेगा। शरीरमें हवा है तो बाहरकी सापेक्षतया असीम हवासे हवा लेनी पड़ेगी। भीतर जल है तो बाहरके जलसे जल लेना पड़ेगा। कोई भी अपूर्ण वस्तु अपने पूर्ण (अंशी) के बिना जीवित नहीं रह सकती। यदि आप जीव हैं तो ईश्वरसे मदद लेनी पड़ेगी। अपने व्यष्टि मनको समष्टि मनसे और अपनी व्यष्टि बुद्धिको समष्टि बुद्धिसे मदद लेनी पड़ेगी। और यदि लेना है तो देना भी पड़ेगा। प्राण-

वायु पहले बाहर निकालकर फिर भीतर खींचते हैं। यह सृष्टिका नियम है।

विधि-निषेध वहीं है जहाँ आप कुछ बनकर बैठे हैं।

अब सत्य वस्तुकी बात करते हैं। जो देश-काल-वस्तुसे परिच्छिन्न नहीं होता वही सत्य होता है। जो यहाँ है वहाँ नहीं है, या वहाँ है यहाँ नहीं है, जो अब है तब नही है या तब है अब नहीं है; जो यह है वह नहीं है या जो वह है यह नहीं है; वह सत्य नहीं हो सकता। जो केवल हिमालयमें मिलता है, जो केवल सत्ययुगमें मिलता है, जो केवल समाधिमें मिलता है या जो केवल मरनेके बाद बैकुण्ठ आदिमें मिलता है, जो केवल वह में या तू में मिलता है मैं में नहीं मिलता—वह सत्य नहीं है।

यह बात उपासनाके सब आचार्योंको मान्य है कि ईश्वर सब जगह है, सब कालमें है, सब वस्तुमें है और एक ही इश्वरके रूपमें दिखायी पड़ रहा है। ईश्वर एक परिनिष्ठित वस्तु है। वह परि= सब जगह; नि=नितराम्; ष्ठित=उपस्थित है। वह कभी अनुत्पन्न नहीं होता और कभी गत नहीं होता। फिर ऐसे ईश्वरको देखनेमें क्या बाधा पड़ रही है ?

वेदका कहना है कि केवल न पहिचाननेके कारण ही वह नहीं मिल रहा है। सब आचार्य—शंकर, रामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभ, चैतन्य, रामानन्द, शैव, शाक्त, गाणपत्य, सौर—यह मानते हैं कि अज्ञानके कारण परमेश्वर नहीं मिल रहा है। यदि कोई नहीं मानेगा तो वह तो वेदको ही नहीं मानेगा। **ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**—इस श्रुतिको सब मानते हैं और व्याख्या करते हैं। प्रश्न केवल इतना ही है कि श्री शंकराचार्य मानते हैं कि केवल अविद्यासे ही परमेश्वर अप्राप्त है और भक्तिके आचार्य मानते हैं कि अविद्या और अनादिकालके संस्कार भी,

दोनोंके कारण परमेश्वर अप्राप्त हो रहा है। तब भक्तोंके मतसे ईश्वर कैसे मिलेगा ? संस्कार-निवर्तक भक्ति और अज्ञान-निवर्तक ज्ञानसे, अर्थात् भक्तिविशिष्ट ज्ञानसे ! श्री रामानुजाचार्यजी महाराजने कहा है:—

**मम भवतु परस्मिन् शेमुषी भक्तिरूपा**

'परमात्मामें हमारी बुद्धि लगे, अर्थात् ज्ञान हो, परन्तु वह बुद्धि कैसी हो कि भक्तिरूपा हो।' भक्तिविशिष्ट जो परमात्म-बुद्धि है वह संस्कारसहित अविद्याको निवृत्त कर देती है।

श्री शंकराचार्य भगवान्‌का कहना है कि यह जो संस्कार है वह न तो सन्मात्रमें है, न चिन्मात्रमें है, न आनन्दमात्रमें है और न अद्वयमें हैं और न प्रत्यगात्मा साक्षीमें हैं। तब वे भी अविद्या-कल्पित ही हैं अतः केवल अविद्या ही परमात्माके दर्शनमें प्रतिबन्धक है।

परमात्माको दोनों मानते हैं। परमात्माकी प्राप्तिको दोनों इष्ट मानते है, परन्तु उसके प्रतिबन्धक अलग-अलग मानते हैं। जिसने संस्कार माना उसने निवर्तक भक्ति भी मानी और जिसने संस्कारको स्वतंत्र प्रतिबन्ध नहीं माना उसने भक्तिकी स्वतन्त्र आवश्यकता भी नहीं समझी। अविद्यानिवर्तक ज्ञान दोनोंमें समान है।

जब परमात्मा यहीं हैं तो वह हमें यहीं मिलना चाहिए। जो हमको यहाँ, यह, अब और मैं मालूम पड़ता है उसमें परमात्मा है, वह मालूम पड़ना चाहिए। देश-काल-वस्तु और इनका ज्ञाता, ये चारों जिस आधारमें फुरफुराते हैं, इन चारोंका जो साक्षी है, इन चारोंसे जो परे है, इन चारोंमें जो अनुगत है, ये चारों जिसमें नहीं हैं वह प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परमात्मा अभी-अभी है। इसको जाननेके बाद यदि कोई कहे कि यह वर्णन किसीकी स्तुति करनेके

लिए है, विधिनिषेधके लिए है तो हे भगवान्! उसकी बुद्धिको सुमार्ग पर लाओ।

अपनेको संन्यासी जानोगे तो दण्ड-कमण्डलु उठाओ ठीक, परन्तु अपनेको ब्रह्म जानोगे तो क्या बृहस्पतिसव (यज्ञविशेष) करोगे? अपनेको कर्ता जानोगे तो पुण्य करोगे, पाप नहीं करोगे; अपनेको भोक्ता जानोगे तो सुख भोगना चाहोगे दुःख भोगना नहीं चाहोगे। अपनेको संसारी जानोगे तो स्वर्गमें जाना चाहोगे नरकमें नहीं जाना चाहोगे। अपनेको परिच्छिन्न असंग जानोगे तो समाधिमें बैठना चाहोगे। परन्तु यदि अपनेको अद्वय ब्रह्म जानोगे तब क्या करोगे? श्रुति कहती है—'तत्केन कं पश्येत्'! वहाँ किसके द्वारा किसको देखे? जहाँ द्वैत-सा होता है वहाँ अन्यके द्वारा अन्यको देखता है, सूँघता है, इत्यादि। परन्तु जहाँ ऐसा आत्मबोध हुआ कि सब ब्रह्म ही है तो वहाँ कौन भोक्ता किस करणसे किस विषयका भोग करे? वहाँ तो कर्ता, करण, कर्म सबका बिलकुल उपसंहार ही हो गया।

लोगोंका यह ख्याल है कि निर्वृत्तिक दशामें ब्रह्मोपलब्धि होगी। निर्वृत्तिक दशा होती है, हम यह मानते हैं लेकिन उस दशामें अज्ञान-निवर्तक सामर्थ्य है या नहीं, यह प्रश्न है। द्वैतका निवर्त्य-निवर्तक-भाव वहाँ है या नहीं? जहाँ वृत्ति ही नहीं है वहाँ द्वैत भी नहीं है, और जहाँ द्वैत नहीं है वहाँ निवर्त्य-निवर्तक-भाव भी नहीं है।

इसीसे हम लोग यह बोलते हैं कि जो तुम किसी दशामें पहुँचकर ब्रह्मको पहिचानना चाहते हो वह ठीक नहीं है। निर्वृत्तिक दशा होती है परन्तु प्रतीतिहीन दशा नहीं होती। भान तो अपना स्वरूप है : **भानमात्रं परब्रह्म**। यदि भान मर गया तो फिर चेतन क्या रहा? जैसे जाग्रत् अवस्थामें जाग्रत्का

भान होता है, स्वप्नावस्थामें स्वप्नका भान होता है, सुषुप्ति अवस्थामें सुषुप्तिका ( अन्धकारका और जाग्रत्-स्वप्नके अभावका ) भान होता है वैसे ही निर्वृत्तिक-दशाका भी भान होता है—

**एतावन्तं कालम् अहं किंचिन्नवेदिषम् समाधिस्थोऽभूवम् ।**

'मैंने इतने समय तक कुछ नहीं जाना, मैं समाधिस्थ हो गया था।' समाधि में वृत्तिका, वृत्तिके विषयका और वृत्तिकी वर्तिताका कुछ अनुभव नहीं किया. यह तो ठीक है; परन्तु इसमें मैं वास्तवमें ब्रह्म हूँ जीव नहीं हूँ' यह अज्ञान मिटानेवाली वृत्ति कहाँ हुई ? 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य-जन्य वृत्ति कहाँ हुई ? वहाँ भी श्रुतिने कहा है :—

**नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात् ।**

( बृहदा० ४.३.२३ )

'द्रष्टाकी दृष्टिका कभी लोप नहीं होता।' समाधिमें गन्धादि विषय नहीं रहते, गन्धादि विषयोंकी वृत्ति नहीं रहती और परिच्छिन्न भोक्ताका भी भान नहीं होता। परन्तु इस निर्विषयक, निष्करणक और निष्कर्तृक दशाका भान भी जिसको होता है उसको जाननेका कौन-सा साधन है ? **विज्ञातारमरे केन विजानीयात् ?**

श्रुति कहती है 'श्रोतव्यः' अर्थात समाधिमें नहीं, श्रवणके समय इस बातको समझो और बुद्धिमें जो भ्रम है उसका निराकरण करो।

जैसे कोई काम हो जाने से ही कोई पाप-पुण्य नहीं हो जाता, अपितु जब कर्ता संकल्पपूर्वक कोई निषिद्ध या विहित कर्म करता है तब उसमें से पाप-पुण्यकी उत्पत्ति होती है, अन्यथा नहीं होती। उसी प्रकार जबतक जिज्ञासु जानबूझकर अविद्याकी निवृत्तिके लिए वेदान्त श्रवण नहीं करता है और महावाक्य-जन्य वृत्ति पर आरूढ़

होकर अविद्याको दूर नहीं करता है, तबतक अविद्या दूर नहीं होती।

और जब अपनेको ब्रह्म जान लिया तब सम्पूर्ण क्रिया, कारक और फल आत्मासे अभिन्न हो गये। फिर उसके लिए कोई विधि-निषेध नहीं रह जाता। उसके लिए क्रिया कहाँ है? किस शरीरका कारक उसका कारक माना जाय? कौनसी क्रिया उसके लिए कर्तव्य होगी? किस फलके साथ उसका सम्बन्ध होगा?

श्री शंकराचार्य कहते हैं कि यह जो आत्मा है वह सहज स्वरूप से असाधन और अफल रूप है। साधन और फल इसका स्वभाव नहीं है। 'अमुक चीज हमको पाना है और उसके लिए अमुक काम हमको करना है'—यह आत्माका स्वभाव नहीं है। यह तो अपूर्ण देह–इन्द्रियादिका स्वभाव है। जब हम इनके साथ तादात्म्य करते हैं तब हम 'यह कहते हैं और वह पाते है।'

अब भाई, शांकरवेदान्तको समझनेके लिए थोड़ा-सा वैराग्य और थोड़ी-सी निवृत्ति तो चाहिए ही!

हम कर्म क्यों करते हैं? या तो कुछ छुड़ाने-छोड़नेके लिए और या फिर कुछ पानेके लिए। अर्थात् या तो 'जिहासा' (=त्यागकी इच्छा) से प्रेरित होकर या प्रेप्सा (=पानेकी इच्छा) से प्रेरित होकर। परन्तु जहाँ जिहासा और प्रेप्सा दोनों भ्रान्ति-जन्य पदार्थके प्रति हों वहाँ कर्मकी कोई आवश्यकता ही नहीं है। वहाँ तो भ्रान्तिके अधिष्ठानके प्रति जिज्ञासा (=जाननेकी इच्छा) अपेक्षित है।

एक आदमी रास्तेमें चला जा रहा है। उसे लगा उसके पाँवमें साँप लिपट गया है। तुरन्त पैर झटकार करके या हाथसे पकड़ करके साँपको दूर फेंक देनेकी जिज्ञासा होती है। परन्तु यदि पाँवमें साँप लिपटा ही नहीं, अपने ही पाँवका नूपुर सर्पदंशकी

भ्रान्ति उत्पन्न कर रहा है, तो क्या पाँव झटकारनेसे या हाथसे अलग करनेसे साँप छूट जायेगा ? नहीं। वहाँ तो सिर्फ यह जान लेनेसे कि 'यह साँप नहीं है, नूपुर है' साँप छूट जायेगा। यदि भ्रमवश कोई वस्तु अपनेमें लग गयी हो और उसका त्याग करना हो तो वह केवल ज्ञानसे निवृत्त हो जाती है।

अब देखो प्रेप्सित भी दो प्रकारका होता है। आपका हार सन्दूकमें रखा हो और आप उसे पाना चाहें तो ताला खोलना पड़ेगा, पेटी खोलनी पड़ेगी और हार निकालकर गलेमें पहिनना पड़ेगा ( यह अप्राप्त वस्तुकी प्रेप्साकी बात हुई कि साधन करके उसे प्राप्त करना है )। परन्तु यदि हार आपके गलेमें ही पड़ा हो और आप उसे भूल गये हों, तो उस प्राप्त हारको प्राप्त करनेके लिए आपको सिर्फ यह जाननेकी जरूरत है कि हार आपके गलेमें पहलेसे ही है। यह प्राप्त वस्तुकी प्रेप्साकी बात हुई।

अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति कर्मसे होती है और प्राप्त वस्तुकी प्राप्ति ज्ञानसे होती है।

यदि आपका आत्मा किसी मञ्जुषामें बन्द होता तब तो वह ताला-चाभी रूप साधनसे प्राप्त होता। परन्तु वह तो आपके गलेमें ही है, आपका अपना आपा ही है। इसलिए उसे प्राप्त करनेके लिए केवल अपनी भूलको मिटाओ। गोदमें बालक शहरमें ढिंढोरा !

वेदान्तका कहना है कि न तो तुम्हारे पैरमें असली साँप चिपट गया है जो उसे झटककर दूर कर दो; और न तो तुम्हारा हार खो गया है या दूसरी जगह रखा है जिसके लिए तुम कर्मके साधनमें लगो। नूपुरमें ही हो रहा है सर्पका भ्रम और कंठमें ही है हार। बन्धन, दुःख, आवागमन, ग्लानि, चिन्ता, शोक, मोहकी जो प्राप्ति है वह भ्रम-वश है। वे झटकनेसे नहीं जायेंगे। मुक्ति, सुख, स्वातंत्र्य कहीं तुमसे दूर नहीं हैं। वे कोई कर्मका

साधन करनेसे प्राप्त नहीं होंगे। तुम्हारा आत्मस्वरूप सब प्रकारके बन्धन और दुःखोंसे नित्यमुक्त है और सुख, स्वातन्त्र्य और मोक्ष उसका स्वरूप ही है। सिर्फ उसको जानने मात्रसे ही दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जायेगी और परमानन्दकी प्राप्ति हो जायेगी।

अपना आत्मा सच्चिदानन्द अद्वय-अनन्त-नित्यप्राप्त है परन्तु वह अप्राप्त-सा हो रहा है और अविद्या, असत्ता, दुःख और परिच्छिन्नता नित्य अप्राप्त हैं परन्तु वे प्राप्त जैसी लगती हैं। इस विपरीत वर्तनको ही माया कहते हैं। श्रीमद्भागवतमें आया है—

**ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।**
**तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः॥**

(भाग० २।९।३३)

'आत्मामें परमार्थसत्ताके बिना जो कुछ प्रतीत होना है अथवा आत्माका होते हुए भी जो प्रतीत न होना है, इन दोनोंको ही आत्माकी माया समझो। जैसे चन्द्रमा दो नहीं हैं परन्तु नेत्र दोषसे दो दीखता है; आकाशमें राहु-नक्षत्र है परन्तु प्रतीत नहीं होता।''

इसी प्रकार अपना स्वरूप नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त, असंग, उदासीन, साक्षी, अद्वय ब्रह्म है, वह तो भासता नहीं और बद्ध, परिच्छन्न, सुखी-दुःखी, संसारी रूप जों उसका नहीं है वह भासता है। यही माया हैं, यही अज्ञान है। यह अज्ञानान्धकार कैसे मिटेगा ?

एक महात्मा हिमालयकी यात्रा कर रहे थे। उन्होंने देखा पर्वतकी एक बड़ी गुफाके सामने बड़ी भीड़ जमी है। निकट पहुँच कर देखा कोंई समाधि लगाये बैठा है, तो कुछ लोग ईश-प्रार्थना-कर रहे हैं, कुछ लोग होम कर रहे हैं, कोई दान कर रहे हैं। पूछनेपर लोगोंने बताया कि इस गुफामें एक अन्धकाररूप महादैत्य रहता है। उसको इस गुफासे भगानेके लिए ये सारे अनुष्ठान चल

रहे हैं। इस गुफामें जो घुसा लौटा ही नहीं। इसमें बड़े-बड़े अजगर हैं, साँप हैं। महात्मा हँसे और बोले : 'अन्धकार मिटानेका तो कोई उपाय नहीं है। उसका उपाय तो प्रकाश करना है। इसलिए बड़ी-बड़ी मसालें बनाओ और जलाओ और आओ घुसो मेरे साथ इस गुफामें !' लोगोंने ऐसा ही किया। अंधकार मिट गया जैसे-जैसे गुफाके अन्दर लोग घुसते गये। वहाँ न कोई साँप था, न अजगर।

इस बुद्धिरूपी गुफामें भ्रमका अन्धकार घुस गया है। जबतक इसको न मिटाया जायेगा तबतक इसमें ऐसे-ऐसे साँप अजगर हैं कि खा जायेंगे ! बुद्धिमें ही यह भ्रमतिमिर है और बुद्धिमें ही ज्ञान-प्रकाश है। दोनों एक ही जगह हैं। यह जो वेदान्त है न, वह उस प्रकाशको प्रज्वलित कर देता है जिससे अन्धकार नष्ट हो जाता है और अपना आपा सूझने लगता है। एकबार जब आत्मा सूझ गया, अंधकार निवृत्त हो गया, अजगर साँप मार दिया गया और जहरीली औषधिआँ काटकर साफ कर दीं, फिर रोशनी जलानेकी भी जरूरत नहीं है। गुफामें मजेमें बैठकर एकान्तका आनन्द लो !*

## २. परिनिष्ठित वस्तु

आओ ! **परिनिष्ठित वस्तुकी** चर्चा करें !

एक वस्तु है जो वर्तमान है अर्थात् जो वर्त रहा है, बदल रहा है, बीत रहा है, जैसे काल है, जैसे घट है, पट है, मठ है। एक ऐसी वस्तु है जो वर्तमान नहीं है, विद्यमान है; जो बदलती नहीं है; जैसे घटमें मृत्तिका, पटमें तन्तु। घट उत्पन्न होकर फिर वर्तता है, मृत्तिका अनुत्पन्न रहते हुए ही विद्यमान रहती है। वह घटादिकी वर्तमानतामें नित्य विद्यमान रहती है।

जो विद्यमान है वह 'है'। मृत्तिका है, तन्तु है, लौह-पिण्ड है, स्वर्ण-शिला है। यह अनेक 'है' ( अस्तित्वों ) की जो समष्टि है उसको सत्तासामान्य या 'सत्ता' बोलते है। सत्तासामान्यमें जो वस्तु है वह तो एक है 'सत्' और उसमें जो अनेकता है वह कार्यकी अपेक्षासे औपाधिक है। अनेकताके आरोपसे मुक्त सत्ताको सत् कहते है।

अब देखो, जो घट है ( वर्तमान ) वह उत्पन्न है; जो मृत्तिका है ( विद्यमान ) वह स्थित है; जो 'सत्ता' है वह निष्ठित है ( माने निःशेषपूर्वक स्थित है ); और जो 'सत्' है वह परिनिष्ठित है।

शरीर घट है क्योंकि यह घटित होता है, गढ़ा जाता है। किसमें गढ़ा गया? पंचमहाभूतोंमें, पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु-आकाशमें। इसलिए उपादानभूत-पंचभूत विद्यमान हैं। इन पंचभूतोंमें जो एक अस्तित्वरूप सत्ता सामान्य 'है' है—पृथ्वी है, जल है, अग्नि है, वायु है, आकाश है, वह पांचोंमें ओतप्रोत जो सत्ता है वही है, इसलिए सत्ता निष्ठित है; दूसरे शब्दों में प्रकृति निष्ठित है। अनेकता और उसके बीज प्रकृतिका प्रकाशक जो चैतन्य साक्षी है, वह न अनेक है और न अनेकताका बीज है उसमें। इसलिए वह 'सत्' है। यह सत् परिनिष्ठित है। 'सदेव सोम्य इदमग्र आसीत्'।

घटकी अकारावस्था, पंचभूतोंकी विद्यमानता और उनमें अनुगत एक सत्तासामान्य—इन तीनोंके निषेध करनेपर जो 'सत्' वस्तु निश्चित होती है वही परिनिष्ठित वस्तु ब्रह्म है।

घट उत्पन्न है, मृत्तिका 'स्थित' है, मृत्तिकात्व 'निष्ठित' है और ब्रह्म 'परिनिष्ठित' है। ( इस सूक्ष्म भेदको न जानकर पूर्वपक्षी प्रश्न करता है :—

**पूर्वपक्षी :** जो भी परिनिष्ठित वस्तु होती है मोन सिद्ध वस्तु होती है उसका प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ज्ञान होता है। जैसे घड़ा है सिद्ध वस्तु, तो उसको आँखसे जानते हैं। यदि नहीं भी दिखे तो कुम्हारके घर घट देखा जा सकता है, अथवा दस आदमियोंके घरोंको देखकर उनके घर घटका अनुमान किया जा सकता है। इसी प्रकार जब ब्रह्म भी परिनिष्ठित वस्तु है तो उसका भी प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाणसे ज्ञान होना चाहिए।

**सिद्धान्ती :** नहीं। **न च परिनिष्ठितवस्तुस्वरूपत्वेऽपि प्रत्यक्षादि-विषयत्वं ब्रह्मणः।**

ब्रह्म है तो परिनिष्ठित वस्तु परन्तु फिर भी वह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंके द्वारा नहीं जाना जा सकता। ब्रह्म इन्द्रिय और ऐन्द्रियक संस्कारसे युक्त करणोंसे नहीं जाना जा सकता। पूर्ण, अनन्त, अद्वितीय ब्रह्म-वस्तुको कौन-सी इन्द्रिय दिखायेगी? क्या आँख? वह तो अपने विषय रूपको भी पूरा नहीं दिखा पाती। एक सामान्य तरंग-दैर्ध्यवाले रंगोंको ही आँख देख पाती है। अतिसूक्ष्म अथवा अत्यधिक तरंगदैर्ध्यवाले प्रकाश आँखसे नहीं देखे जाते। फिर सामान्य वर्णमें भी आँख तभी देख पाती है जब कि उसका अनुग्राहक प्रकाश होवे तथा साधारण करण-मन एकाग्र होवे। आँख दूसरी इन्द्रियके विषयको, जैसे शब्द अथवा गन्ध, स्पर्श, रस, नहीं देख सकती। यही दशा प्रत्येक इन्द्रियकी है। तब ये इन्द्रियाँ अलग-अलग अथवा सब मिलकर भी परिपूर्ण अनन्त-वस्तुका साक्षात्कार नहीं करा सकतीं।

कहो कि मनकी एकाग्र अवस्था अथवा ध्यान या समाधिसे अनन्तका साक्षात् कर लेंगे, तो ध्यान है तो बढ़िया चीज, परन्तु आप इस बात पर ध्यान दो कि ध्यानमें जो चीज आपके पास आती है वह क्या वही आती है जो दुनियामें देखते हैं या उससे

विलक्षण आती है ? यदि वही आती है तो उसका ध्यान करनेकी क्या जरूरत ? दुनियाकी वस्तुकी ही सेवा करो न ! स्त्री, धनका ध्यान करते हो, सामने स्त्रीकी सेवा करो न, खनाखन रुपया गिन लेना ! यदि कहो, नहीं जी, हम तो इन्द्रियातीतका ध्यान करते हैं, भावातीतका ध्यान करते हैं ! तो भाई मेरे, यह कैसे मालूम पड़ा ? बोले : वाक्यसे ।

चाहे श्रद्धाका हजार खण्डन करो, परन्तु यदि ध्यान करते हो तो वहाँ श्रद्धा-विश्वास जरूर है । बिना श्रद्धा-विश्वासके ध्यान नहीं होता । दीखती है शालिग्रामकी शिला और ध्यान करते हैं उसमें चतुर्भुज विष्णु भगवान्‌का । शालिग्रामको तोड़ोगे तो क्या उसमें-से चतुर्भुज विष्णु निकलेंगे ? बिना महत्त्व-बुद्धिके ध्यान नहीं होता । अपने आप जो ध्यान होता है वह तो नैसर्गिक है जैसे स्त्रीका ध्यान, पुरुषका ध्यान, धनका ध्यान । लेकिन यदि लोकातीत, भावातीतका ध्यान करोगे तो श्रद्धा-विश्वास अवश्य करना पड़ेगा । जो लोग श्रद्धा-विश्वासको काटते हैं वे तो अपनी माँ और अपने बापपर भी विश्वास कैसे करेंगे, गुरु और शास्त्र-पर विश्वासकी बात तो दूर रही ।

तो वचनपर, वाक्यपर विश्वास किये बिना ध्यान नहीं होता । जो अनन्त, अद्वय वस्तु है वह ध्यानके द्वारा नहीं जानी जा सकती । वह न ध्यानका विषय है न उपासनाका । ब्रह्म तो परिनिष्ठित वस्तु है । वह न घटादिके समान विनाशी है, न पृथिवी आदिके समान स्थित है, न पृथिवीत्व आदिके समान स्थित है, न सत्ता सामान्यके समान निष्ठित है, वह तो परिनिष्ठित है । उसका ज्ञान कैसे होगा ?

बोले : 'नेति' 'नेति'से सबका निषेध कर दें, ज्ञान हो जायेगा ।

ऐसा क्यों कि वेदान्त मतका प्रतिपादन नहीं करता, अमतका प्रतिपादन करता है।

एक बार मैंने शास्त्रार्थ सुना—महामहोपाध्याय पं० श्री हरिहर कृपालुजी और म० स० पं० श्री अनन्तकृष्ण शास्त्रीजीका। कृपालुजी जरा न्याय ज्यादा जानते थे और अनन्तकृष्णजी वेदान्तके भारी विद्वान् थे। शास्त्रार्थमें हमने अपने कानोंसे सुना। पं० अनन्तकृष्णजीने कहा: 'हमारी मतिका जो विषय है और तुम्हारी मतिका जो विषय है, उनका खण्डन कर दो तो या तो हमारी मति हार जायेगी या तुम्हारी मति हार जायेगी। हमारी-तुम्हारी मति हार जानेसे हमारे तुम्हारे मतका खण्डन हो जायेगा। परन्तु मत तो हमारा इष्ट ही नहीं है। हम तो जो अमत है, जो कोटि-कोटि शरीरोंमें रहनेवाली मतिका प्रकाशक एवं अधिष्ठान है, और जिसमें मति मिथ्या है, उस वस्तुका प्रतिपादन करते हैं। इसलिए किसी मतके खण्डन या स्थापनसे अमत-तत्त्वमें कुछ फर्क नहीं पड़ता। अमत परमार्थ सत्ता है और मत प्रातिभासिक या व्यावहारिक सत्ता है।

सबके शरीरमें मति है। उसके अलग-अलग विषयोंका ज्ञान होता है। प्रति शरीर अलग-अलग मति हैं। इसलिए उन सब मतियोंमें एक सत्ता-सामान्य है (अथवा चित्-सामान्य है) परन्तु इस मतिसे अतीत (मतिका अविषय), मतिका आश्रय एवं प्रकाशक, जो अखण्ड सत्ता है जिसमें मतिका अस्तित्व नहीं है, उसपर मतिका क्या प्रभाव पड़ेगा? ऐसी वस्तुका ज्ञान वाक्य-प्रमाणके अतिरिक्त किसी भी दूसरे साधनसे शक्य नहीं है। 'तत्त्वमसि' वाक्य है। इसमें तत् और त्वम् पदोंके लक्ष्यार्थकी एकताके ज्ञानके लिए 'नेति-नेति' प्रक्रिया है।

'नेति-नेति' माने यह नहीं, यह नहीं। सारे शास्त्र इतिकी

व्याख्या करते हैं और वेदान्त 'इति न' का प्रतिपादन करता है। जो भी वस्तु कार्यके रूपमें, कारणके रूपमें, कर्त्तव्यके रूपमें निश्चय की गयी है वह ब्रह्म नहीं है। नाम, रूप, आकृति, पंचभूत, पंचतन्मात्र, अहंकार, महत्तत्त्व, प्रकृति, जीव, माया, कर्म, कर्म-फल, अविद्या, समाधि, विक्षेप, विवेक, अविवेक, एकाग्रता, चंचलता, वासना, निर्वासनता—इनमें कोई ब्रह्म नहीं है। ये सब 'इति' हैं।

किसीने कहा : लो हमने शास्त्रका खण्डन कर दिया। 'नेति-नेति'में शास्त्र भी कहाँ बचेगा? बोले : ठीक, तुम्हारे मुँहमें घी-शक्कर। आजाओ वेदान्त पक्षमें। 'नेति-नेति' तो वेदान्त सम्प्रदाय है न! अब कौन चेला हुआ—तुम या वेदान्त? जो बादमें होगा सो चेला होगा। ऋग्वेदने कहा : नासदासीद् नोसदासीत् तदानीम् (ऋग्वेद १०.१२९.१)। उस समय न सत् था न असत् था। तो हम ही चेले होंगे वेदान्तके। कृतघ्नता नहीं करनी चाहिए।

तो नेति-नेति प्रक्रियासे सर्वका निषेध करके जो निषेधावधिके रूपमें 'त्वं' पद-वाच्यार्थ कूटस्थ आत्मा है वही देश, काल, वस्तुके परिच्छेदसे रहित अद्वितीय ब्रह्मज्ञान है।

वेदान्त कोई साधन-साध्यकी चर्चा नहीं है। यदि तुमको यज्ञ करना हो तो यज्ञमण्डपमें जाओ। यदि उपासना करनी हो तो मन्दिरमें जाओ। यदि ध्यान करना है तो हृदयमें बैठो। ये सब तुम्हारे व्यक्तित्वके निर्माणका प्रश्न है, उसमें हम कोई दखलन्दाजी नहीं करते। लेकिन यदि तुम सत्य वस्तुको जानना चाहते हो, अज्ञानकी वेदना है यदि तुम्हें, तो वेदान्तके अलावा और कोई मार्ग नहीं है। अब किसीको अज्ञान न सताता हो तो वह कुछ और करे!

हम काशीमें एक महात्माके दर्शन करने गये। महात्माने कहा : पण्डित जी, यदि तुम्हें दुनियामें कुछ भोगने-पाने-करनेका

मन हो तो जाओ पहले भोग आओ, पा आओ, कर आओ। रही बात अविद्या छुड़ानेकी, तो वह तो हम चुटकी बजायेंगे और छूट जायेगी। जो चीज है ही नहीं उसको छुड़ानेमें क्या देर लगती है। अपने व्यक्तित्वको बनाना है तो बना लो, नहीं तो हम एक क्षणमें बतादें कि अविद्या नामकी कोई वस्तु नहीं है। स्वयंप्रकाश आत्मदेवको अविद्या आवृत नहीं कर सकती। यह जो मालूम पड़ता है कि अविद्याने हमको घेर रखा है यह भी देहाभिमानमें बैठ करके ही मालूम पड़ता है। यदि देहाभिमान न हो तो यह नहीं मालूम पड़ेगा।

यदि कर्म, उपासना, योगसे तुम्हें सन्तोष हो जाता है तो हमें क्या जरूरत पड़ी है कि तुम्हें तुम्हारे सन्तोषसे विचलित करें : **न बुद्धिभेदं जनयेद् अज्ञानां कर्मसंगिनाम्।** गीता ( ३.२६ ) का यह वचन है कि ज्ञानीको अज्ञानी और कर्मासक्त मनुष्यके मनमें कर्मके सम्बन्धमें बुद्धि-भेद नहीं उत्पन्न करना चाहिए। लेकिन यदि तुम्हें तुम्हारा अज्ञान दुःख दे रहा है तो वेदान्त सुनना ही पड़ेगा।

प्रश्न यह है कि जब तुम 'नेति-नेति' करते हो तो कहाँ बैठकर करते हो ? यदि देहमें बैठकर देहका निषेध करोगे तो निषेध नहीं होगा। इन्द्रियोंमें बैठकर देहका निषेध होता है, मनमें बैठकर इन्द्रियोंका निषेध होता है, बुद्धिमें बैठकर मनका निषेध होता है, कूटस्थ साक्षीमें बैठकर बुद्धिका निषेध होता है और ब्रह्ममें बैठकर सर्वका निषेध होता है।

एकने कहा : हमको सब दुःख ही दीखता है।

हम कहते हैं : सौभाग्यकी बात है कि तुम सुखमें बैठे हुए हो फिर भी तुम्हें दुःख ही दीखता है। सुखीको दुःख थोड़ा-सा भी ज्यादा मालूम पड़ता है जैसे सफेद कपड़ेपर थोड़ा-सा दाग भी

ज्यादा लगता है। इसका अर्थ है कि तुम अमृतमें बैठकर मृत्युको देखते हो चित्में बैठकर जड़को देखते हो, आनन्दमें बैठकर दुःखको देखते हो।

एक महिला सजी-धजी युवती आदिवासियोंके बीचमें गयीं। अब वहाँ महाराज, लोग नंगे, स्त्रियाँ भी नंगी। श्रीमतीजी बहुत नाराज हुईं। उनके पतिने उनसे कहा : 'अरे तुम उनकी ओर क्यों देखती हों। अपनी ओर क्यों नहीं देखतीं। तुम इन नंगी कुरूप स्त्रियोंके बीचमें कितनी अधिक सुन्दर लग रही हो!'

इसी प्रकार जब तुम्हें चारों ओर मृत्यु, जड़ता, दुःख, भेद दिखाई पड़ता है तब तुम अमृत, ज्ञान, आनन्द और अद्वितीयतामें स्थित होकर यह सब देखते हो। इनकी ओर देखना बन्द करो तो अपना आपा 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' नजर आ जाय।

यह जो 'नेति-नेति' है वह भी जहाँ तुम बैठकरके 'नेति-नेति' करोगे, वहाँकी दृष्टि है, साधन नहीं है। वहाँ बैठकर दीखता ही ऐसे है। तुम ऐसे पूर्ण हो कि कोई देश ऐसा नहीं है जहाँ तुम न हो! तुम ऐसे आनन्द हो कि दुःख तुमको छू ही नहीं सकता। तुम ऐसे ज्ञान हो कि जड़ता तुम्हें स्पर्श नहीं कर सकती। तुम ऐसी सत्ता हो जिसको मृत्यु स्पर्श नहीं कर सकती। तुम ऐसे सुन्दर हो कि कुरूपता कहीं दिखती ही नहीं। अनन्त सौन्दर्य, अनन्त माधुर्य, परमानन्द हो तुम! सबके प्रिय ज्ञान-स्वरूप, अखण्ड, अद्वय! जब तुम अपनेको इस रूपमें अनुभव करनेकी कोशिश करोगे तब 'नेति-नेति' अपने आप हो जायेगा!

निराधार नेति-नेति वेदान्त सम्प्रदायके अनुसार गलत है आत्माके ब्रह्मस्वरूपमें बैठकर अपने आप जो निषेध होता है वह वेदान्त सम्प्रदाय बताता है। हम 'सम्प्रदाय' कहनेमें डरते नहीं हैं। क्योंकि राजनीतिमें जिस अर्थमें (मजहबीपने अर्थमें)

सम्प्रदाय शब्दका प्रयोग होता है, उस अर्थमें हमलोग प्रयोग नहीं करते। सम्यक् प्रकृष्ट दाय। यह तो ज्ञानकी हक़दारी है। जो ज्ञान नारायणमें था वह ब्रह्माजीको मिला, वही वसिष्ठजीको मिला और वही गुरु-शिष्य परम्परासे हमारे गुरुजीको मिला, और वही हमको मिलना चाहिए। जो नारायणकी आत्मा है, वही हमारे गुरुकी आत्मा और वही हमारी आत्मा है।

जो चिद्-वस्तु है, सद्-वस्तु है, आनन्दमात्र-वस्तु है, जो अखण्ड, अनन्त, अद्वय-वस्तु है, उसमें अपनेको बिठा दो, और बोल दो 'नेति-नेति'। यह सत्सम्प्रदायकी रीति है। ये जो महाराज, बीस-पचीस-पचास वर्षसे वेदान्त सुनते हैं और सम्भव है पूर्व जीवनमें भी सुना हो और किसी प्रतिबन्धके कारण ब्रह्मज्ञान तब न हुआ हो और अब जब उन्हें ब्रह्मज्ञान हो जाता है तो कहते हैं: हमने बिना गुरुके, बिना शास्त्रके ही पा लिया! तो डूबकर लाये क्या? अभिमान लाये, परिच्छिन्नता लाये! तो ब्रह्मज्ञानके साथ उसका सम्बन्ध ही क्या रहा? कोई ज्ञान मौलिक नहीं होता। उसकी एक परम्परा होती है।

श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायमें मानते हैं कि कार्यमें भेद हैं और कारणमें अभेद है:

श्रीरामानुज-सम्प्रदायमें मानते हैं कि विशेषणमें भेद है, विशिष्टमें अभेद है।

श्रीशंकराचार्यके सम्प्रदायमें मानते हैं कि उपाधिमें भेद है, उसके प्रकाशक-अधिष्ठानमें भेद नहीं है। तथा उपाधिसे अवच्छिन्न और अनवच्छिन्न चैतन्य एक ही है।

श्रीमध्वके सम्प्रदायमें मानते हैं कि जगत्का अभिन्न निमित्तोपादान कारण ब्रह्म है और वही भेदरूप जगत्के रूपमें प्रकट हुआ है।

श्रीचैतन्यमहाप्रभुके सिद्धान्तमें मानते हैं कि द्वैत है कि अद्वैत, यह कहते नहीं बनता, इसलिए उनका सिद्धान्त अचिन्त्यभेदाभेद कहलाता है।

तो अपने-अपने सम्प्रदायके अनुसार सब मानते हैं। अब सत्सम्प्रदाय वह कहलाता है जो वैदिक संविधानके अनुरूप हो। क्योंकि समस्त भेदोंका पर्यवसान अभेदमें होता है ( औपाधिक अभेद भी भेदरूप ही है ) इसलिए ब्रह्मकी स्वरूपगत अभेदतामें ही सब सम्प्रदायों एवं सिद्धान्तोंका समन्वय होता है। 'तत्तु समन्वयात्'। इस प्रकार औपनिषद सिद्धान्त जिसमें 'एक अखण्ड, अद्वितीय चेतन-सत्ता ही विवर्तित होकर जीव जगत् ईश्वरके रूपमें दीख रही है और उस अद्वय चिद्सत्तामें ये हैं ही नहीं' इस अद्वैत-सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है वही सत्सम्प्रदाय है।

एक सच्ची घटना आपको सुनाते हैं। घटना हरिद्वारकी है। वहाँ एक महात्मा बिल्कुल नंगे रहते थे। सर्दी, गर्मी, बरसात आयें और निकल जायँ। लोगोंकी श्रद्धा बढ़ी। यह नियम है कि जो चीज हमारे पास नहीं होती और हमारी बुद्धिमें उसका महत्त्व होता है उसको दूसरोंके पास देखकर हमारी श्रद्धा होती है। हम कपड़े पहनते हैं इसलिए नग्नको देखकर श्रद्धा होती है। अब भीड़ इकट्ठी होने लगी। वे चढ़कर बैठ गये पेड़पर। उतरें ही नहीं। लोग रस्सीसे बाँधकर ऊपर खाना पहुँचा देते। ऊपर ही खाते और ऊपरसे ही टट्टी-पेशाब भी कर लेते। हजारों आदमी दर्शनको आने लगे।

एकने पूछा : महाराज, जब आप इतनी तपस्या करते हैं तो आपने तो ईश्वरको अवश्य देखा होगा ?

महात्मा : हाँ हाँ, हम रोज हरदम ईश्वरको देखते हैं।

वह : महाराज हमको भी ईश्वर दिखा दो !

महात्मा : दिखा देंगे, परन्तु हमारी कही करोगे ?

वह : क्या महाराज ?

महात्मा : यह सिरकी टोपी और गलेका जनेऊ जो है न, वह ईश्वरको देखनेमें बाधा पहुँचाता है। इनको निकलवा दो।

बहुत लोगोंने टोपी जनेऊ निकलवा दिया। परन्तु ईश्वर नहीं दिखा। फिर पूछा महात्मासे। ईश्वर कैसे दिखेगा ?

महात्मा : अच्छा दो-दो पत्थर उठाकर लाओ और सब बैठकर बजाओ। ईश्वर दीखेगा।

अब महाराज लोग खटाखट पत्थर बजायें। परन्तु ईश्वर तो नहीं मिलना था, नहीं मिला। लोगोंने फिर पूछा : 'महाराज ईश्वर क्यों नहीं दीखता ?'

महात्मा : अभी तुम्हारे पाप हैं, इसीसे ईश्वर नहीं मिलता। एक काम करो। सबलोग जमीनपर थूको और उसको चाटो।

कुछ अश्रद्धालु लोग तो चले गये। कुछ श्रद्धालुओंने थूका भी और चाटा भी। परन्तु ईश्वर नहीं मिला। फिर महात्मासे पूछा। महात्माने कहा : अच्छा रातको बारह बजे ईश्वर दिखावेंगे।

रातको लोग इकट्ठे हुए। ठीक बारह बजे महात्मा जी पेड़से उतरे और छाती ठोंककर बोले :—'मैं ही ईश्वर हूँ। दर्शन करो हमारा।'

लोगोंने कहा : महाराज आपको तो हमने पहले ही रोज देख लिया था। हमारी इतनी दुर्दशा क्यों करायी ? पहले ही कह देते कि मैं ईश्वर हूँ।

महात्माने कहा : यह दुर्दशा तो तुम्हारी बेवकूफीके कारण हुई। श्रद्धा-विश्वास पाप नहीं है पुण्य है। परन्तु जबतक बेवकूफी रहेगी तबतक तुम्हारा ज्ञान भी तुमको धोखा दे देगा। ईश्वर-

दर्शनकी एक प्रणाली होती है। उसको छोड़कर ईश्वर दर्शनके नामपर जिसने जो बता दिया करने लगे, ऐसे ईश्वरका दर्शन नहीं होता। आचार्यसे-गुरुसे, सत्सम्प्रदायकी रीतिसे ईश्वरका अनुसन्धान करो तो ईश्वर मिलेगा। जाओ, 'तत्त्वमसि' वह ब्रह्म तुम कूटस्थ आत्मा ही हो, यह बोध ही ईश्वर-दर्शन है।

छान्दोग्य उपनिषद्में कथा आती है कि किसी आदमीको चोर उठा ले गये। आँखपर पट्टी बाँध दी और हाथ-पैर बाँधकर जंगलमें भूखा प्यासा छोड़ गये। उधरसे कोई कोमल हृदयी व्यक्ति आ निकले। उन्होंने उसका बन्धन खोला और उसके देशका मार्ग चिह्न बताकर चले गये। वह व्यक्ति बतानेके अनुसार चला और घर पहुँच गया। (छां० ६.१४) इसी प्रकार उपनिषद्ने कहा :

**आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये।**
(छां० ६.१४.२)

'आचार्य पुरुष ही सद्ब्रह्मको जानता है। उसके मोक्ष होनेमें उतना ही विलम्ब है जबतक कि देहबन्धनसे मुक्त नहीं होता।'

कोई कहते हैं कि अपने आप ज्ञान हो जायेगा और कोई कहते हैं कि वेद-शास्त्र, गीता और भागवतमें क्या धरा है। इनको मत पढ़ो! फिर क्या पढ़े? वे कहते हैं—हमारी लिखी किताबें पढ़ो! हमारा चिन्तन मौलिक है, हमारा लेखन मौलिक है, हमारा अनुभव मौलिक है!

परन्तु इस दुनियामें मौलिक क्या है? न अनुभाव्य मौलिक है न अनुभवकर्त्ता मौलिक है। अनुभवके करण भी मौलिक नहीं है। अनुभवका व्याख्यान ही भिन्न-भिन्न होता है। उसमें भी भाषा मौलिक नहीं होती, शब्द मौलिक नहीं होते, विभक्तियाँ मौलिक नहीं होती, शब्दार्थ मौलिक नहीं होते। बस, उन पदोंका विन्यास व्यक्तिगत रूपसे विशेष होता है और असलमें वह भी बहुत-से

प्राचीन और समकालीन विद्वानोंकी किन्हीं अंशोंमें अनुकृति होती है।

वेदान्तमें मुश्किल यह है कि हम देखना चाहते हैं इन्द्रियोंसे, मनसे और बुद्धिसे उसको जो इन्द्रियोंका, मनका, बुद्धिका साक्षी है और अधिष्ठान है। जहाँतक साक्षीका प्रश्न है वह तो शायद बिना वेदान्त-शास्त्रके भी बोध हो सकता है। धर्मके फलस्वरूप अन्तःकरण शुद्ध होनेपर, उपासनाके फलस्वरूप इष्टमें तन्मय होनेपर और सांख्य-योगके अनुसार विवेक-ख्याति होनेपर या अपने स्वरूपमें अवस्थान होनेपर। परन्तु जो दृश्यमात्रका साक्षी है वही दृश्यमात्रका अधिष्ठान भी है, यह बात बिना वेदान्तके नहीं जानी जा सकती।

उदाहरणके लिए आप साँपको देख रहे हैं। मैं सर्पको देखने-वाला द्रष्टा और सर्प दृश्य—यह बात आपको बिना किसीकी सहायतासे मालूम पड़ सकती है। परन्तु जबतक आप तलाश करके रज्जुका पता नहीं लगा लेते तबतक यह मालूम नहीं पड़ेगा कि साँप रज्जुमें नहीं था, मेरे मनमें ही था। द्रष्टा-दृश्य सहज सिद्ध होनेपर भी वे अज्ञानमूलक थे। परन्तु ज्ञान होनेपर क्या जाना कि जहाँसे साँपका ज्ञान हो रहा है उसी देशमें साँप है। दूसरे शब्दोंमें साँपका प्रकाशक और अधिष्ठान एक है अथवा साँपके मालूम पड़नेकी जगह और मालूम पड़ना दोनों एक हैं। इसी प्रकार, यह दृश्य प्रपंच द्रष्टाकी दृष्टिसे दिखायी पड़ रहा है; दृष्टि द्रष्टाकी है, परन्तु द्रष्टासे बाहर दृश्य नहीं है। विश्व अपनी प्रतीति-काल और प्रतीति-देश सहित तदाकार वृत्तिमें ही है। उससे बाहर नहीं है ( यह बाहरपना भी उसी वृत्तिमें भासता है )। रज्जु-अवच्छिन्न चैतन्य सर्पके रहनेकी जगह नहीं है। अन्तः-करणावच्छिन्न चैतन्य ही सर्पके रहनेकी जगह है ( भ्रान्ति-जन्य

सभी पदार्थ भ्रान्तिके आश्रयमें ही अविद्यावश साक्षी द्वारा भासते हैं। उनका अतिरिक्त स्थान, अतिरिक्त काल और अतिरिक्त द्रव्यमें कोई अस्तित्व नहीं होता)। यह जो प्रपञ्च दिखायी पड़ रहा है वह हमसे बाहर किसी दूसरे विशाल पदार्थ (प्रकृति या ईश्वर आदि)में नहीं दिखायी पड़ रहा है। बल्कि जहाँ जिस अन्तःकरणमें दिखायी पड़ रहा है उसीमें व्यक्तित्व जातित्व सहित, देश-काल-द्रव्य सहित, वहीं दिख रहा है। इसलिए जो द्रष्टा है वही अधिष्ठान है।

जिस अधिष्ठानको तुमने पहले अलग समझा है कि वह 'तत्' कोई परोक्ष पृथक् सत्ता है, वह कोई अन्य सत् नहीं है बल्कि तुम जो चित् तत्त्व हो, वही सत् अधिष्ठान तुम हो। इसका अर्थ है कि दृश्यावच्छिन्न चैतन्य कोई दूसरा और वृत्त्यावच्छिन्न चैतन्य कोई दूसरा, ऐसा नहीं है, अपितु दोनों असलमें एक हैं। इसलिए आत्म-चैतन्य अनन्त है, ब्रह्म है, और अद्वितीय है। इसमें वृत्ति और विषयका, प्रत्यय और शब्दका, किंचित् भी भेद नहीं है। 'तत्त्वमसि' महावाक्य ही इस बातको बता सकता है, कोई अन्य प्रमाण इसको नहीं बता सकता।

'नेति-नेति'में निषेधका आधार यदि ब्रह्मात्मैक्य नहीं है तो निषेध पूरा और सच्चा नहीं होगा। 'इति' दृश्य है, उसका निषेध हो सकता है, परन्तु 'इति'के द्रष्टा और 'इति'के अधिष्ठानका निषेध नहीं हो सकता। द्रष्टाका निषेध होगा तो 'इति'का साक्षी कौन होगा, और यदि अधिष्ठानका निषेध होगा तो 'इति' भासेगी किसमें? द्रष्टा और अधिष्ठानके सिवाय सभी कुछकी 'इति' हो जाती है। 'नेति-नेति'में उपाधिका निषेध हो जाता है— कार्योपाधिका, कारणोपाधिका, ज्ञातृत्व उपाधिका और ज्ञेयत्व उपाधिका भी, परन्तु इन सबके न रहनेपर जो इनके अभावके अधिष्ठानका प्रकाशक है स्वयं ही वह अधिष्ठान भी है।

इसलिए केवल निषेधसे ( नेति-नेतिसे ) काम नहीं चलता ! निषेधावधि सत् ( अर्थात् तत् ) और निषेधावधि चित् ( अर्थात् त्वं ) दोनों एक हैं, यह बात भी परमात्म दर्शनमें जाननी आवश्यक है। असलमें नेति-नेति 'तत्त्वमसि'की भूमिका तैयार करती है। आत्मा और ब्रह्म दोनों एक हैं, यही वेदान्तका अभीष्ट है। ●

## ३. तत्त्वमसि

जैसे मिट्टी नामकी एक चीज है वैसे ही ब्रह्म भी एक चीज है। परन्तु वह चीज ऐसी विलक्षण है कि वह उपासनासे मनमें बनानेकी नहीं है, वह धर्म करके बनानेकी नहीं है और न तो योगाभ्यास करके कुछ बनानेकी है। वह न उत्पाद्य है, न आप्य है, न संस्कार्य है और न विकार्य। वह एक ऐसी वस्तु है जो सर्वदेशमें, सर्वकालमें, सर्ववस्तुमें और इनके अभावमें, तथा मैंमें, तुममें, इनके विवर्ती उपादानके रूपमें विराजमान है। जो देश-काल-वस्तुमें है और जिसमें देश-काल-वस्तु नहीं है, जो देश-काल-वस्तुका अधिष्ठान और प्रकाशक है, जो अपना आपा ही है, वह ब्रह्म है। वह ब्रह्म बिल्कुल परिनिष्ठित वस्तु है। उसको जाने बिना कल्याण नहीं हो सकता। परन्तु जैसे रोटीके ध्यानसे या रोटीकी भावनासे कल्याण नहीं होता ( भूख नहीं मिटती ) वैसी बात यहाँ नहीं है। क्योंकि रोटी खानेवालेसे बाहरकी वस्तु है, परन्तु ब्रह्म तो कोई बाहरकी वस्तु नहीं है वह तो अपना आत्मा ही है। वह परिनिष्ठित वस्तु होनेसे ब्रह्मका ज्ञानमात्र ही कल्याणका हेतु होता है क्योंकि ब्रह्म स्वयं कल्याणरूप है। **शान्तं शिवम् अद्वैतम्।**

परिनिष्ठित वस्तु ब्रह्मको पहले नेत्रादि प्रमाणसे देखें और फिर वाक्य आदि प्रमाणसे बोलकर प्रमाणित करें, ऐसा नहीं

होता। सत्संगी लोग यह संस्कार लेकर सत्संगमें आते हैं कि धर्म करनेसे पुण्य होता है और उपासनासे भगवान् प्रसन्न होते हैं तथा योगसे परमात्मामें स्थित हो जाते हैं। इनको वेदान्त मानता तो है परन्तु विवेक-वैराग्य आदिकी अपेक्षा इनको बहिरंग मानता है। बहिरंग साधनोंको करनेसे विवेक जाग्रत् होता है, विवेकसे वैराग्य, वैराग्यसे अन्तःकरणमें शमदमादि साधन-सम्पत्ति और अन्तमें मुमुक्षा जाग्रत् होती है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन ब्रह्म-वस्तु विषयक होनेसे अन्तरंग साधन हैं।

अब प्रमाणका विचार करो। प्रमाण क्या? **प्रमाकरणं प्रमाणम्** = जो प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञानका करण हो वह प्रमाण कहलाता है। **प्रमीयते अनेन प्रमाणम्** = जिसके द्वारा यथार्थ ज्ञान होवे सो प्रमाण। प्रमाका साधन नहीं, प्रमाका करण प्रमाण है।

प्रमा क्या? **तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवः** = जो चीज जैसी हो उसको वैसी ही अनुभव करना, उसका नाम प्रमा होता है। प्रमा अर्थात् यथार्थ अनुभव। और यथार्थ अनुभवका जनक होता है प्रमाण। रूप विषयमें नेत्र प्रमाण है। परन्तु वस्तु काली है कि गोरी है इन शब्दोंका उल्लेख नेत्र नहीं करता। वह तो संस्कारसे, पूर्वज्ञानसे बुद्धि करती है। नेत्र तो केवल दो रूपोंका अन्तर बताता है। स्त्री-पुरुषका आकृतिभेद, रूपभेद, आँख बताती है परन्तु 'यह स्त्री है' या 'यह पुरुष है' यह निश्चय-ज्ञान आँख नहीं कराती, वह संस्कारसे होता है।

रूप नेत्रसिद्ध है, परन्तु नाम संस्कारसिद्ध है और स्मृतिरूप है। यह कभी-कभी गलत भी हो जाता है जैसे सूर्य एक बित्तेका मालूम पड़ता है जिसमें हजारों पृथिवियाँ समा जायँ; गुरु (बृहस्पति) छोटा-सा दीखता है यद्यपि उसमें १०८ पृथिवियाँ समा जायँ, इतना बड़ा है वह; और पृथिवी विशाल विस्तृत दिखायी पड़ती है।

प्रमाण उसको कहते हैं जो प्रमाणान्तरसे अनधिगत, अबाधित तथा स्मृतिसे पृथक् ज्ञानका जनक हो। आँख रूपको बताती है क्योंकि रूपका ज्ञान आँखके अलावा किसी अन्य इन्द्रिय जैसे नाक या कान या जिह्वा या त्वचासे नहीं हो सकता फिर उनके ज्ञानसे अबाधित तो होगा ही कैसे? तथा यदि आँख 'घट' बताती है तो हजार वेद-मन्त्र बोल करके भी उस घटको यह नहीं अनुभव कराया जा सकता है।

न हि श्रुतिशतमपि घटे पटयितुम् ईष्टे।

जब आँखसे घट देख रहे हैं तो उसमें मन्त्र या अभ्यास क्या करेंगे? स्मृतिसे 'यह घट नहीं, पट है' ऐसा अभ्यास करनेसे क्या घट-पट बन जायेगा? अच्छा, यदि अभी जिस वस्तुको हमारी आँख सर्प बता रही है वही एक क्षण बाद रज्जु मालूम पड़े तो क्या नेत्र-प्रमाण हुआ? बोले: नहीं, क्योंकि नेत्रका पूर्वज्ञान उत्तर ज्ञानसे बाधित हो गया। इस प्रकार प्रमाणमें तीन बातें होनी चाहिए: पहला—वह ज्ञान किसी दूसरे प्रमाणसे न जाना जाय, दूसरा—वह ज्ञान दूसरे किसी प्रमाणसे अथवा उसी प्रमाणसे पहले या पीछे कट न सके। तीसरा—स्मृतिज्ञानसे व्यावृत हो।

लोकमें प्रमाण माने दूसरा होता है। वहाँ प्रमाण माने सबूत होता है और 'लिखन्त' तथा 'चश्मदीद', यह दो प्रकारका होता है।

अब ब्रह्म परिनिष्ठित वस्तु है जरूर, परन्तु वह किसी भी प्रत्यक्ष-अनुमानादि प्रमाणका विषय नहीं है। ब्रह्मको अशब्दम् अस्पर्शम् अरूपम् इत्यादि कहा गया है। इसलिए वह किसी प्रत्यक्ष प्रमाण—आँख, कान, नाक, जिह्वा या त्वचाका विषय नहीं हो सकता। अच्छा, कहो ब्रह्मका स्मरण करें, तो जिसको पहलेसे देखा ही नहीं उसका स्मरण क्या करोगे? अपने मनसे सोचोगे तो कल्पना होगी!

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।। ( केन० १.६ )

इत्यादि श्रुतिवचन ब्रह्मको मनका विषय बतानेका खण्डन करते हैं। ब्रह्म न दृष्ट है, न स्मृत है और न कल्पित है।

श्री उड़िया बाबाजी महाराज एक श्लोक बोला करते थे—

प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयं प्रमितिस्तथा ।
यस्य प्रसादात् सिद्धयन्ति तत्सिद्धौ किमपेक्ष्यते ।।

'जिस आत्माके ( ब्रह्म ) होनेसे ही प्रमाण, प्रमेय, प्रमा और प्रमाता प्रकाशित होते हैं उसको सिद्ध करनेके लिए किस दूसरी वस्तुकी अपेक्षा है ?'

प्रमाण दूसरेको सिद्ध करनेके लिए होते हैं, वे 'मैं' को सिद्ध नहीं करते। मैं को पहलेसे सिद्धवत् मानकर ही सारे प्रमाण अपने-अपने व्यवहारमें प्रवृत्त होते हैं : आत्मानं सिद्धवत् मत्वा प्रवर्तन्ते।

जब प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय ब्रह्म नहीं है तब अनुमान, प्रमाणका विषय ही कैसे होगा ? क्योंकि अनुमान सदैव प्रत्यक्षका ही अनुगामी होता है। इसी प्रकार उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि प्रमाणोंका विषय भी ब्रह्म नहीं हो सकता। शब्द अथवा शास्त्र-प्रमाणकी बात यह है कि स्थूल विषयक शब्दादि प्रमाण तो प्रत्यक्षके ही अन्तर्गत हैं और जिन शब्दोंका प्रामाण्य स्वर्ग आदिके साधनसाध्यविषयक हैं उनसे ब्रह्मज्ञानका कोई सम्बन्ध नहीं है। शास्त्रमें जो 'तत्'-पदवाची शब्द अथवा वाक्य हैं वे भी परोक्ष विषयक होनेसे परिनिष्ठित तत्त्व ब्रह्मके ज्ञानमें सीधे प्रमाण नहीं हैं। 'ब्रह्म है और वह ऐसा-ऐसा है' बस यही बोध उनसे होता है। 'ब्रह्म है क्या वस्तु' माने ब्रह्मका साक्षात्कार यह नहीं होता। इसी प्रकार जो शास्त्र-वचन 'त्वं'-पदवाची हैं वे यद्यपि अपरोक्ष-तत्त्व अहं-विषयक हैं परन्तु अहंकी जो प्रत्यक्ष तथा अपरोक्षवत्

परिच्छिन्नता है उसका छेदन करनेमें वे समर्थ नहीं है, अतः सीधे ये वचन भी ब्रह्ममें प्रमाण नहीं है। तब ? जो शास्त्र वचन तत् पदार्थ परोक्ष अपरिच्छिन्न सच्चिदानन्द ब्रह्मका अपरोक्ष आत्माके साथ ( त्वं-पदार्थके साथ ) और परिच्छिन्न परन्तु अपरोक्ष सच्चिदानन्द आत्माका ( त्वं-पदार्थका ) ब्रह्मके साथ ( तत्के साथ ) ऐक्य-बोधन कराते हैं वे 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य ब्रह्मके सम्बन्धमें प्रमाण माने जाते हैं। इससे जो अपरोक्ष अपना आपा है उसकी परिच्छिन्नता कट जाती है और उसमें जो परोक्षताकी, अन्यताकी और कारणत्वकी कल्पना होती थी उसका बाध होकर एक अखण्ड अद्वितीय ब्रह्म-सत्ताका आत्माभिन्न बोध हो जाता है। यही ब्रह्मका साक्षात्कार है।

**'तत्त्वमसि' इति ब्रह्मात्मभावस्य शास्त्रमन्तरेण अनवगम्यमानत्वात्।**

असलमें, 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य भी शब्दराशि-रूपमें प्रमाण नहीं हैं, अर्थराशि-रूपमें ही प्रमाण हैं। अर्थात् 'वह तू है' जब यह वाक्य अधिकारी शिष्य गुरु-मुखसे श्रवण करता है तो अन्तःकरणकी जो एक वृत्ति बनती है ( वह बननी चाहिए ) कि 'मैं वह हूँ' वह वृत्ति 'मैं'की परिच्छिन्नता और 'वह'की परोक्षताको काट देती है और इसके कटनेके साथ ही वृत्तिके आश्रय और विषयकी एकताका अनुभव होकर एक अखण्ड-अद्वय-ब्रह्म-तत्त्वका अनुभव होता है। इसलिए महावाक्य नहीं, महावाक्य-जन्य अखण्डार्थं-धी ( वृत्ति ) ब्रह्मके विषयमें प्रमाण है। यहाँ भी अखण्डार्थ वृत्ति ब्रह्मका ज्ञापन नहीं कराती, अपितु ब्रह्मरूप आत्मामें जो अब्रह्मता-रूप अध्यास है उसका निवारणमात्र होता हैं। स्वयंप्रकाश ब्रह्म न किसी प्रमाणका प्रमेय है और न प्रमाता।

यदि आप अपनी अकलको दूसरेमें ही लगाये रखोगे तो

सत्यका दर्शन नहीं हो सकता। अपना आप ऐसा सत्य है जो प्रमाणके पूर्व भी रहता है, पश्चात् भी रहता है और बीचमें भी रहता है। जो आँखके खोलनेसे पहले, बन्द करनेके बाद और खुली रहनेके मध्य रहता है। ऐसी आत्माको कैसे जानें ? तो यह न ध्यानसे जाना जायेगा न उपासनासे और न कर्मसे। आत्मा ( ब्रह्म ) निर्विशेष है। वह किसी भी साधन-तन्त्रका विषय नहीं हो सकता।

बोले : नहीं जी, हम तो निर्विशेषका ही ध्यान करते हैं! तो सुनो, अभी जानना बाकी है। ध्यान तब करते हैं जब यह कहते हैं कि सामने पुस्तकका देखना ब्रह्मका देखना नहीं है; किताब कोई भिन्न वस्तु है और ब्रह्म कोई भिन्न वस्तु है। यदि कहो कि हम तो किसी आकृतिका ध्यान नहीं करते, हम तो सब विशेषोंको शान्त करके स्थित रहते हैं तो इसका यही अर्थ तो हुआ कि आँखका खुला रखना, मनका संकल्प-विकल्प करना, बुद्धिका निश्चय-अनिश्चय करना—ये सब तो थे विशेष और आँख, मन, बुद्धिका एक साथ शान्त हो जाना यह है निर्विशेष। इन अवस्थाओंका भेद तुम्हारी ध्यानावस्थामें रहा या नहीं ? नहीं रहा तो ध्यानके पश्चात् भेद क्यों प्रतीत हुआ ? इसलिए तुमने जो ध्यान किया वह निर्विशेषका ध्यान नहीं था, नहीं है, वह भी एक सविशेष अवस्था ही है। तुमने विक्षेपकी अपेक्षा शान्तिरूप विशेषका ध्यान किया, संगकी अपेक्षा असंगका ध्यान किया। ध्यान विशेषका ही होता है और वह अवस्था कर्तृत्वपूर्वक अभ्यास करके उत्पन्न की जाती है। तब निर्विशेषका ध्यान कैसे होगा कि विक्षेप और शान्ति दोनों भासते रहें और अपना आपा शान्ति-विक्षेपके द्वन्द्वसे रहित, इनका प्रकाशक और इनका अधिष्ठान ज्योंका-त्यों ! आत्मा निर्विशेष है यह ज्ञान ही निर्विशेषताका

ध्यान है। और यह ज्ञान गुरु-शिष्यके संवाद द्वारा उपनिषद् विद्याके श्रवणसे होगा, महावाक्यके श्रवण, मनन और निदिध्यासनसे होगा।

कुछ लोग कहते हैं कि सुनें भी क्यों, पढ़ लें, क्योंकि मनन और निदिध्यासन तो हमने पुरुषार्थ करके किया ही, इसलिए ब्रह्मज्ञान हमारे पुरुषार्थका फल है। ऐसे लोग शास्त्रकी भाषामें गुरु और शास्त्रके कृतघ्न हैं। इनका ज्ञान कभी सफल नहीं होगा। इनको बार-बार शोक-मोह होता रहेगा। जीवनमुक्ति इनको नहीं होगी। अनेक प्रसंग शास्त्रमें ऐसे पुरुषोंके आये हैं। गुरु-मुखसे श्रवण करनेसे 'अहम्'का छेदन होता है और बिना 'अहम्'के छेदनके ब्रह्मज्ञान नहीं होता।

परन्तु वक्ताकी विशेषतासे वाक्यको वेदान्तमें प्रमाण नहीं माना जाता और न उपनिषद्की पोथीमें लिखा होनेसे ही उसका प्रामाण्य है। वाक्यमें जिस वस्तुका जो स्वरूप बताया गया है उसका अपरोक्ष ( साक्षात्कार ) होता है या नहीं और वह प्रयोजनवत् है या नहीं—ये दो कसौटियाँ हैं वाक्यकी प्रामाणिकताको जाँच करनेकी। महावाक्य दोनों कसौटियोंपर खरे उतरते हैं।

महावाक्य कहता है कि यह जो दृश्य, शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि-वृत्तियोंके भावाभावका साक्षी—द्रष्टा है, असंग, उदासीन, दृङ्मात्र, वह सद्वितीय नहीं है, अद्वितीय है। उसमें द्रष्टा और दृश्यका भेद मिथ्या है। अर्थात् यह जो अहंपदका अर्थ है वह ब्रह्म है, यह महावाक्यका तात्पर्य है। इस तात्पर्यकी अनुभूति आपको हो सकती है, इसलिए महावाक्य प्रमाण है। किसने बोला, किस

भाषामें, किस पोथीमें लिखा गया, इससे कोई मतलब नहीं। शास्त्रोंमें वक्ताओंके नाम नहीं मिलते। दर्शनोंमें भी सिद्धान्तोंका खण्डन होता है व्यक्तियोंका नहीं। सिद्धान्त सब अनादि हैं और प्रवाहरूपसे चलते रहते हैं; उनके आचार्य आते रहते हैं, जाते रहते हैं। हम शून्यका खण्डन करते हैं, बुद्धका नहीं; हम अनेकान्तका खण्डन करते हैं, महावीर स्वामीका नहीं। हम मतकी आलोचना करते हैं, मन्ताकी नहीं। मन्ता बेईमान है यह बात नहीं कहते, लेकिन उसके मतमें जो किञ्चित् न्यूनता रह गयी है उसकी आलोचना करते हैं।

महावाक्यके है 'तत्त्वमसि'। तुम कहते हो, नहीं जी! हम तो देह मालूम पड़ते हैं, हम ब्रह्म कहाँ हो सकते हैं? ठीक-ठीक विवेक करो, तुम देह कहाँ हो? घटका द्रष्टा-घट कहाँ होता है? अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोषोंके द्रष्टा तुम इन कोषोंसे व्यतिरिक्त हो। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति दृश्य-मात्र हैं, तुम इनसे पृथक् द्रष्टा हो। जहाँतक परिच्छिन्न मैंकी गति हो सकती है वहाँतक 'अहम्' तत्त्वमसिका 'त्वम्' नहीं है। जो दृश्य परिच्छिन्न नहीं है उसको वाक्य अद्वितीय ब्रह्म बताता है। अद्वितीयसे मतलब है कि जिस दृश्यसे तुमने अपनेको अलग किया है (उनके द्रष्टारूपमें) वह दृश्य तुम्हारी अखण्डतामें न अपना स्थान रखती है, न समय और न स्वरूप। तुम्हारे अद्वितीय ब्रह्मात्मैक्य-बोधमें सब दृश्य बाधित हो गये! जिनको तुम-मैं-मेरा, अपना-पराया मानते थे वह सब अद्वितीय ब्रह्म है। विविक्त 'अहम्'को वाक्य ब्रह्म बताता है और इसका साक्षात्कार होता है। परन्तु किसीको देहमें अभिनिवेश होता है तो किसीको देवतामें; किसीको उपासनामें अभिनिवेश होता है तो किसीको स्थितिमें या ध्यानमें। किसीको विषयासक्तिमें अभिनिवेश होता है और किसीको परिच्छिन्नमें ही

अभिनिवेश हो जाता है। ऐसे मूढ़ पुरुषोंको विवेक नहीं होता है। यदि विविक्त करके देखोगे तो तत्त्वमसिका अपरोक्ष हो जायेगा।

साक्षात्कारकी प्रधानतासे वाक्यकी प्रामाणिकताकी स्थापना करते हैं, वक्ता, वचन या शास्त्रकी प्रधानतासे नहीं। और साक्षात्कार हो जानेपर वाक्यकी भी जरूरत नहीं रहती।

वाक्यके प्रमाणमें दूसरी बात प्रयोजन-सिद्धिकी है। आप बैठे हैं और अभी लगा कि साँप आया! किसीने कहा 'मारो'। तो कोई हाथ जोड़ेगा। कोई आँख बन्द करके बैठेगा। कोई कहेगा हम असंग साक्षीको साँप क्या काटेगा? परन्तु किसीने तुरन्त बड़ा-सा बल्ब जला दिया। प्रकाशमें देखा वहाँ तो कोई साँप ही नहीं था, रस्सी पड़ी थी। यह जानते ही सर्पका भय समाप्त हो गया, कुछ करने-धरनेकी जरूरत ही नहीं पड़ी। यहाँ प्रकाश-मात्रसे ही प्रयोजनकी सिद्धि हो गयी। इसी प्रकार तुम अपनेको कर्ता, पापी-पुण्यात्मा; संसारी, आने-जानेवाला, मरने-जीनेवाला; भोक्ता, सुखी-दुःखी और परिच्छिन्न जो मान रहे हो यह सब भ्रान्तिसे मान रहे हो। यह जीवत्व न कर्मसे मिटेगा, न उपासनासे और न योगसे या सांख्य-विवेकसे। करनेवाला स्वयं जीव है, प्रार्थना करनेवाला स्वयं जीव है, विवेक करनेवाला स्वयं जीव है। जीवके कर्तृत्वसे जीवत्व नहीं कटेगा। 'हम तो असंग साक्षी हैं, अन्तःकरणमें जो हों सो हो' इससे भी जीवत्व नहीं कटेगा।

एक बार मैंने श्री उड़ियाबाबाजी महाराजसे पूछा कि सत्रह लिंगोंवाला सूक्ष्म शरीर न मैं हूँ न मेरा है, फिर होने दो, उसका जो होना हो सो हो!

बाबा—नहीं बेटा, जबतक भावनासे पकड़करके कहोगे कि 'यह न मैं, न मेरा' तबतक यह नहीं छूटेगा। अपनेको ब्रह्म जानकर कहो तो ठीक है।

जब हम आत्माको सृष्टिका स्वयं-प्रकाश अधिष्ठान जानेंगे तब यह कहना बनेगा कि मेरे अन्दर स्थूल, सूक्ष्म, कारण सृष्टि नहीं है, मैं अद्वितीय ब्रह्म हूँ। तब फिर जीवत्वकी कहाँ गुञ्जायश? इस ज्ञानमात्रसे ही सम्पूर्ण प्रयोजनकी सिद्धि हो जाती है।

वेदान्त 'नेति-नेति' द्वारा असद्व्यावृत्ति कराते हैं आत्माकी और फिर 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंसे उस विविक्त दृङ्मात्रकी ब्रह्मताका अनुभव कराते हैं।

इस प्रकार यथार्थ बोधकता और प्रयोजनवत्ता दोनों बातें वाक्यमें हैं इसलिए वाक्य प्रमाण हैं।

अब देखो, एक मजेदार बात! पढ़ा तो बहुत, परन्तु प्रयोजन ही सिद्ध नहीं हुआ, तब क्या पढ़ा? काशीके एक पण्डित जी हैं, कोई ९४ वर्षके होंगे। मैं जब छोटा था, लघु-कौमुदी पढ़ता था तब वे शास्त्रार्थ करते थे। व्याकरणके पण्डित हैं। मेरे संन्यास लेनेके बादकी बात है। काशीमें शास्त्रार्थ हो रहा था कि ब्रह्मज्ञानसे दृश्य बाधित होता है या नहीं? जे० के० वालोंने कोई पाँच हजार रुपये उसपर खर्च किये थे। पण्डित रघुनाथ जी भी आये थे।

शास्त्रार्थमें यह बात आयी कि मिथ्यात्वका इतना ही लक्षण है कि स्वयंप्रकाश-अधिष्ठानमें प्रतीत होते हुए भी उसकी सत्ता बाधित हो जाती है। इसपर वह पण्डितजी बोले: 'अद्वैत सिद्धान्त ठीक नहीं है। क्योंकि जो जिसको जानता है वह उससे भिन्न

होता है। जैसे गधेको जाननेवाला गधा नहीं होता, घटको जाननेवाला घट नहीं होता। वैसे ही जो ब्रह्मको जानता है वह ब्रह्म नहीं होता। चूँकि ब्रह्म जाना जाता है इसलिए ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्मसे भिन्न है।'

पण्डित राजेश्वर शास्त्री भी वहाँ बैठे थे—बड़े त्यागी विद्वान्। उन्होंने पण्डितजीको डाँटा कि तुम व्याकरणके शास्त्रार्थमें बोलना, वेदान्तके शास्त्रार्थमें मत बोलो। इसपर वे पण्डितजी लड़ गये। तो उनका दक्षिणाकी लिस्टमें-से नाम काट दिया गया। बड़े परेशान पण्डितजी। आये मेरे पास और बोले : स्वामीजी हमारी दक्षिणा तो कट गयी। आप कह दो तो फिर हमारा नाम लिख जाय!

देखो यदि विद्याके साथ सम्बन्ध होता ब्रह्म-ज्ञानका तो न तो वह पण्डित जी ऐसा तर्क देते कि 'यो हि ब्रह्म जानाति स ब्रह्म न भवति' और दक्षिणा कटनेसे न वे परेशान ही होते। वेदान्त कहता है :

ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति। ब्रह्मैवसन् ब्रह्माप्येति॥

( बृहदा. ४.४.६ )

•

( ४.१० )

## ब्रह्मावगतिसे ही पुरुषार्थ-सिद्धि

**मूल भाष्य**

( 'तत्त्वमसि' इति ब्रह्मात्मभावस्य शास्त्रमन्तरेणानवगम्यमानत्वात् )। यत्तु हेयोपादेयरहितत्वादुपदेशानर्थक्यमिति, नैष दोषः, हेयोपादेयशून्यब्रह्मात्मतावगमादेव सर्वक्लेशप्रहाणात् पुरुषार्थसिद्धेः।
( क्रमशः )

**भाष्यार्थ :** ( 'तत्त्वमसि' इस वेदान्त शास्त्रके बिना ब्रह्मात्मभाव अवगत नहीं होता )। यह जो तुमने कहा कि हेय-उपादेयसे रहित होनेके कारण ब्रह्मका उपदेश निष्फल है, तो यह दोष नहीं है। क्योंकि हेयोपादेय रहित ब्रह्मात्मके अवगत होनेसे ही सब क्लेशोंकी निवृत्ति और परमपुरुषार्थकी सिद्धि होती है।

# १. ऐक्य पद्धति

ब्रह्म—वस्तु है। वह कोई कर्म, भावना, उपासना या कोई स्थिति अथवा समाधि नहीं है। उपासना होती है कि दीखे कुछ और भावना की जाय किसी औरकी। दीखती है शालिग्राम-शिला और भावना की जाती है चतुर्भुज-नारायणकी। अपने हृदयमें जो होता है वह यदि मंगल-स्वरूप है तो मंगल ही होता है चाहे आलम्बन किसी भी नाम-रूपका लिया जाय। कर्ताके अधीन जो वृत्ति है वही साधकका मंगल-अमंगल करती है। परन्तु शालिग्राममें नारायण-बुद्धिकी तरह आत्मामें ब्रह्म-भावना नहीं की जाती है अथवा प्रपञ्चमें ब्रह्म-बुद्धि नहीं की जाती। सचमुच आत्मा ब्रह्म है और ब्रह्म आत्मासे अभिन्न है यह प्रपञ्च। दूसरी कोई वस्तु नहीं है। पहले आत्माको ब्रह्म जाना जाता है तब जगत् बाधित होता है।

'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंके बिना आत्माको ब्रह्म जाननेका कोई दूसरा उपाय नहीं है। शास्त्रका शासन अनुभवपर्यन्त माने बिना कोई चारा नहीं है। किसी-किसीकी ऐसी वृत्ति होती है कि उससे कहो 'ऐसा मत करो' तो उसका उल्टा ही करता है।

चालीस साल पहले मैंने एक कहानी सुनी थी। एक पण्डित जी थे उनकी पण्डिताइन उल्टी खोपड़ीकी थी। उससे जिस कामके लिए मना किया जाता वही काम वह करती थी। एक बार पण्डितजीने कहा : तुम्हारे मायकेमें ब्याह है परन्तु मैं सोचता हूँ कि तुम मायके न जाओ तो ठीक है।

पत्नी : मैं तो मायके अवश्य जाऊँगी, भला ब्याहमें मैं न जाऊँ, यह नहीं हो सकता।

पण्डितजी : अच्छी बात है, चली जाना, परन्तु जेवर साथ मत ले जाना।

पत्नी : वाह, जेवर तो जरूर ले जाऊँगी, ब्याहमें जेवर नहीं पहिनूँ यह कैसे हो सकता है ?

पण्डितजी : अच्छा भई, जेवर भी ले जाना, परन्तु मेरा जाना तो होगा नहीं। तुम अकेली चली जाना।

पत्नी : यह कैसे हो सकता है कि मैं अकेली जाऊँ ? तुम्हें मेरे साथ चलना पड़ेगा।

मजबूरन पण्डितजी पण्डिताइनके साथ चले। रास्तेमें एक नदी पार करनी थी। नाव नहीं थी, बहाव तेज था। सोचा गायकी पूँछ पकड़कर पार हो जायँ। जब बीच-धारमें पहुँचे तो पण्डितजी बोले; देखना गायकी पूँछ छोड़ना मत! वह यह कहते समय भूल गये कि उनकी पत्नी उल्टी खोपड़ीकी है। पण्डितजीके 'छोड़ना मत' कहते ही उसने पूँछ छोड़ दी और नदीमें बह गयी।

तो भाई, उल्टी खोपड़ीसे काम नहीं चलता। अनुशासन तो मानना पड़ेगा।

जब कहते हैं कि आत्मा ब्रह्म है तो इसका अर्थ होता है कि आत्मा-अद्वय है, आत्मा-अपरिछिन्न है। **परिच्छेदसामान्याभावोपलक्षितत्वं ब्रह्मत्वम्**। जितने भी परिच्छेद ( भेद ) की जातियाँ हैं उनके अभावसे उपलक्षित चेतन तत्त्वका नाम ब्रह्म है। इसका अर्थ होता है कि आत्मामें कोई दूसरा आत्मा नहीं है, कोई दूसरा परमेश्वर नहीं है और कोई दूसरा प्रपञ्च नहीं है।

चार प्रकारसे ऐक्य प्रदर्शित करनेकी पद्धति शास्त्रमें है :

**बाधाध्यासविशेषणैक्यविधया—**

**१. बाध-पद्धति**—दोमें-से एकको सत्य और दूसरेको मिथ्या बतानेकी पद्धति। इसमें मिथ्या सत्यके आश्रित है अतः स्वतन्त्र सत्ता एक ही है, सत्यकी। जैसे कहा : **इयम् रज्जुरेव न सर्पः**।—

—यह रज्जु ही है, सर्प नहीं है। यहाँ रज्जु सत्य है और सर्प मिथ्या है। मिथ्या सर्पका सत्य रज्जुके साथ ऐक्य है। रज्जुमें सर्प तीनोंकालमें नहीं है।

२. **अध्यास-पद्धति**—भ्रम-कालमें दो पदार्थोंको अविद्याके कारण एक बोलते हैं जैसे **इदं रजतम्**=यह चाँदी है, यद्यपि वह थी सीपी ही।

अध्यारोप-कालमें या भ्रम-कालमें अध्यास-पद्धतिसे ऐक्य प्रदर्शित होता है और अपवाद-कालमें या भ्रमनिवृत्ति-कालमें बाध-पद्धतिसे ऐक्य प्रदर्शित होता है।

३. **विशेषण-पद्धति**—गुण-गुणीके अभेद सम्बन्धके द्वारा ऐक्य प्रदर्शित किया जाता है जैसे **नीलम् उत्पलम्**=कमल नीला है। कमल और उसकी नीलिमाका ऐक्य प्रसंग यहाँ है।

४. **ऐक्य-पद्धति**—मुख्य सामानाधिकरण्यके द्वारा आत्मा और ब्रह्मका ऐक्य है जैसे घटाकाश और महाकाशका महाकाशके साथ ऐक्य है। [ बाध सामानाधिकरण्य द्वारा जगत्का ब्रह्मके साथ ऐक्य है। यह बाध-पद्धतिके अन्तर्गत है ]।

वेदान्तका कहना यह है कि केवल महावाक्य ही आत्माकी अद्वितीयताको अनुभवका विषय बना सकता है। अनुमानसे 'ब्रह्म है' यह भले सिद्ध हो जाय, परन्तु 'आत्मा ब्रह्म है' यह किसी भी अनुमानसे सिद्ध नहीं हो सकता। वह उपनिषद् या समानार्थक वाक्यसे ही होती है। कर्मकाण्डमें तो वेद-मन्त्रोंकी शब्द-राशिकी प्रधानता है, परन्तु ब्रह्म-काण्डमें वेद-मन्त्रोंकी अर्थराशि अर्थात् विद्याकी प्रधानता चाहिए; विद्या अर्थात् हृदयमें ही होनेवाला वस्तु-ज्ञान। जबतक महावाक्योंका जो अर्थ है वह हृदयमें उदय नहीं होता तबतक अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती। सामान्य-चेतन-वृत्तिका प्रकाशक होता है और वृत्त्यात्मक-चेतन अज्ञानकी निवृत्ति

करता है। अनारूढ़ चेतन निवर्तक भाववाला नहीं होता। इसलिए 'नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-चेतन प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न हूँ' वृत्तिका यह आकार हो और चेतन उससे तादात्म्यापन्न हो—तब वह वृत्ति अविद्याको निवृत्त करती है।

**पूर्वपक्ष :** यह जो तुम्हारा ब्रह्मज्ञान है वह बिलकुल निष्फल है क्योंकि यह हेयोपादेयरहित है। दुनियामें जितना ज्ञान होता है वह हेय और उपादेय भेदसे क्रमशः निवर्तक या प्रवर्तक होता है। आत्माको ब्रह्म जानकर क्या प्रवृत्ति या निवृत्ति होगी ?

**उत्तरपक्ष :** यह दोष नहीं है। असलमें तो संसारमें भी जितना ज्ञान होता है वह भी प्रवर्तक या निवर्तक नहीं होता। आँख रूपका ज्ञान कराती है, परन्तु वस्तुको 'ले-लो' या 'फेंक-दो' ऐसा प्रवर्तक या निवर्तक ज्ञान नहीं कराती। वह तो बुद्धिमें जैसा-जैसा हेयोपादेयका संस्कार रहता है वैसी प्रवृत्ति या निवृत्ति होती है। प्रवृत्ति-निवृत्तिमें वासना हेतु होती है ज्ञान हेतु नहीं होता। प्रमाणसे वस्तुका ज्ञान होता है और वस्तु-गुणका स्फुरण होता है। उस गुणमें हेयोपादेयरूप जो पूर्व-पूर्व संस्कार-धारा है वह लौकिक लाभ-हानिकी बुद्धि बनाता है; इसको अन्वय-व्यतिरेककी बुद्धि बोलते हैं। लाभके प्रति अत्यन्त राग तथा हानिके प्रति अत्यन्त द्वेष-बुद्धि वासनारूपा है। वह अन्ततः कर्ममें प्रवृत्त या निवृत्त करती है। वासनाके अभावमें कोई ज्ञान प्रवर्तक या निवर्तक नहीं होता।

आपा ( अर्थात् आत्मा ) हेयोपादेय होता ही नहीं। जैसे जब जहाँ होंगे वैसे ही हम होंगे !

**पाया कहे सो बावरा, खोया कहे सो कूर।**
**आतमका दीदार है, ज्यों-का-त्यों भरपूर॥**

कहो कि फिर ऐसी चीजको जाननेसे क्या फायदा ? अनजना ही रहने दो न उसे ! दुनियामें धन कमाओ, विद्याध्यन करो, सुख भोगो, बहुत काम पड़े हैं करनेको ! यह कर्मियोंका सिद्धान्त है।

बोले : नहीं जी, यह इतनी हल्की-फुल्की बात नहीं है। इसपर आप गम्भीरतासे विचार कीजिये। प्रवर्तक-निवर्तक होनेसे ही न कोई वाक्य प्रमाण होता है और न किसी ज्ञानका महत्त्व बढ़ जाता है। ठग भी प्रवर्तक-निवर्तक वाक्य बोलते हैं। रोज लोग ठगे ही जाते हैं। केवल प्रवर्तकत्व या निवर्तकत्व प्रमाणकी कसौटी नहीं है। प्रमाणके लिए वचनमें सफल प्रयोजनत्व है या नहीं, यह देखना चाहिए। अर्थात् ब्रह्मज्ञान सार्थक है या निरर्थक है, उसके लिए उसमें प्रवर्तकत्व या निवर्तकत्व है या नहीं, यह नहीं देखना है, बल्कि उससे आपका प्रयोजन सिद्ध होता है या नहीं यह देखना चाहिए।

प्रयोजन या इष्ट आपका क्या है ? आपका दुःख, शोक, मोह, अज्ञान नष्ट हो जाय और आपको परमानन्दकी प्राप्ति हो जाय, यही जीवनका उद्देश्य है। यदि यह उद्देश्य ब्रह्मको जानने मात्रसे ही, वाक्यज्ञानसे ही, पूरा हो जाय तो फिर मजदूरी करनेकी क्या जरूरत है ?

तत्त्वमसि = तुम वही हो, न कि तुम वही थे या तुम वही हो जाओ! 'असि' तो वर्तमान-कालकी और मध्यम-पुरुषकी क्रिया है। 'त्वम् असि'। इसमें उद्देश्य 'त्वम्' है और विधेय 'तत्' है। त्वम्को अपनी तद्रूपता अज्ञात है, अनधिगत है। 'तत्त्वमसि' वाक्य इसी त्वम्की अनधिगत तत्ताका ज्ञापन करनेके लिए प्रवृत्त हुआ है। तुम अभी ब्रह्म हो, यह वाक्यने कहा !

**प्रश्न :** 'अहम्' अपरोक्ष है और 'तत्' परोक्ष है, फिर दोनोंकी एकता कैसे ?

**उत्तर :** असलमें आत्म-वस्तु एक है। वह जितने अंशमें ज्ञात रहती है उतने अंशमें अपरोक्ष 'अहम्' रहती है और जितने अंशमें अज्ञात रहती है उतने अंशमें वही परोक्ष तत् कहलाती है। 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य इसी परोक्षताका निवारण करते हैं।

वृन्दावनमें एक सिक्ख सज्जन हैं—प्रेम सिंह। उनका बेटा है सुदामा सिंह। पहले वह सिक्ख था दाढ़ी-मूँछ थीं, फिर उसने दाढ़ी-मूँछ कटवा दी। गलेमें वैष्णवी कंठी पहिन ली। मेरे पास मिलनेको आया। मैंने पहचाना नहीं। किसीने बताया कि महाराज; यह प्रेम सिंहका बेटा सुदामा सिंह है। मैं तुरन्त पहचान गया कि यह तो वही सुदामा सिंह है।

अब देखो, व्यक्ति एक ही था। पहले जो दाढ़ी-मूँछ थी वह अब नहीं रही और अब जो कण्ठी थी वह पहले नहीं थी। अबकी कण्ठी-चन्दनसे अलग और तबकी दाढ़ी-मूँछसे अलग जो सुदामा नामका व्यक्ति है वह एक ही है। इसी प्रकार जीवत्व और ईश्वरत्वसे अलग, कार्य-कारणसे अलग जो चेतन तत्त्व है, यही ( भाग-त्याग-लक्षणा ) है—तत् और त्वम्की एकताकी प्रक्रिया।

जीवत्वसे अपनेको अलग करनेकी प्रक्रियाके अन्तर्गत पहली चोट जीवपर नहीं करना। पहली चोट करना उस भावपर जिसके अन्तर्गत तुम माता बनी बैठी हो, पिता बने बैठे हो, धनी बने बैठे हो, गरीब बने बैठे हो।

तुम कभी अपनेको बाप कहते हो कभी बेटा, कभी भाई कभी चाचा, ताऊ और मौसा। आखिर तुम हो कौन ? बोले : मैं तो

पुरुष हूँ। पुरुष सामान्य है और बाप-बेटा इत्यादि सब विशेष हैं, भावनासे ! इसलिए जब कहेंगे कि तुम पुरुष हो तो सब सम्बन्धित बाधित हो जायेंगे।

इसी प्रकार जब आत्माका विवेक करेंगे तो पहली चोट यह है कि तुम दुनियामें किसी व्यक्तिसे सम्बद्ध नहीं हो।

दूसरी चोट यह है कि तुम दुनियामें किसी वस्तुसे सम्बद्ध नहीं हो।

तीसरी चोट यह है कि तुम कोई जाति, कोई वर्ण, कोई आश्रमसे सम्बन्धित नहीं हों। ये तीनों चोटें अन्नमय शरीरसे व्यतिरिक्त आत्माकों समझनेमें आवश्यक हैं।

पुनः तुम प्राणसे सम्बन्धित क्रिया करनेवाले या क्रियाभिमानी नहीं हो। तुम मशीन चलानेवाले, टाइप करनेवाले नहीं हो, वह सब प्राण-शक्तिसे चलता है। संकल्प-शक्तिसे मन चलता है, विज्ञान-शक्तिसे अभिमान होता है, आनन्द-शक्तिसे भोक्तृत्व होता है !

इन सबके विवेक कर लेनेपर भी जो एक साक्षित्व है वह नहीं मिटता; वह 'तुम' हो !

वेदान्तने कहा कि यह जो 'तुम' हो वह न देह है, न देहकी किसी वस्तुसे सम्बन्धित है। तुम न पाप-पुण्य करनेवाले कर्ता हो, न सुखी-दुःखी भोक्ता हो, न आने-जानेवाले संसारी हो और न देहकी सीमामें आबद्ध-परिच्छिन्न हो। तब क्या हो ? कि वही 'तत्' ब्रह्म हो जिसकों तुम अपनेसे न्यारा समझते हो।

**प्रश्न :** अच्छा, जान लिया हमने अपनेको ब्रह्म ! अब क्या करें ? अब हमको क्या भोगना चाहिए ?

उत्तर : अब करने, भोगनेको रह क्या गया ? पाप पुण्यकी जो पोटली सिरपर लदी थी वह तो जल गयी ज्ञानकी आगमें ! जो कभी मानते थे कि हमको शोक है, मोह है, दुःख है वह तभीतक था जबतक देहको मैं मानते थे। अपनेको ब्रह्म जानते ही सारे शोक, मोह, दुःख मिट गये। तुमको दुःख-निवारणके लिए अब कोई कर्म, भाव, ध्यान या अभ्यास करनेकी जरूरत नहीं है। क्योंकि तुमने अपनेको एक ऐसी चीज जान लिया जिसको दुःख हो ही नहीं सकता है। अब सुख पानेके लिए तुमको कुछ करनेकी जरूरत नहीं है क्योंकि तुम आनन्दस्वरूप हो और तुम सर्व हो ! राजाके शरीरमें तुम्हीं राजसिंहासनपर बैठे हो और इन्द्रके शरीरमें तुम्हीं स्वर्गका भोग कर रहे हो। ब्रह्माके शरीरमें तुम्हीं सृष्टिकी रचना कर रहे हो। मिट्टीमें पहाड़ बनकर बैठे हो और जलमें समुद्र बनकर लहरा रहे हो। तुम्हीं ग्रह-नक्षत्र, सूर्य-चन्द्र, तारे बनकर आकाशमें घूम रहे हो। कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड तुम्हारे संकल्पके साथ घूम रहे हैं और उन ब्रह्माण्डोंके कोटि-कोटि ब्रह्मा-विष्णु-महेश तुम्हारे संकल्पमें उदय, अस्त हो रहे हैं। तुमको कौन-सा सुख पाना है जो तुम्हारे स्वरूपमें न हो, जो तुम्हारा स्वरूप न हो ? अब किसको हटायें और किसको सटायें ? हटानेके लिए निवृत्ति और सटानेके लिए प्रवृत्ति—दोनों प्रकारकी निवृत्ति-प्रवृत्ति किये बिना ही सम्पूर्ण प्रकारके अनर्थोंकी, सम्पूर्ण दुःखोंकी सम्पूर्ण क्लेशोंकी निवृत्ति हो गयी और सम्पूर्ण प्रकारके सुखोंकी, परमानन्दकी प्राप्ति हो गयी, पुरुषार्थकी सिद्धि हो गयी :

**हेयोपादेयशून्यब्रह्मात्मतावगमादेव सर्वक्लेश-प्रहाणात् पुरुषार्थसिद्धेः।**

यदि घरके कोनेमें शहद मिल गया तो उसके लिए पहाड़में जानेकी क्या जरूरत ?

**अक्के चेन मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत् ?**

यह जो पूर्वमीमांसाकी कल्पना है कि वेद कुछ छुड़ाकर और कुछ पकड़ाकर सफल होता है, यह झूठी कल्पना है। यहाँ तो ( वेदान्तवाक्य-बोधसे ) बिना कुछ किये, बिना कुछ पकड़े-छोड़े, बिना बाहर-भीतर गये, बिना प्रतीक्षा किये, बिना हाथ जोड़े, बिना तादात्म्य किये, जीवनका प्रयोजन सिद्ध हो गया।

यह जो आत्मज्ञान है इसमें यह देखनेकी जरूरत नहीं है कि वक्ता ठग है या सच्चा अथवा वचन कुछ ग्रहण त्याग कराता है या नहीं। जहाँ वाक्यमात्र ही अपने अर्थका बोध कराकर सकल-अनर्थकी निवृत्ति तथा परमानन्दकी प्राप्ति करा देता है, वहाँ ज्ञान महावाक्यके बिना किसी कर्म, उपासना या ध्यान-अभ्यासके उपपन्न नहीं होता। यही जो हेयोपादेय रहित ब्रह्म है वह सफल प्रवृत्तिक और सफल निवृत्तिक हो जाता है : *

## २. हेयोपादेयशून्य पुरुषार्थ

वाक्यकी प्रामाणिकतामें न वक्ता हेतु है, न भाषा हेतु है और न प्रवर्तकत्व-निवर्तकत्व हेतु है।

वृन्दावनमें एक महात्माने श्री उड़िया बाबाजी महाराजसे शिकायत की कि उसका पड़ोसी उनकी दिन-रात निन्दा किया करता है। बाबाने कहा : 'अरे, तुम क्यों चिन्ता करते हो, वह तो छः महीनेके भीतर ही मर जानेवाला है। उसपर अब दया ही करो।' वह महात्मा खुश हो गये।

अब महाराज, छः महीने क्या, छः वर्षके बाद भी वह जिन्दा रहा। अब भी जिन्दा है। मैंने बादमें बाबासे पूछा : 'महाराज, वह आदमी तो अभी भी जिन्दा है, आपने झूठ क्यों कहा ?'

बाबा बोले : वह मरा या नहीं मरा, इससे क्या ? हमारे उस वाक्यसे उसका दुःख तो तत्काल ही निवृत्त हो गया न !

वाक्यमें प्रयोजनवत्व होना चाहिए।

**असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते।**

( वाक्यपदीय २.२४० )

दुःख मिटाना प्रयोजन है। मरनेको तो सब क्षण-क्षणमें मर रहे हैं। कौन कब मर जायेगा, इसका भी पता नहीं है। लेकिन एक आदमी जो केवल मच्छरकी आवाज सुनकर दुःखी हो रहा है उसका दुःख मिटानेके लिए स्वरूपमें मिथ्या होनेपर भी वह ( बाबाका ) वचन दुःखका निवारक हो गया।

वेदान्ती ऐसे वचन मानते हैं, इनको आप अशास्त्रीय मत मानना। उपाय सबके सब मिथ्या होते हैं। उपेयकी सत्यतामें वाक्यका अभिप्राय होता है। चन्द्रमा नीमके वृक्षकी ऊपरकी डालसे भले दो हाथ ऊपर न हो परन्तु इस प्रकार बतानेसे चन्द्रदर्शन तो हो ही जाता है। वह दो हाथकी दूरी स्वरूपमें मिथ्या है, परन्तु चन्द्रदर्शनका साधन होनेसे वह सच्ची है। कहीं कारणकी सत्यतासे कार्यको भी सत्य कहा जाता है और कहीं कार्यके मिथ्यात्वसे कारणको भी मिथ्या कहा जाता है, क्योंकि कार्य-कारणका अभेद है।

विवाहमें जब वर-वधू एक साथ बैठते हैं तो उनसे कहते हैं कि अरुन्धतीको देखो। वह देखो, वह ध्रुवतारा है; साथमें सप्तर्षि हैं, उनमें एक तारा वसिष्ठ हैं और वसिष्ठके साथ एक अरुन्धतीका तारा है। 'ध्रुवं पश्येत्' यह वचन है, आज्ञा है। बोले बादल हों या वर-वधू ध्रुवको और अरुन्धतीको न पहचानते हों तो ? इसपर गृह्यसूत्र कहता है :

**यदि न पश्येत् तथापि ब्रूयात् पश्यामि इति**

'यदि न दीखे तो भी वर-वधूको कहना चाहिए कि देखता हूँ।' क्यों? ऐसा बोलनेसे ही उस समय धर्मकी उत्पत्ति होती है और मंगलकी उत्पत्ति होती है, देखने या न देखनेसे नहीं।

वेदान्तियोंने तो यह नियम स्वीकार ही कर लिया है। पंचकोश-विवेकमें क्या पंचकोश सत्य है? अवस्थात्रय-विवेकमें क्या अवस्थाएँ सत्य हैं? कार्यकारणविवेकमें क्या कार्य-कारण सत्य हैं?

**अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते।**

अध्यारोप अपवादके द्वारा निष्प्रपञ्चका ही प्रपञ्चन किया जाता है। यह वेदान्तकी प्रक्रिया है। उसका तात्पर्य वक्तामें नहीं है, वचनकी भाषामें नहीं है, उसके प्रवर्तकत्व भावमें नहीं है। वहाँ तो अनधिगत, अबाधित, असन्दिग्ध अर्थके बोधनमें तात्पर्य है। तात्पर्यावबोधक जो वचन होता है वह साधन होता है। यहाँ ब्रह्मात्मैक्यरूप जो देवता है उसके दर्शनमें तात्पर्य है, वह कैसे हुआ, इससे कोई तात्पर्य नहीं है।

ब्रह्मको जानकर छूटा क्या और मिला क्या, यह बनियाँ वृत्ति है। अरे, सबसे बड़ा फायदा तो यह है कि छोड़ने-पकड़नेका जो बोझ था तुम्हारे सिरके ऊपर कि यह पकड़ो यह छोड़ो, यहाँ जाओ वहाँ जाओ, वह बोझ ही उतर गया तुम्हारे सिरसे और तुम पूछते हो कि क्या फायदा हुआ? यह दिमागी बोझका उतरना क्या कम फायदा है? दिमागी बोझ ही नहीं उतरा, दिमाग ही उतर गया। 'मैं दिमागवाला हूँ', 'दिमाग सच्चा है' यह भ्रान्ति ही कट गयी।

इसमें बहुत पढ़े-लिखे होनेकी जरूरत नहीं है। यह तो एक बार पीछे हटकर 'खट'से काट देनेकी जरूरत है। पीछे हटकर

अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों देह, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं, अन्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमय-आनन्दमय-कोषों, कार्यकारण-भावरूप जगत्-प्रकृति अथवा जगत्-ईश्वरसे पीछे हटकर साक्षीमें जाकर ब्रह्मज्ञानकी तलवारसे द्वैत-प्रपञ्चको काट देना, यह अर्थ है। भगवान्‌ने गीतामें इस कामको बड़ा सरल बनाया है: **क्षिप्रं भवति धर्मात्मा** ( ९.३१ ); **सुसुखं कर्तुमव्ययम्** ( ९.२ ); **सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शम्** ( ६.२८ ) इत्यादि।

**हेयोपादेय शून्य आत्माके दो अर्थ होते हैं :**

१. जो दुनिया हमारे पीछे लगी हुई है उसका हमारे साथ कोई रिश्ता-नाता नहीं है।

२. जो सच्चिदानन्द अद्वय-ब्रह्म है वह अपनेसे जुदा नहीं है।

इसमें ( ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान होनेपर ) हानि हुआ प्रपञ्चका, उपादान हुआ अज्ञात ब्रह्मताका। परन्तु यह कोई नया काम नहीं हुआ। असलमें हमारे स्वरूपमें प्रपञ्च छूटा हुआ ही था और ब्रह्म पहलेसे ही अपना स्वरूप था। एक दृष्टिसे देखो तो प्रपञ्च छूटा नहीं और ब्रह्म मिला नहीं और दूसरी दृष्टिसे देखो तो प्रपञ्च अपने स्वरूपमें है नहीं और अपना आत्मा ब्रह्म ही है। इस बातको समझा दिया वेदान्तने। कोई बोझ नहीं डाला उसने। आँखें बन्द करो या खुली रखो—सारे कर्तव्यके बोझसे ही मुक्ति दिला दी पाने-खोनेकी सारी समस्याएँ ही हल हो गयीं। क्योंकि सारी समस्याएँ, सारे दुःख, सारे बोझ नासमझीके कारण थे और वहाँ अविद्या ही समाप्त हो गयी।

कुछ पाना नहीं रहा। और तो क्या परमेश्वरको भी पाना नहीं रहा। न तो हमारे आत्मामें मैल लगी है कि उसको छुड़ाएँ

और न उसको चमकानेके लिए स्नो-पाउडर आदि लगानेकी जरूरत है। यही हेयोपादेय रहित आत्माका अर्थ है।

यह जो अपना स्वरूप है उनमें न तो दुनियाकी कोई बुराई है—पापकी, कामकी, क्रोधकी, लोभकी, कार्यकी, कारणकी, अवस्थाकी, कोषकी—कि जिसको छुड़ाना इष्ट हो। और सत्, चित्, आनन्द, अद्वितीयरूप ऐसी कोई चीज है जिसको इसे पाना हो। जब छोड़ना-पाना नहीं रहा तो निर्द्वन्द हो गये न! तुमको निर्द्वन्द्व बनानेके लिए वेदान्तकी प्रवृत्ति हुई है।

असलमें अवस्था, कोष, कार्य, कारण आदिका पहले अध्यारोप किया जाता है फिर उसका अपवाद कर देते हैं। बन्धन प्रत्यक्ष है अतः उसके अपवादके लिए वेदान्तमें मोक्षकी कल्पना है आत्मामें मोक्ष-बन्धनकी अपेक्षासे आरोप-मात्र है।

हेयोपादेय-शून्य ब्रह्मात्मैक्यावगति कोई कर्म या उपासना या योग नहीं है। यह तो स्वरूपका यथार्थ-बोध है। जैसे तुम हो वैसा तुमको समझा दिया बस! इससे प्रयोजन क्या सिद्ध हुआ कि सारा क्लेश ही मिट गया: **सर्वक्लेशप्रहाणात् पुरुषार्थसिद्धेः।**

क्लेश क्या हैं?

१. **क्लिश्नाति इति क्लेशः** = जो कष्ट देता है सो क्लेश है।

२. **यत्र कं सुखं लेश इव भवति स क्लेशः** = जहाँ अपना सुख पूर्ण अभिव्यक्त न होकर नन्हा-सा मालूम पड़ता है।

३. **यः सकलेशः स कलेश इव भवति कलेश एव क्लेश इत्युच्यते** = जो सकल प्रपंचका स्वामी है वही एक कलाका (एक

अन्तःकरणका, एक देहका ) स्वामी मालूम पड़ता है। वही 'क्लेश' ऐसा कहा जाता है।

अब क्लेश-प्रहाण कैसे ? जहाँ अपना दुःख दूर नहीं होता वहाँ पुरुषार्थ नहीं है। आप अपनेसे च्युत हो गये वहाँसे जहाँ आप अपने दुःखको मिटाते नहीं हो, बढ़ाते हो। साधन होता है दुःख-निवृत्ति और आनन्दकी प्राप्तिके लिए।

एक आदमीने कहा : मैं अकेला हूँ तो अधूरा हूँ। मेरे साथ कोई और होना चाहिए। मुझे एक साथिन चाहिए, मुझे एक पत्नी चाहिए : **जाया मे स्यात्** ( बृहदा० उप० १.४.७ ) जो अपनेको अकृत्स्न मानता है, अधूरा मानता है, उसके मनमें यह इच्छा होगी कि बिना श्रीमतीजीके मैं अधूरा हूँ। अब वह गये महात्माजीके पास और बोले : 'महाराज हमारे मनमें और घरमें तो सूना है। बैठता हूँ तो साँय-साँय आवाज आती है, हम तो विवाह कर लें।' महात्माने उसके सात जन्म देखे और विचार किया कि यह तो पूर्वजन्ममें बहुत साधना कर चुका है और उस साधन-धारामें विघ्न आ जानेके कारण उसमें प्रतिबन्ध उपस्थित हो गया है। अतः अब इसे गड्ढेमें ढकेलना उचित नहीं। इसलिए वे बोले : 'भाई देखो, **मन आत्मा वाग्जाया**। ( बृहदा० १.४ ७ ) तू तो शरीर नहीं है, तू तो मन है, अन्तःकरण है और यह जो तेरी वाणी है यही तेरी पत्नी है। **मन आत्मा इति उपास्व। वाग्जाया इति उपास्व।** मन आत्मा है ( तुम मन हो ) ऐसी उपासना करो। वाणी तुम्हारी पत्नी है ऐसी उपासना करो। तेरी मौज हो तो गा लिया कर, स्तोत्रका पाठ कर लिया कर, जप कर लिया कर। अपनी वाणीके संगसे तू अपना समय बिता। तू अपनेको देह मत समझ।'

अब देखो, न तो वाक् जाया है और न मन आत्मा है।

बिल्कुल झूठ ही उपदेश किया गया। वाक्में जायाका और मनमें आत्माका आरोप किया गया। क्यों? क्योंकि विरक्त होनेवाला पुरुष यदि व्याह भी कर लेगा तो अन्तमें हिमालयमें जायेगा और वहाँ साधन-भजन करेगा। उसके हृदयमें वैराग्यका बीज भरा हुआ है, इसलिए गुरुजीने ये दो आरोप किये और निवृत्तिके मार्गमें उसे चालू कर दिया।

यह जो देवताका, हिरण्यकेश, हिरण्यगर्भका वर्णन आता है कि उसके बाल सुनहले हैं, दाढ़ी-मूँछ सुनहली हैं, तो आदमीके मनमें यही ख्याल आयेगा कि मनुष्यके बाल काले होते हैं और ईश्वरके बाल सुनहले होते होंगे। परन्तु ऐसा तो कुछ नहीं है। असलमें चेतनकी प्रकाश-रश्मियोंका जो विस्तार है जिससे हाथ उठता है, आँख देखती है, कान सुनता है इत्यादि, वे जो चिदाभासकी रश्मियाँ हैं उन्हींको हिरण्यकेश इत्यादि कहा गया है।

उपासनाका एक ढंग होता है, उसको समझना चाहिए। हिरण्यगर्भकी उपासनाका फल है हमारे शरीरमें ही जो आत्माकी किरणें विभिन्न शक्तियोंके रूपमें कार्यशील हैं उनके अधिष्ठान आत्माको हिरण्यगर्भ समझना। निष्कर्ष यह है कि औपनिषद-उपासनामें जो अध्यारोप और अपवादका रहस्य है उसको समझे बिना औपनिषद उपासनाका रहस्य समझमें नहीं आ सकता।

उपनिषदोंका ही विचार तो ब्रह्मसूत्रमें किया गया है। उपनिषद् माँ हैं तो सूत्र उसके बेटे हैं। बेटेका तिरस्कार करके भी माँका आदर करना चाहिए। सम्प्रदायमें ऐसी कथा चलती है कि भगवान् श्री शंकराचार्य एक बार काशीमें मणिकर्णिका-

घाटको गंगा-स्नान करनेके लिए जा रहे थे तो रास्तेमें मिल गये व्यासजी एक ब्राह्मणके रूपमें। उन्होंने कहा : 'शंकर, तुमने हमारे बनाये हुए ब्रह्मसूत्रपर जो भाष्य किया है उससे अमुक-अमुक सूत्रोंका भाष्य हमारे अभिप्रायके अनुरूप नहीं है।'

शंकर : 'ब्राह्मण श्रेष्ठ, आइये तनिक चलकर बैठ जायँ और फिर हमारा आपका शास्त्रार्थ हो जाय कि कौन ठीक कहता है।'

व्यासदेव : 'तुम हमारे ही सूत्रोंपर आक्षेप करते हो ?'

शंकर : 'भगवन् ! आपने भी अपने सूत्रोंकी रचना श्रुतिके अनुसार की है और मैंने भी सूत्रभाष्यको श्रुतिके अनुसार ही रचा है। अतः आइये, यह विचार करें कि श्रुतिका अभिप्राय वह है जो आपने लिखा है या वह है जो मैंने लिखा है।'

व्यासदेव : अच्छी बात है !

अब महाराज शास्त्रार्थ हुआ। शंकरने व्यासजीको बिलकुल निरुत्तर कर दिया। निर्णय हो गया कि श्रुत्यर्थ शंकरके पक्षमें है। व्यासजीने शंकर भगवान्‌की पीठ ठोंक दी और बोले : 'मैं व्यास हूँ, और तुम साक्षात् शिव हो। सचमुच श्रुतिका अभिप्राय वही है जो तुमने कहा है। जो सूत्रका या तत्सम्बन्ध श्रुतिका अभिप्राय बाहरसे मालूम पड़ता है वह मेरा भी अभिप्राय नहीं है।' ●

( ४. ११. )

# ब्रह्म शास्त्रप्रमाणक है उपासना-विधिका अंग नहीं है

**मूलभाष्य :**

देवतादिप्रतिपादनस्य तु स्ववाक्यगतोपासनार्थत्वेऽपि न कश्चिद्विरोधः। न तु तथा ब्रह्मण उपासनाविधिशेषत्वं सम्भवति; एकत्वे हेयोपादेय-शून्यतया क्रियाकारिकादिद्वैतविज्ञानोपमर्दोपपत्तेः। न ह्येकत्वविज्ञानेनोन्मथितस्य द्वैतविज्ञानस्य पुनः सम्भवोऽस्ति, येनोपासनाविधिशेषत्वं ब्रह्मणः प्रतिपद्येत।

यद्यपि अन्यत्र वेदवाक्यानां न विधिसंस्पर्शमन्तरेण प्रमाणत्वं दृष्टम् तथापि आत्मविज्ञानस्य फलपर्यन्तत्वान्न तद्विषयस्य शास्त्रस्य प्रामाण्यं शक्यं प्रत्याख्यातुम्। न चानुमानगम्यं शास्त्रप्रामाण्यं। येनान्यत्र दृष्टं निदर्शनमपेक्ष्यत। तस्मात्सिद्धं ब्रह्मणः शास्त्र-प्रमाणकत्वम्। ( क्रमशः )

**भाष्यार्थ :** यदि देवतादिके प्रतिपादक वाक्य वेदान्त-वाक्यगत उपासनापरक हों तो भी कोई विरोध नहीं है। परन्तु उसी प्रकार

ब्रह्म उपासना-विधिका अंग नहीं हो सकता, क्योंकि एकत्वज्ञानमें ब्रह्म-हेयोपादेयशून्य होनेसे क्रिया-कारक आदि द्वैत-विज्ञानका उपमर्दन हो जाता है। एकत्व-विज्ञानसे उपमर्दित मिथ्या द्वैत ज्ञान फिर सम्भव नहीं है जिससे कि ब्रह्म उपासना-विधिका अंग हो। यद्यपि वेदान्तसे भिन्न स्थलोंमें अर्थवाद आदि वेदवाक्योंकी विधिके साथ सम्बन्धके बिना प्रमाणता देखनेमें नहीं आती तथापि आत्म-विज्ञान आत्म-साक्षात्कार फलपर्यन्त होनेसे ब्रह्म-विषयक शास्त्रकी प्रमाणताका खण्डन नहीं किया जा सकता। शास्त्र-प्रामाण्य अनुमानगम्य नहीं है जिससे कि वह अन्य स्थलोंमें देखे हुए दृष्टान्तोंकी उपेक्षा करे। इससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्म-शास्त्र-प्रमाणक है।

## २. उपासना और तत्त्वज्ञान

उपनिषद्-भाष्यमें भगवान् श्रीशंकराचार्यने 'अविद्या' शब्दके कई अर्थ किये हैं :

१. ईशावास्योपनिषद् ( मन्त्रसे ९ से ११ )में कर्मको अविद्या कहा है और देवोपासनाको विद्या कहा है। श्रुतिने इनके समुच्चयकी बात कही है अर्थात् जीवनमें कुछ कर्म होना चाहिए और कुछ उपासना तथापि इस समुच्चयकी संज्ञा भी अविद्या ही है। इस अविद्याका फल जड़तारूप मृत्युसे सन्तरण तथा देवात्म-भावरूप अमृत ( सुख )का भोग है।

२. वृहदारण्यक-उपनिषद्में तपस्याको, जिसमें तप क्रिया, उपासना, ध्यान, अभ्यास सब शामिल हैं, अविद्या कहा है। वहाँ इस अविद्याका फल बताया है : सप्तान्नसर्ग, अर्थात् सात प्रकारके अन्नोंकी सृष्टि जिससे—यज्ञकर्म, ब्रह्मकर्म, पितृ-सम्बन्धी कर्म, सम्पन्न

होंगे और मनुष्योंमें मन, प्राण और वाक्रूप तीन अन्न शुद्ध होंगे तथा पशुओंमें दूध रसकी वृद्धि होगी।

३. चित्त-शुद्धिके जितने साधन हैं, परम्परा-साधन, अन्तरङ्ग-साधन, परम अन्तरङ्ग-साधन, वे सब, साधनमात्रको 'अविद्या' बताया है। ब्रह्म-विद्याकी अपेक्षासे इसको अविद्या बताया गया है, मूर्खताके अर्थमें यहाँ अविद्या शब्दका ग्रहण नहीं है। साधनकी आवश्यकता ही वहीं है जहाँ परमार्थ-वस्तुके स्वरूपका ग्रहण नहीं हो रहा है। परमार्थ-वस्तुके अग्रहणकी अवस्थाका नाम अविद्या है।

'अविद्या' सम्बन्धी भूमिका इसलिए आपको सुनायी है क्योंकि प्रश्न यह है कि उपनिषद्में जो देवतादिकी उपासनाका प्रसंग आता है वह तत्त्वज्ञानके अनन्तर है या पूर्व है या कि तत्त्व-ज्ञानका रूप है ? तत्त्वज्ञानके अनन्तर तो देवतादिकी उपासनाका प्रसंग ही नहीं उठता क्योंकि वहाँ तो कर्ता, क्रिया, कारक और फल सबका ही उपमर्दन हो जाता है। ( अविद्या ही नष्ट हो जाती है। ) देवोपासना तत्त्वज्ञान तो है ही नहीं क्योंकि उपासना भेद-रूप है और तत्त्वज्ञान अभेदरूप है। परिशेष-न्यायसे, सम्पूर्ण उपासनाओंकी संगति तत्त्वज्ञानके पूर्व ही हैं और वह अविद्या-रूप है।

श्रुति कहती है : **दूरमेते विपरीते विषूची**। अर्थात् विद्या और अविद्या परस्पर विरुद्ध हैं; और विषूची अर्थात् संकेतक ( इशारे ) हैं, जैसे लाल-क्रान्ति हिंसाका और हरित-क्रान्ति समृद्धिके इशारे हैं।

असलमें ज्ञानमें उपासना अविद्या है और ज्ञान विद्या है। यों तो अविद्यामें भी विद्याएँ होती हैं जैसे कर्म-विद्या, भोग-विद्या, ध्यान-विद्या, मन्त्र-विद्या इत्यादि परन्तु ये सब विद्याएँ अविद्यारूप ही हैं और केवल ब्रह्म-विद्या ही विद्या है।

तुलना करनेपर, विद्या और अविद्याके हेतु, स्वरूप और फलमें भी अन्तर है :

**हेतुस्वरूपफलनिरोधात् ।**

**उपासना**

१. हेतु : उपासनाके हेतुओंमें देवतापर श्रद्धा होनी चाहिए, प्रत्यक्षमें परोक्ष-वस्तुकी भावना होनी चाहिए, शास्त्रका विधि-निषेध होना चाहिए। तब उपासनामें प्रवृत्ति होगी। इसके साथ कर्तापन, सामग्री और मन्त्रादिका परिज्ञान भी अपेक्षित है :

२. **स्वरूप** : उपासनाका स्वरूप है इष्टवृत्तिकी आवृत्ति।

३. **फल** : उपासनाका फल है अन्तमें कि 'मैं वही इष्ट देवता हूँ' यह अनुभव। जैसे **अहमेव सनातनो विष्णुः** मैं ही वह सनातन विष्णु भगवान् हूँ। दूसरे शब्दोंमें इष्टके साथ सायुज्य ही उपासनाका अन्तिम फल है **स एवाहम्** वह मैं हूँ यह सायुज्यका अनुभव है। इसको **तादात्म्यापत्ति** बोलते हैं।

**तत्त्वज्ञान :**

( १ ) हेतु : तत्त्वज्ञानमें विधि-निषेध नहीं है। क्योंकि शम-दमादि उसका साधन है, बाह्य प्रवृत्ति उसका साधन नहीं है। ज्ञान श्रद्धा नहीं है क्योंकि यह अपरोक्ष आत्माके परमार्थ-स्वरूपका अनुसन्धान है। यहाँ परोक्षमें विश्वास नहीं करना, क्योंकि यह साक्षात्कारका मार्ग है। इसमें कर्तापनको स्थायी या स्थिर नहीं करना, कर्तापनको मिटाना है। इससे प्रत्यक्षमें परोक्षकी भावना नहीं करनी बल्कि प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनोंका निषेध करके अपने स्वरूपको जानना है। ज्ञानका देवता न स्वर्गमें हैं न मूर्ति है, बल्कि मूर्ति और स्वर्गकी कल्पना जिस अन्तःकरणमें होती है उसका साक्षी है वह देवता। उस साक्षीकी ब्रह्मता वेदान्त-

वेद्य है। इसलिए शास्त्र-वाक्योंका गुरु-मुखसे श्रवण एवं तदनुरूप मनन, निदिध्यासन तत्त्वज्ञानके हेतु हैं।

( २ ) स्वरूप : तत्त्वज्ञानका स्वरूप है ब्रह्मात्मैक्य-बोध।

( ३ ) फल : तत्त्वज्ञानका फल है; अविद्या-निवृत्तिसे उपलक्षित जो आत्म-तत्त्व है साक्षी ( जो अविद्या-निवृतिका भी साक्षी है ) वही ब्रह्म है, यह बोध। दूसरे शब्दोंमें बन्धनिवृत्तिसे उपलक्षित आत्मा ही मोक्ष है—इस बोधरूप मोक्षकी उपलब्धि।

उपासना और ज्ञानके हेतु स्वरूप और फलमें विरोध होनेसे ज्ञान और उपासनाका समुच्चय सम्भव नहीं है। अर्थात् एक अन्तःकरणमें एक साथ दोनोंका अनुष्ठान नहीं हो सकता। इसके लिए जो उत्तम कोटिका जिज्ञासु है वह श्रवण, मनन, निदिध्यासन करता है। जो मध्यम कोटिका है वह शमदमादि साधनोंमें प्रवृत्त होता है और जो मन्द कोटिका जिज्ञासु है वह पूछता है 'किसका ध्यान करें कि ब्रह्मज्ञान हो जाय ?'

यहाँ यह शंका होती है कि जब सभी उपासनाएँ अविद्या हैं तब वेदमें उपासनाके सब प्रसंग जिनका बहुमत है हीन और व्यर्थ ही होंगे। उनकी वेदमें आवश्यकता ही क्या है ? उनका वेदसे बहिष्कार कर दो न !

अब महाराज, आजकलके कोई वेदान्ती हों तो कहेंगे कि निकालनेमें हर्ज भी क्या है ? परन्तु श्री शंकराचार्य ऐसा नहीं करते। गीताके भाष्यमें आचार्यने शुरूमें ही यह बताया है कि ब्राह्मणत्वकी रक्षा करनेसे वैदिक धर्मकी रक्षा होती है। 'राजा-गच्छति' न्यायसे जैसे—'राजा जाता है' कहनेसे राजाके साथ अन्य सब मंत्री-दरबारी आदिका बोध हो जाता है वैसे ही वर्णोंमें ब्राह्मणत्वकी और आश्रमोंमें संन्यासकी रक्षा होनेसे सम्पूर्ण वैदिक

धर्मोंकी रक्षा हो जाती है। शंकरकी विभिन्न स्तुतियाँ हैं—गंगाकी स्तुति है, विष्णुकी स्तुति है, शंकर, दुर्गा आदि देवताओंकी स्तुतियाँ हैं। आजकलके निराकारी तो इन स्तुतियोंको शंकरकी रचना ही नहीं मानेंगे। श्री शंकराचार्यने सभी प्रकारकी उपासनाओंका वर्णन अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्यमें स्थान-स्थानपर किया है। **शालग्रामशिलायां विष्णुबुद्धिः**—शालग्रामकी शिलामें विष्णु-बुद्धि करना, यह उन्हींका मत है। ( शारीरक १.२.७, १.३.१४ आदिद्रष्टव्य )।

श्री शंकराचार्य गड़बड़के आचार्य नहीं हैं। **आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः** इस श्रुति ( छान्दोग्य ७.२६.२ ) की व्याख्या शंकर बड़ी विलक्षणतासे करते हैं। ब्रह्मसूत्रके चौथे अध्यायमें उपासनाओंका फल शंकराचार्य भगवान्ने बड़े विस्तारसे किया है। वहाँ 'विष्णोः परमं पदम्'से वैकुण्ठका ( ब्रह्मलोकका ) वर्णन किया है। क्रममुक्तिके ही प्रसंगमें अमानव पुरुषका जीवको ब्रह्मलोकमें ले जाना और ब्रह्माजीके साथ उसका मोक्ष होना, इनका वर्णन भी शंकरने किया है। उपासनाके जो प्रसिद्ध तीन फल हैं : ऐश्वर्य, ब्रह्मलोककी प्राप्ति तथा क्रममुक्ति, इन तीनोंका विस्तृत वर्णन श्री शंकराचार्यने किया है।

आप उन आचार्यका ध्यान कीजिये जिसको दुनिया सर्वज्ञ मानती है; जिनकी प्रतिभा इतनी बड़ी है कि वह केवल अद्वैत-शास्त्र ही नहीं, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र और संसारके प्रत्येक पदार्थका ज्ञान केवल अपनी बुद्धिसे प्राप्त कर सकता है! परन्तु उन्हीं श्री शंकराचार्य भगवान्ने श्रीमण्डन मिश्रकी धर्मपत्नी भारतीके कामशास्त्र-विषयक प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिए शरीरान्तर ग्रहण किया। क्यों ? इसका एक कारण यह था कि शंकर इस सिद्धान्तको प्रदर्शित करना चाहते थे कि केवल प्रतिभाके आधार-

पर किसी भी प्रश्नका उत्तर नहीं देना चाहिए, उसमें अनुभव ही अन्तिम प्रमाण है। दूसरा यह कि संन्यासी शरीरसे, जो नैष्ठिकी ब्रह्मचर्यसे तथा ब्रह्मविद्या-तेजसे अलंकृत था, कामशास्त्र जैसे पशुधर्म सम्बन्धी प्रश्नोंका चिन्तन भी उचित नहीं है। आचार्य इस लोक-संग्रहका आदर्श नहीं बिगाड़ना चाहते थे। आज जो लोकमें संन्यासका रूप-रंग देखतेमें आता है (आदर्श रूपसे) उसके आचार्य श्री शंकराचार्य भगवान् ही हैं। इसलिए उन्होंने शरीरान्तर ग्रहण करके अनुभव किया और फिर अनुभवके आधारपर भारतीके प्रश्नोंका उत्तर दिया। परकाय प्रवेश एक योगकी सिद्धि है। आज भी ऐसे योगी हैं। हम जानते हैं, परन्तु उनका नाम आपको नहीं बतावेंगे।

यजुर्वेदका मन्त्र है: सर्वं तं भस्मसात् कुरु। यह वैदिक 'भस्मसात्' ही आजका 'मिस्मेरेजम' है। और जिसे आज 'हिप्नोटिज्म' कहते हैं वह वास्तवमें 'स्वप्नाइट्' है। हिन्दीमें 'स'का 'ह' हो जाता है। आँख बाँध देना या वस्तुमें परिवर्तन कर देना, यह 'मिस्मेरेजम' है और मनको बदल देना यह 'हिप्नोटिज्म' है। ये योगकी सिद्धियाँ नहीं है। ये मानसिक शक्तिके चमत्कार हैं, जादूके खेल हैं। ईश्वरका ध्यान तो दीर्घकाल-पर्यन्त निरन्तर सत्कार-सेवित भावसे अभ्यास करनेसे लगता है। दोस्त-दुश्मनका ध्यान तो अपने आप होता है और दूसरोंका लगाया ध्यान तात्कालिक होता है।

पातञ्जलयोग-दर्शनमें जिन सिद्धियोंका वर्णन है उनको यदि हम किसी भी व्यक्तिमें मानें ही नहीं तो वह शास्त्रांश बिलकुल झूठा और व्यर्थ हो जायेगा। हमलोग उन सभी सिद्धियोंको भगवान् शंकराचार्यमें मानते हैं।

आप भरी सभामें जाते हैं और सुन लेते हैं : आत्मा ब्रह्म है। शंकर कहते हैं कि श्रवणमात्रसे ब्रह्मज्ञान होता है और पूछते हैं कि फिर 'आत्मा ब्रह्म है' यह सुनकर भी ब्रह्मज्ञान क्यों नहीं होता? इसका उत्तर भी वह देते हैं कि जिस योग्यताका सम्पादन करके सुनना चाहिए वह योग्यता अर्जित नहीं होती, इसलिए श्रवण-मात्रसे नहीं होता। अतएव जिज्ञासुको अधिकार सम्पादनके लिए आवश्यक कर्म, उपासना, योगकी आवश्यकता होती है।

श्री शंकराचार्यने एक ओर तो वर्णधर्म, आश्रमधर्म, देवताके उपासना-रूप धर्मका प्रतिपादन किया और दूसरी ओर विवेक, वैराग्य, शम-दमादि साधनों तथा मुमुक्षा—अर्थात् साधन चतुष्टयका वर्णन किया। वर्णाश्रम धर्म तथा उपासना धर्मका मुँह बाहरकी ओर है और साधन-चतुष्टयका मुँह भीतरकी ओर है। अतएव दोनों साधनोंके फल भी विरोधी हैं। सांसारिक सुख, समृद्धि तथा संसृति और ब्रह्मज्ञान। अधिकारी भेदसे दोनों सार्थक हैं और एक ही अधिकारीमें इनका क्रमसमुच्चय होता है अर्थात् पहले वर्णाश्रम धर्म तथा उपासना धर्म स्वीकार करके मनुष्य जब इनके फलोंसे वैराग्यको प्राप्त करता है तब वह साधन-चतुष्टयकी ओर प्रवृत्त होता है। उस समय पूर्वोक्त धर्मका तिरस्कार अथवा स्वरूपसे त्याग दोनों ही अपेक्षित हैं।

श्री रामानुजाचार्यने साधन-सप्तकका वर्णन किया है : विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद, और अनुद्धर्ष। श्री शंकराचार्यने यद्यपि वर्णन तो किया साधन-चतुष्टयका। विवेक वैराग्य, षट्सम्पत्ति तथा मुमुक्षा, परन्तु षट्सम्पत्तिके छह अंग होनेसे वास्तवमें उन्होने नौ साधनोंका वर्णन किया है।

बिना साधनके ये जो किस्से-कहानी, चुटकुले, गजल इत्यादिके द्वारा जब अधिकारी लोग वेदान्त-श्रवण करते हैं तब ब्रह्मज्ञान-

-रूपी फल श्रवणमात्रसे प्रायः उत्पन्न नहीं होता। वैसे हो सकता है। शंकरका मत है कि आत्माका सहजस्वरूप ब्रह्म है इसलिए किसी भी शरीरमें स्थित आत्मा मोक्षका अनधिकारी नहीं हो सकता। अब यह बात दूसरी है कि किसको किस द्वारसे वह ज्ञान प्राप्त होगा—वेद द्वारा, इतिहास-पुराण द्वारा, लौकिक भाषामें या संस्कृतमें। परन्तु श्रवण-मनन-निदिध्यासन तो सबको करना ही पड़ेगा।

पूर्वमीमांसकोंका कहना है कि **वचनं कारकम्**। वेदवचन कारक हैं अर्थात् उनका तात्पर्य विधि या निषेधमें होता है। विधिका भी अर्थवाद होता है और निषेधका भी अर्थवाद होता है। विधिमें मन्त्र और देवताका भी वर्णन होता है। अतः सम्पूर्ण वेद-वचनोंकी संगति विधि, निषेध, अर्थवाद, मन्त्र और देवताके द्वारा लगती है।

'तब क्या वेदान्त वचन भी इसी प्रकारके हैं?'

'हैं तो ठीक है और यदि नहीं हैं तो वे वेदान्त-वचन बेकार हैं!'

'नहीं ऐसा नहीं है। कुछ वचन ऐसे होते हैं कि जिनको जान लेनेके बाद करने-छोड़ने अर्थात् विधि, निषेधका झगड़ा ही समाप्त हो जाता है। वे वचन अपने स्वरूप ज्ञानके सम्बन्धमें हैं। दूसरेके स्वरूपज्ञानके पश्चात् तो विधि, निषेध सम्भव है परन्तु अपने स्वरूपज्ञानमें विधि, निषेध नहीं है। किसीने कहा : ब्रह्म सर्व-शक्तिमान् है तो इसका तात्पर्य इस बातमें हो सकता है कि ब्रह्मकी उपासना करो। किसीने कहा : आत्मा कर्ता, भोक्ता है। तो इसका अर्थ यह हो सकता है कि पाप मत करो, पुण्य करो जिससे नरकका दुःख न मिले, स्वर्गके सुखका भोग मिले। परन्तु यदि श्रुतिने

कहा। तुम नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म हो तो उसमें न तो कोई पुण्य करनेकी प्रेरणा है, न पापसे बचनेकी प्रतारणा है, न सुखके भोगका प्रलोभन है और न दुःखके भोगका डर।

वेदान्त जब आत्माका 'अह्रस्वम्, अदीर्घम्, अशब्दम्, अस्पर्शम्, अरूपम्, अरसम्, अचिन्त्यम्, अलक्षणम्, अव्यपदेश्यम्' द्वारा वर्णन करते हैं अथवा 'नान्तः प्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं' इत्यादिके द्वारा वर्णन करते है तो इसका केवल एक ही तात्पर्य निकलता है कि एकमेव अद्वितीय ब्रह्म तुम हो और तुम्हारे अन्दर न आना-जाना है, न पैदा होना, मरना है, न पाप-पुण्य है और न सुख-दुःख है; तुम ब्राह्मणादि शरीर नहीं हो, तुम कर्ता-भोक्ता परिच्छिन्न संसारी जीव नहीं हो। इसमें कोई विधि-निषेध नहीं है बल्कि अविद्याकल्पित सभी विधि-निषेधोंका अपने क्रिया-कारक फलसहित प्रध्वंस है। यह ब्रह्मात्मैक्य तो तत्काल कृतकृत्य कर देनेके लिए है, तत्काल प्राप्त-प्राप्तव्य कर देनेके लिए है।

इस प्रकार शास्त्रमें जो उपासना-प्रकरण हैं उनका ज्ञानकाण्डसे किसी भी प्रकारसे विरोध नहीं है। शंकर कहते हैं कि समग्र शास्त्रकी संगति अधिकारी-भेदसे हैं। ब्राह्मण बनकर बैठनेवालेके लिए सन्ध्या-वन्दन ठीक है। जो सूक्ष्मशरीरमें बैठा है उसके लिए पाप-पुण्य, सुख-दुःखकी व्यवस्था ठीक है और जो संस्कारोंसे लिप्त हैं उनके लिए आना-जाना ( संसृति ) ठीक है। जिसमें अविद्या भ्रान्ति लगी है उसका परिच्छिन्न होना ठीक है। जिसकी अविद्या निवृत्त हो गयी उसका सब कुछ निवृत्त हो गया।

जीवन्मुक्त लोग तो ऐसे गाते हैं:

**शृण्वन्त्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन् कस्माच्छृणोम्यहम्।**
**मन्यन्तां संशयापन्नाः न मन्येऽहमसंशयः॥**

विपर्यस्तो निदिध्यासेत् किं ध्यानमविपर्ययात् ।
देहात्मत्वविपर्यासं न कदाचिद्भजाम्यहम् ॥
( पंचदशी ७.२६०-२६१ )

'जिनको तत्त्वज्ञान न हो वे श्रवण करें, हमको तो मालूम है। हमें श्रवण करनेकी क्या जरूरत, जिनको संशय हो वे मनन करें। हमें कोई संशय नहीं है। फिर मैं मनन क्यों करूँ ? जिसको विपर्यय हो वह निदिध्यासन करे। हमको तो कभी देहात्मविपर्यय होता ही नहीं। फिर हमको निदिध्यासन करके क्या लेना है ?

'जैसे अज्ञानी मनुष्य अपनेको शरीर अथवा मनुष्य समझता है ठीक वैसे ही मैं अपनेको नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म समझता हूँ।'

जब अपनी ब्रह्मता इतनी साक्षात् भास रही है तो हमारे लिये कर्तव्यका, प्राप्तव्यका, भोक्तव्यका और ज्ञातव्यका प्रश्न ही कहाँ उठता है ?

ऐसी मस्ती जीवनमें आ जाय तब जीवन्मुक्ति है। मुक्ति तो एक ही होती है, वही सद्योमुक्ति है, वही जीवन्मुक्ति है और वही विदेहमुक्ति है। असलमें क्रममुक्ति होनेपर भी मुक्ति वही है। कालकी दृष्टिसे सद्योमुक्ति और क्रममुक्तिका भेद हो गया है। अकालमें मुक्ति ही मुक्ति है, उसमें न क्रम है न सद्यः है। शरीरके होने, न होने से जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्तिका भेद है। वस्तुतः ये चारों मुक्तियाँ अपनी एक आत्माके ही नाम हैं।

ऐसे उच्च कोटिके सिद्धान्तका प्रवर्तन करते हुए भी श्री शंकराचार्य भगवान्ने शास्त्रके किसी अंशको काटा नहीं है। लोग कहते हैं कि हम स्वर्गको मृत्युलोकमें उतारना चाहते हैं। सचमुच स्वर्ग और मृत्युलोकको शंकरने एक कर दिया। ब्रह्म और जगत्को अद्वय कर दिया !

# २. देवोपासना

देवताकी उपासना लौकिक कामनाकी पूर्तिके लिए भी की जाती है और पारलौकिक कामनाकी पूर्तिके लिए भी की जाती है। परोक्ष पदार्थका आश्रय लेनेकी; सहारा या अवलम्ब लेनेकी जो मूल मानव प्रवृत्ति है उसका परिणाम है—देवताकी उपासना। परन्तु ब्रह्मज्ञानकी बात दूसरी है। देवोपासनाका अधिकारी दूसरा होता है और ब्रह्मज्ञानका अधिकारी दूसरा होता है।

ब्रह्म-जिज्ञासा उसके हृदयमें होती है जिसको अल्प-जिज्ञासाके प्रति कुछ अरुचि हो गयी हो। जो छोटी-छोटी वस्तु चाहता हो, जो छोटी-छोटी बातोंमें अटकता है वह बड़ी वस्तुकी प्राप्तिका अधिकारी नहीं होता। जो बाजारमें दस रुपया लगानेको तैयार नहीं है उसको लाखोंका फायदा कैसे होगा? जो खेतमें एक सेर बीज डालनेको तैयार नहीं है उसको दस मन अनाज कैसे प्राप्त हो सकेगा? इसी प्रकार जो अपने देशको, अपने कालको, अपनी वस्तुको, अपनी क्रियाको अपनी भावनाको, अपनी बुद्धिको, यहाँ तक कि अपने आपको भी परब्रह्म परमात्मामें होम देनेको तैयार नहीं है उसको परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति कैसे होगी? जब आदमी छोटी चीजको छोड़ता है तब बसको बड़ी चीज मिलती है, नहीं तो ये सब साधु घाटेमें रह जायेंगे! इन्होंने सब कुछ छोड़ा और जो चीज इन्हें मिली वह यदि गृहस्थियोंको बिना कुछ छोड़े ही मिल जाय तो इनका तो त्याग सब व्यर्थ गया न!

**यदल्पं तन्मर्त्यम्** (छा० ७.२४.१)। **यो वै भूमा तत्सुखम्** (छा० ७.२३.१)

'जो अल्प है वह मरनेवाली है। जो अनन्त है वही सुख है।' **'ना ल्पेसुखमस्ति'**=अल्पमें सुख नहीं है। सुख किसमें है? भूमामें? नहीं, भूमामें सुख है ऐसा नहीं है, भूमा स्वयं सुख है!

बहूनाम् भावो भूमा।

जो बहुतमें एक है वह भूमा है। जो शरीरोंमें अशरीरी है वह भूमा है। अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम्। ( कठ० १.२.२२ ) जो जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिमें एक है वह भूमा है। जो सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयमें एक रहता है वह भूमा है। जो सब विनाशी पदार्थोंमें अविनाशी है वह भूमा है। वही भूमा जानने योग्य है। भूमात्वेव विजिज्ञासितव्यः ( छा० ७.२३.१ )।

तैत्तिरीय श्रुति कहती है : तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म। अतः जिज्ञास्य लक्षण एक होनेसे भूमा और ब्रह्म एक ही वस्तुके दो नाम है।

तो अल्पसे वैराग्य हुए बिना ब्रह्म-जिज्ञासा नहीं होती; जब कि देवताकी उपासना अल्प जिज्ञासाके अन्तर्गत ही है। एक बार चित्त सब अल्प भोगोंसे उपराम होकर ब्रह्मोन्मुख हो जाना चाहिए! तभी सच्चे अर्थमें ब्रह्मात्मैक्य-बोधकी उपलब्धि हो सकेगी।

भगवान् रामको जब वैराग्य हुआ तो धनसे भी वैराग्य हुआ। माँगनेवाले आते तो राम कहते—

आपदामेकमावासं किं नु वाञ्छसि रे धनम्।
इत्युक्त्वा निजसर्वस्वं अर्थिने सम्प्रयच्छति॥

'अरे सारी विपत्तियोंका एकमात्र घर जो धन है वही तुम चाहते हो, तो ले जाओ हमारा सर्वस्व, हम वैराग्यसे रह सकेंगे।'

अल्पमें जो आनन्द प्रतीत होता है वह आपको पराधीन करता है, आपको जड़ बना देता है क्योंकि बिना जड़के साथ तादात्म्य हुए आनन्दोपलब्धि नहीं होती। वह आपको परिच्छिन्न बनाता है, पराधीन बनाता है, और परिणाममें दुःखी बनाता है।

आनन्दभावका विरोधी है : पराधीनता, मरणशीलता, वियोगिता।

चेतन भावका विरोधी है : जड़ता, अन्यके साथ तादात्म्यापन्न होना।

सत् भावका विरोधी है : विनाशशीलता।

इसलिए यदि कोई भी मनुष्य अपने आत्माके अतिरिक्त सुख लेना चाहता है तो वह विनाशी सुख चाहता है, जड़ सुख चाहता है, पराधीन सुख चाहता है और असलमें वह दुःखमें ही सुखकी भ्रान्ति करके सुखके बहाने दुःखको ही चाहता है, क्योंकि वह सच्चिदानन्दसे विपरीत पदार्थको ही चाह रहा है।

अतएव कर्म और उपासनाके फलसे विरक्त होकर ब्रह्म जिज्ञासुको आचार्य, गुरुकी शरणमें जाना चाहिए। इस विषयमें अनेक श्रुतियाँ हैं यथा—

**आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापति** ( छा॰ ४.९.३ )

**आचार्यवान् पुरुषो वेद** ( छा॰ ६.१४.२ )

**तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।**
( मुण्डक॰ १.२.१२ )

**न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।**
( कठ॰ १.२.८ )

सद्गुरुके मुखसे परब्रह्म परमात्माके सम्बन्धमें जानकारी प्राप्त करनी चाहिए।

अब इस जानकारीमें अर्थात् परमात्माके ज्ञानमें तीन आलम्बन या आश्रय होते हैं :

१. आत्माश्रय २. ईश्वराश्रय और ३. साधनाश्रय।

सबको छोड़कर अपनेमें बैठ जायेंगे तो परमात्मा हमको अपने आप मिल जायेगा—यह आत्माश्रय है। ईश्वरकी खूब भेंट-पूजा, उपासना करो तो ईश्वर प्रसन्न होकर हमें अपना ज्ञाना दे देंगे—यह ईश्वराश्रय है। कोई ऐसा साधन पकड़ें कि उसका स्वाभाविक फल आत्मज्ञान हो, जैसे शास्त्रालम्बन—यह साधनाश्रय है। धर्म और समाधि त्यागालम्बन हैं। उपासना इष्टालम्बन है। प्राणायाम, शास्त्र, दान इत्यादि ये साधनालम्बन हैं।

जब मनुष्य अपने साधनपर विश्वास करता है तो उसका विश्वास अपने कर्तृत्वपर होता है, अहम्पर होता है। जो काम अपने कर्तृत्वपर विश्वास करके होता है वह धर्म हो सकता है, उससे लौकिक सिद्धि हों सकती है, वह योंग हो सकता है परन्तु वह कर्तृत्वके भ्रमकी निवृत्ति नहीं कर सकता। और यहाँ वेदान्तमें तो कर्तृत्वके भ्रमकी निवृत्ति इष्ट है। भक्तिमें भी साधनाश्रय नहीं माना जाता। श्री वल्लभाचार्यजी महाराज साधनाश्रय स्वीकार नहीं करता क्योंकि यह कर्तृत्वको पुष्ट करता है और पुष्टिके मार्गमें ( भगवत्कृपाके अवतरणके मार्गमें ) बाधक होंता है।

आत्माश्रयमें भी किञ्चित् साधनाश्रय ही है क्योंकि यहाँ साधन क्रियाकी प्रतिलोम दिशा है। क्षीण कर्तृत्वके सहारे साधनाके प्रतिलोम परिणामके फलस्वरूप अपने आपमें बैठा जा सकता है। परन्तु इसमें कर्तृत्व भ्रान्ति तो निर्मूल होती ही नहीं, जीवत्व समूचा ज्यों-का-त्यों बना रहता है। अतः तात्कालिक सुखका हेतु होनेपर भी दुःखका अत्यन्ताभाव नहीं होता, आत्माश्रय से।

अब रही बात इष्टाश्रयसे कर्तृत्व भोक्तृत्व, आदिकी भ्रान्ति मिटानेकी। इसमें परोक्ष देवताके प्रति कर्तृत्वबुद्धि होती है। यह वस्तुके अपरोक्ष साक्षात्कारका मार्ग नहीं है। हाँ; यह मध्यम-मन्द अधिकारीका मार्ग है। अपनी बुद्धिमें विश्वास रखनेवाला मध्यम

अधिकारी है; देवताकी बुद्धिमें विश्वास रखनेवाला मन्द अधिकारी है। दूसरे शब्दोंमें 'त्वं'-पदार्थपर विश्वास करनेवाला मध्यम अधिकारी है और 'तत्'-पदार्थपर विश्वास रखनेवाला मन्द अधिकारी है। (अधिकारी शब्दसे यहाँ वेदान्तके अधिकारीसे तात्पर्य है)।

शत्रुपर विजय चाहिए तो देवताकी उपासना करो, आप सफल होंगे। रोग-निवृत्ति चाहते हैं तो देवताकी उपासना करो, रोग नष्ट होगा। घरमें सुख-शान्ति चाहते हैं तो देवताकी उपासना करो, सुख-शान्ति होगी। यज्ञ करो, स्वर्ग मिलेगा; पाप करो तो नरक भी मिलेगा। वेदान्त इन चीजोंका खण्डन नहीं करता, बल्कि उन-उन कक्षाके अधिकारियोंके लिए उनका समर्थन करता है। परन्तु वेदान्त-प्रतिपाद्य जो ब्रह्मात्मैक्य है, उसका प्रसंग दूसरा है। भूत भैरवकी उपासना, पितरोंकी उपासना, बैकुण्ठादि-लोकोंकी प्राप्तिके लिए विष्णु आदि देवताओंकी उपासना, क्षुद्र सिद्धियोंके लिए भूत-भैरव-यक्ष-यक्षिणी आदिकी उपासना, इन सब उपासनाओंमें अहंकी बुद्धि होती है, पराधीनता बढ़ती है और बहुल परिश्रम होता है; प्रत्यवाय भी अनेकों हैं और पूर्ण होनेपर फल भी विनाशी हैं। कर्तृत्व-भोक्तृत्व, संसारित्व, परिच्छिन्नत्व और सुखी-दुःखीपना, इनसे मुक्ति मिलनेका तो प्रश्न ही नहीं है। इस लिए वेदान्तमें तो अहं-विस्तारक तथा अहमाबन्धक सभी साधनोंसे दूर ही रहना इष्ट है।

तब वेदान्तों (उपनिषदों)में जो देवताओंकी उपासनाके प्रसंग हैं उनका समन्वय तत्त्वज्ञानमें कैसे होता है?

आत्माको श्रुति सच्चिदानन्द अद्वय वस्तु बताती है। आत्माके इस पारमार्थिक स्वरूपका दिग्दर्शन मध्यम मन्द अधिकारीको व्यवहारमें साधकके कर्म और उसके इष्टमें श्रुति कराती है।

आत्मा सत् है इसलिए साधकको सत्य भाषण करना चाहिए, सत्य-प्रतिज्ञ होना चाहिए, किसीकी हिंसा नहीं करनी चाहिए; आत्म-हत्या नहीं करनी चाहिए। उसका इष्टदेवता भी सत्यप्रतिज्ञ होता है—जो एकबार प्रतिज्ञा कर लेता है उसको निबाहता है, वह कोमल चित्त है, दीनार्ति-परित्राण करनेवाला है। आत्मा चित् है अतः साधकको भी बुद्धिमानीसे चलना चाहिए, दूसरोंको मूर्ख नहीं बनाना चाहिए, जहाँतक हो सके दूसरोंके ज्ञानकी वृद्धिमें सहायक होना चाहिए। उसका इष्टदेवता भी सर्वगुण-सम्पन्न, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् होना चाहिए। आत्मा आनन्द है, इसलिए साधकको दुःखी नहीं होना चाहिए। और दूसरोंको दुःखी नहीं बनाना चाहिए। जिससे दूसरोंके आनन्दमें वृद्धि हो वह करना चाहिए। उसका इष्टदेवता भी आनन्ददाता होना चाहिए, प्रसन्न-वदन होना चाहिए।

आत्मा अद्वय है, अतः साधकको न भेद डालना चाहिए और न स्वयं किसीसे भेद रखना चाहिए। उसका इष्टदेवता भी समदर्शी एवं अभेददर्शी होना चाहिए।

इस प्रकार सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, परमानन्दस्वरूप, अविनाशी, करुणावरुणालय, कृपासिंधु, देखने और व्यवहारमें सर्वांग सुन्दर देवता-उपासनाका विज्ञान यही है कि साधकका जीवन क्रम-क्रमसे कर्म, करण, वासना और अहम् एक अद्वितीय सच्चिदानन्द ब्रह्मके प्रति समर्पित हो जाय। काल-क्रमसे, महापुरुषोंकी कृपासे अथवा वासनाक्षयसे जब उसे उस ब्रह्मतत्त्वकी प्राप्तिकी जिज्ञासा हो जायेगी तब परोक्ष देवताके सभी गुणोंका ( जो वास्तवमें सच्चिदानन्दके विलास हैं ) समन्वय आत्माके परमार्थस्वरूपमें उपलब्ध हो जायेगा—तत् और त्वम्की एकताके बोधसे।

**प्रश्न :** तत्त्व ज्ञानके पूर्व देवतामें ये गुण मानने पड़ते हैं या तत्त्वज्ञानके अनन्तर ?

**उत्तर :** तत्त्वज्ञानके अनन्तर तो क्रिया, कारक, फलरूप द्वैत प्रपञ्चका उपमर्दन हो जाता है। इसलिए बादमें तो किसी आरोप और उपासनाकी आवश्यकता ही नहीं है। पहले करो तो ठीक है—जबतक कि सत्यप्रतिज्ञत्व, अहिंसकत्व एवं निष्कामत्व स्वप्रतिष्ठित न हो जाय। जड़के सम्बन्धमें अस्तेय होता है—चोरी न करना। जो जड़ वस्तुको अपने लिए आवश्यक और सुखरूप समझेगा वही जड़ वस्तुकी चोरी करेगा। अतः चिद्भावका सम्बन्ध है अस्तेयका और अपरिग्रहका। इसी प्रकार सद्भावके साथ सम्बन्ध है सत्य और अहिंसाका। आनन्दभावका सम्बन्ध है ब्रह्मचर्यका। काम स्वब्रह्मचर्यभंग-प्रधान है और संग्रह-परिग्रह वह अन्य वस्तु-संग्रह प्रधान है और दोनों आनन्दके विवर्त हैं।

यदि कहो तत्त्वज्ञानके अनन्तर देवता–उपासना करेंगे तो यह सम्भव नहीं है :

**न ह्येकत्वविज्ञानेन उन्मथितस्य द्वैतविज्ञानस्य पुनः संभवोऽस्ति, येनोपासनाविधिशेषत्वं ब्रह्मणः प्रतिपद्येत।**

एकत्व-ज्ञानसे निवृत्त हुआ मिथ्या द्वैतज्ञानका फिर सम्भव नहीं है जिससे कि ब्रह्म-उपासना विधिका अंग प्राप्त हो।

जब तत्त्वज्ञानके द्वारा प्रपञ्चाभावविशिष्ट आत्माका बोध हो गया और यह बोध हो गया कि आत्मामें अभाव नामकी कोई वस्तु नहीं है इसलिए विशेषण-विशिष्टका भेद भी गलत है, तब वहाँ किसी देवताकी उपासना करनेकी क्या जरूरत रह गयी ?

इसलिए वेदान्तोंमें जो ब्रह्मका वर्णन है वह उपासनाके लिए नहीं है। यह ठीक है कि जहाँ वर्णन आता है कि ब्रह्म सर्वकर्मा,

सर्वगन्ध, सर्वरस है वहाँ गुणचिन्तनके द्वारा ब्रह्म उपासनाका अंग हो सकता है परन्तु जहाँ अशब्दम् अस्पर्शम्, अरूपम् या नान्तः प्रज्ञं० इत्यादिका वर्णन है वहाँ तो वह केवल वस्तु-बोधके लिए ही है।

निष्कर्ष यह है कि यद्यपि ब्रह्मात्मैक्य-बोधक वाक्योंके अतिरिक्त वेदमें विधि-निषेधके लिए या उपासनाके लिए अन्य वाक्य हैं (वे उनके अधिकारियोंके लिए तत्त्वज्ञानके पूर्व अधिकार सम्पादनके लिए ठीक हैं) परन्तु जहां एकत्वबोधका वर्णन है वह किसी कर्म या उपासनाके लिए नहीं है क्योंकि आत्माके ज्ञानसे ही परम फलकी प्राप्ति हो जाती है, उसके बाद कोई फल पाना शेष नहीं रहता। ●

## ३. आत्मज्ञान उपासना नहीं है

यह देखनेमें आता है कि वेदवचन पुरुषार्थ-प्रतिपादक हैं और इसलिए वे विधि-निषेध करते हैं। यहाँ तक कि ऊपरसे निरर्थक दीखनेवाले वाक्य जैसे 'सोऽरोदीत्' (वह रोया) भी अर्थवादमें विधि-निषेधके साथ समायोजित किये जाते हैं। इसलिए पूर्वपक्षी आत्माके ब्रह्मस्वरूपका दिग्दर्शन करानेवाले वाक्योंको निरर्थक मानते हैं। भगवान् शंकर इस पक्षका खण्डन करते हैं।

वेदान्त-वाक्योंका प्रामाण्य केवल शास्त्रवचन होनेसे नहीं है, बल्कि इसलिए है कि उनका विषय युक्तिसे अविरुद्ध है तथा अनुभवपर्यवसायी है। आत्माको जैसा ब्रह्म बताया गया है वह अनुभवमें वैसा ही आता है, इसलिए वे प्रमाण हैं। जबकि अन्य विधि-निषेधमय वाक्य, यदि उनका विषय इहलौकिक नहीं है, तो केवल शास्त्रवाक्य होनेसे प्रमाण है, और जो इहलौकिक विषय-

वाले हैं वे सामान्य अन्वय-व्यतिरेकसे सिद्ध होनेवाले प्रमाणान्तरसे सिद्ध होनेवाले अनुभवका अनुवाद हैं, इसलिए वे स्वतन्त्र प्रमाण नहीं हैं। आत्माकी ब्रह्मता प्रमाणान्तरसे असिद्ध एवं अबाधित है तथा केवल वेदान्त-वाक्यैकगम्य है इसलिए वेदान्तवाक्य प्रमाण हैं। आत्माकी ब्रह्मता अनुमानका विषय यदि होती तब तो वेदान्त-वाक्य प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध लिंगोंकी अपेक्षा करते। परन्तु चूँकि ब्रह्म प्रत्यक्ष, अनुमान आदि किसी प्रमाणका विषय नहीं है इसलिए शास्त्र ही ब्रह्मत्वके विषयमें प्रमाण हैं। यह उनका मूल तर्क है। अब इस विषयपर विचार करते हैं।

असलमें पुरुषार्थ तीन ही हैं, धर्म, अर्थ, काम; चौथा पुरुषार्थ अर्थात् मोक्षको परमपुरुषार्थ कहते हैं। 'पुरुषैः अर्थ्यते इति पुरुषार्थः' = पुरुष जो अपने लिए चाहे वह पुरुषार्थ कहलाता है। हम क्या चाहते हैं? अपनी इच्छाओंकी पूर्ति और जिनसे हमारा द्वेष है उससे निवृत्ति। इसीके लिए वेद विधि, निषेध करता है। हमारा दुःखसे सहज निरुपाधिक द्वेष है और सुखसे सहज निरु-पाधिक राग है। तो धर्म, अर्थ और काम हमारे लिए दुःखदायी न हों और हमारी सुख-विषयक इच्छाओंकी पूर्ति करनेवाले हों, इसके लिए वेदका विधि, निषेध है। परन्तु इन साधनोंसे सुख मिलनेपर भी वह क्षणभंगुर, अनित्य सुख मिलता है।

जब विचार बढ़ता है तब वैराग्य आता है। जो मिलेगा सो खो जायेगा; जो कर्म करके मिलेगा वह सीमित होगा, नष्ट हो जायेगा। मनुष्यको नित्य सुखकी लालसा, जिज्ञासा जब होगी तब यह विचार जगेगा कि नित्य सुख तभी मिलेगा जब वह आत्माका स्वरूप हो; और दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति भी तभी हो सकती है जब दुःख-निवृत्तिसे उपलक्षित आत्मा सर्वथा दुःखसंस्पर्शसे

रहित हो। इसका उदाहरण सुषुप्ति है जहाँ दुःख नहीं रहता और आत्मा सुखस्वरूप रहती है।

अपना स्वरूपभूत आत्मा साधन-साध्य नहीं है, वह सिद्ध है। इस बातको आप यों समझो कि आत्मा ( यानी आप स्वयं ) ऐसी वस्तु हैं जो पहिलेसे है, अब है और आगे रहेगी, जिसके नाशका, जिसके अज्ञानस्वरूप होनेका, जिसके अप्रिय होनेका और जिसके भेदरूप होनेका अनुभव कभी किसीको नहीं हो सकता। 'मैं मर गया' या 'मैं नहीं हूँ' यह अनुभवके क्षेत्रसे बाहरकी बात हैं। 'मैं अज्ञान हूँ' यह भी अनुभवके बाहरकी चीज है। 'मैं अज्ञान हूँ' ऐसा अनुभव तो एक ज्ञान ही है। इसी प्रकार 'मैं अप्रिय हूँ, था या रहूँगा' यह भी किसीको अनुभव नहीं हो सकता। 'मैं भेद-वान् हूँ' यह भी अनुभवकी प्रणालीमें नहीं है क्योंकि भेद सभी दृश्य होते हैं। इसलिए आत्मा एक ऐसी सत्ता है जो सर्वथा अबाधित है, ऐसा ज्ञान है जिसमें अज्ञानकी छाया भी नहीं है, ऐसा आनन्द है जिसकी प्रियता सर्वथा अबाधित है और जो समस्त भेदोंके अत्यन्ताभावका अधिष्ठान है। यही सच्चिदानन्द अद्वय ब्रह्म है। इससे पृथक् न कोई जीव है, न जगत्, न ईश्वर, न प्रकृति : सम्पूर्ण सर्वको आत्मसात कर लेना, यह ब्रह्मात्मैक्य-बोध है वेदान्तका।

वेदका जो कर्म-उपासना भाग है वह दूसरी बात बताता है। उसमें कर्मके भेद हैं, विषयके भेद हैं, इच्छाके भेद हैं, उपास्यके भेद हैं, कर्ताके भेद हैं, भोक्ताके भेद हैं और इसलिए वहाँ विधि, निषेध भी हैं। स्पष्ट है कि वेदान्त ( या वेदका जो ज्ञानकाण्ड है ) से यह काण्ड बिलकुल भिन्न है। वेदान्तमें आत्माके अकर्ता, अभोक्ता असंसारीपन, अपरिच्छिन्नत्वको समझानेके लिए कर्म, संयममूलक

धर्मवाद, मन:संयममूलक उपासना और मननिष्कंपमूलक स्थिति-वाद पूर्वपक्षमें मानते हैं।

अब हमारे जिम्मेवार वेदान्ती हैं उनका कहना है कि धर्म, उपासना और योग सब अपने-अपने स्थानपर ठीक हैं और अपने-अपने साध्यकी प्राप्ति कराते हैं। किसी भी वेदान्तीका शरीर व्यवहारकी दृष्टिसे कर्मशून्य नहीं हो सकता और इसलिए उसे भी समुचित मात्रामें वस्तु एवं भोगकी आवश्यकता होती ही है। इस-लिए वेदान्तीके जीवनमें भी कर्म, अर्थ और भोगके नियन्त्रणकी आवश्यकता होगी ही। अन्तःकरण शुद्धिके लिए धर्मकी जरूरत है, उपासनाकी जरूरत है, योगकी भी जरूरत है नहीं तो एक कुत्तेके जीवनमें और ज्ञानीके जीवनमें क्या अन्तर रहेगा!

शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे: ?

जिसका कर्म अनियन्त्रित है, वृत्ति जिसकी चञ्चल है, समाधि जिसने देखी ही नहीं है, उस वेदान्तीको कभी जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख होगा! जिम्मेदार वेदान्ती वह है जो वस्तुको धर्मसे नियन्त्रित कर दे, अपनी प्रियताको उपासनासे नियन्त्रित कर दे और जो अपने मनकी चञ्चलताको योगसे नियन्त्रित कर दे। वेदान्तका कार्य तो केवल आत्माकी ब्रह्मताविषयक अविद्याको मिटाना है। सांख्यसे द्रष्टाका दृश्यसे विवेक तो होता है परन्तु द्रष्टाके स्वरूपका ज्ञान नहीं होता।

एक वेदान्ती मिले। बोले वेदान्ती वह है जो सब कुछ कर सके, सब कुछ खा सके। मैंने कहा : मुर्दा खाओगे? बोले : नहीं। मैंने कहा : विष्ठा खाओगे? बोले : नहीं। तो मैंने कहा : जब नहीं बोलना ही है तो फिर वही करो न, जो समाजकी मर्यादा है, शास्त्रकी मर्यादा है। उसे क्यों नहीं स्वीकार करते?

कोई भी व्यक्ति न सब कुछ कर सकता है, न सब कुछ सोच

सकता है, न सब कुछ भोग सकता है। इसलिए जबतक शारीरिक जीवन है उसको मर्यादोचित व्यवहारसे ही बँधा रखना चाहिए। उसमें उच्छृंखलताका व्यापार वासनाकी प्रधानतासे होता है, ज्ञानसे नहीं।

इस प्रकार वेदके कर्म काण्डका जो विषय है—कर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ वह वैदिक विधि, निषेधसे प्राप्त होता है, अतः उसका क्षेत्र अलग है। वेदान्तसे उसका कोई विरोध नहीं है। परन्तु एक पुरुषार्थ ऐसा होता है जो कुछ करने या भावना करने या स्थिति बनानेसे नहीं मिलता, वह सर्व-त्यागसे मिलता है।

रूमालको हाथसे फेंक दिया परन्तु मनमें रूमाल बना रहा तो यह त्याग नहीं है।

एक सेठजी अपने जमाईके साथ हमारे पास आये। जमाई कुछ फल-फूल लाये थे। जब चलने लगे तो मैंने उसीमें-से कुछ फल सेठ जीको भी प्रसादरूपमें दिये। अब सेठ जी फल न लें क्योंकि जमाईके लाये हुए थे। यद्यपि जमाई जीने फल मेरे समर्पित कर दिये तो भी सेठ जी के मनसे फलोंपर जमाईकी स्वत्व-भावना नहीं गयी थी!

त्याग माने किसीको भी अपना न मानना। जिनके लिए 'मेरा' कुछ नहीं है उनके लिए यह सारी सृष्टि ईश्वरकी है। इसीसे सबसे बड़ा साधन है 'न्यास' अर्थात् त्याग। सम्यक् त्यागका नाम 'संन्यास' है, इसमें बाह्य त्यागकी कोई कीमत नहीं है।

लोग कहते हैं: समाधिमें तो चित् और जड़की गाँठ, अविद्याकी गाँठ टूट जाती है परन्तु समाधिसे उठनेपर गाँठ लग जाती है। तो भाई मेरे, ये बनावटी द्रष्टा जो बनते हैं उनकी यही स्थिति है। परिच्छिन्न शरीरमें 'मैं-पना' और शरीर तथा वस्तुओंमें

'मेरा-पना' यही गाँठ है और यह गाँठ कुछ करने, भावना करने या स्थिति बनानेसे नहीं कटेगी :

**नास्त्यकृतः कृतेन** ( मुण्डक १.२.१२ )

यह श्रुति है जो कहती है कि **कृतेन कर्मणा अकृतो मोक्षः न सिद्धयति**=करनेसे अकृत रूप मोक्ष सिद्ध नहीं होता। क्योंकि कर्मका तो फल होता है और वह अनित्य होता है।

धर्ममें भी शास्त्र प्रमाण है और ब्रह्ममें भी शास्त्र प्रमाण है। धर्ममें केवल शास्त्र प्रमाण है और ब्रह्ममें तदनुरूप ब्रह्मानुभव प्रमाण है। अग्निमें घी डालनेसे स्वर्ग मिलेगा, इस प्रमाणके पक्षमें न युक्ति है न अनुभव, परन्तु 'आत्मा अद्वितीय सत्, अद्वितीय चित्, अद्वितीय आनन्द है' इस शास्त्रवाक्यके पक्षमें युक्ति भी है और अनुभव भी ऐसा ही होता है। धर्मशास्त्रका फल दृष्ट अनुभवके क्षेत्रसे बाहर है जबकि वेदान्त-वाक्योंके तथ्यकी अनुभूति सर्वथा दृष्ट है। आचार्यका इस सम्बन्धमें कथन है कि :

**श्रुत्यादयेऽनुभवादयाश्च यथा सम्भवमिह प्रमाणम् अनुभवावसानत्वाद्''''ब्रह्मज्ञानस्य** ( १.१.२४ )।

यहाँ यथासम्भव युक्ति भी है और अनुभव भी है। यहाँ शास्त्र प्रमाणका पर्यवसान अनुभवमें है।

वेदान्तवाक्यका प्रामाण्य कैसा है? 'दशमस्त्वमसि' ( वह दशवाँ पुरुष तू है )की भाँति। दस आदमी नदीसे तैरकर पार हुए। सोचा गिन लें कहीं कोई बह न गया हो। प्रत्येकने गिना तो अपनेको भूल गया और इसलिए संख्या नौ ही गिनी गयी। जब सबने ही नौ गिना तो लगे रोने : 'हाय, दसवाँ बह गया।' कोई दयालु बुद्धिमान पुरुषने देखा, उनकी बात सुनी, मन ही मन लोगोंको गिना और जब संख्या दस पायी तो उनको उनका

अज्ञान समझमें आ गया। असलमें उनमें-से प्रत्येक दसवाँ था। उसने प्रत्येक बार नौको अलग गिन करके दसवेंसे कहा कि 'वह दसवाँ तू है।'

यद्यपि दसवाँ अपरोक्ष था परन्तु अज्ञानसे परोक्ष हो रहा था। जब नौसे व्यतिरिक्त करके उसे दसवाँ समझा गया तो समझ आ गयी। इसी प्रकार आत्मा ब्रह्म है ही, परन्तु ब्रह्मता अपरोक्ष होनेपर भी अविद्याके कारण वह परोक्ष मालूम पड़ती है। वेदान्त 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंसे उसी ब्रह्मताको अपरोक्ष कराता है, ब्रह्मता उत्पन्न नहीं करता। अतः ब्रह्मता कर्मका फल नहीं है ज्ञानका फल है। असलमें ज्ञानका फल अज्ञानको मिटाना है, ब्रह्म तो नित्य अपरोक्ष है ही।

इस प्रकार वेदान्तवाक्योंका तात्पर्य विधि, निषेधमें न होकर अविद्याप्रतिपक्षी ज्ञानके जनकत्वमें है।

आत्मा यदि उत्पाद्य, विकार्य, संस्कार्य या आप्य होता तो वह कर्म या उपासना या योगका अंग हो सकता था। परन्तु आत्मा तो निर्दुःख और नित्य सुखस्वरूप[1] है, नित्य ज्ञानस्वरूप है और अविनाशी अद्वय है। इसलिए यह कर्म उपासना-विधिका अंग नहीं है। वेदान्त-वाक्योंका प्रामाण्य आत्माके यथावत् स्वरूपके बोधन करानेमें है।

आपको सन्देह है कि आत्मा है या नहीं, है तो कर्ता है या नहीं, भोक्ता है या नहीं, केवल द्रष्टा है या थोड़ा कुछ और भी है, अद्वितीय है या सद्वितीय है, स्वतन्त्र है या परतन्त्र है इत्यादि।

१. हम लोग दुःखको सुखका अभाव या सुखको दुःखका अभाव नहीं कहते। क्योंकि इसमें अन्योन्याश्रय दोष है जिससे दोनों ही पहिचाने नहीं गये। और जब पहिचाने नहीं गये तो उनका अभाव ही कैसे पहिचाना जायेगा? अभावमें भेदकी स्थापना नहीं हो सकती!

इस सन्देहको मिटाना जरूरी है क्योंकि तभी जो दुःख निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्तिरूप प्रयोजन है वह सिद्ध होगा। यह सन्देह कैसे मिटे ? उसके लिए एक प्रकाश चाहिए जो रज्जुरूप अधिष्ठानको विकल्परहित दिखा सके ! वह प्रकाश है वेदान्त-शास्त्रका महावाक्य तथा तज्जन्य वृत्ति।

**तथापि आत्मविज्ञानस्य फलपर्यन्तत्वात् न तद्विषयस्य शास्त्रस्य प्रामाण्यं शक्यं प्रत्याख्यातुम्।**

जो अन्य वस्तुका विज्ञान होता है वह कर्मांग होता है और संस्कारजनक होता है :

**सर्वत्रैव हि विज्ञानं संस्कारत्वेन गम्यते।**
**पराङ्गञ्चात्मविज्ञानादन्यत्रेत्यवधार्यताम्॥**

श्री सुरेश्वराचार्य जी महाराज वार्तिकमें बोलते हैं कि जितने विज्ञान हैं संसारमें, वे मनपर एक संस्कार छोड़ जाते हैं और उस संस्कारसे फिर क्रिया होती है। पर-विज्ञानका यही स्वरूप है, परन्तु आत्म-विज्ञानका यह स्वरूप नहीं है।

यदि अपने आपको जान जाओगे तो 'ज्ञानमें संस्कार नामकी कोई चीज होती है—तुम्हारी यह धारणा ही कट जायेगी। जैसे, आपका ख्याल है कि चनेमें आग है ( क्योंकि उसको खानेसे शरीरको गर्मी ( कैलारी ) मिलती है, मिट्टी है, पानी है ( क्योंकि उसमें स्वाद है ), वायु है ( अन्यथा उसमें-से अंकुर कैसे निकलता ) और अवकाश है ( अन्यथा घुन उसमें छेद कैसे करता )। परन्तु यदि आप चनेको जला दो तो चनेका चनापन मिट जाता है और राखपना रह जाता है। इसका अर्थ कि सत्तामें बीजत्वरूप संस्कार नहीं है। वह तो जला दिया गया परन्तु सत्ता नहीं जली। इसी प्रकार जो चेतन है, साक्षीस्वरूप, इसमें न द्रव्यका संस्कार है, न कर्मका संस्कार है, न भावका संस्कार है और न विधिका।

यह तो जबतक हम अन्तःकरणसे तादात्म्यापन्न रहते हैं, तबतक ये वस्तुएं संस्कार डालती हैं।

सांख्य और योग कहते हैं दिग्भेद, कालभेद वास्तविक नहीं हैं, विकल्पमात्र हैं। वेदान्त एक कदम आगे बढ़कर बोलता है कि 'बाबूजी, यही नहीं, जिस द्रव्यके आधारपर लम्बाई, चौड़ाई जानी जाती है और उत्तर-दक्षिण-पूर्व-पश्चिम जाना जाता है वह द्रव्य भी विकल्प-वृत्ति ही है और वेदान्त कहता है कि तुम्हारी प्रकृति भी विकल्प है! प्रकृति कहाँ विकल्प है? तो कहा—द्रष्टाकी दृष्टिमें, आत्मदृष्टिमें।

आत्मविज्ञान न तो संस्कार उत्पन्न करता है और न संस्कारसे उत्पन्न होता है; यह इस विज्ञानकी खास विशेषता है। आत्माका ज्ञान ऐसा नहीं होता कि पहिले कभी हमने आत्माको जाना था और अब उसका ज्ञान उदय हो गया, क्योंकि यदि पहिले कभी आत्माको जाना गया होता तो तुम्हारा अन्तःकरण बाधित हो गया होता, तुम्हारा अपने अन्तःकरणसे मैं-मेराका संसर्ग न होता, परन्तु होता है। अतः आत्मा अभीतक अज्ञान ही है तुमसे। इसलिए आत्मा संस्कारजन्य नहीं है।

[ असलमें अन्तःकरणमें न अर्थाध्यास है न संसर्गाध्यास। वहाँ तो केवल ज्ञानाध्यास है। ज्ञानमें ही जो कुछ यह नाम-रूप दीख रहा है उसको ज्ञानसे पृथक् मानकर मैं-मेरेपनेका अध्यास हो रहा है। ]

आत्मा संस्कारजनक भी नहीं है। उल्टे वह तो संस्कारके आधारभूत अन्तःकरणको ही बाधित कर देता है।

भासमान पदार्थ दो तरहका होता है—बाधित भासमान तथा अबाधित भासमान। अर्थात् एक वह जिसका मिथ्यात्व ज्ञात हो जाता है और दूसरा वह जिसका मिथ्यात्व कभी ज्ञात नहीं होता। जो अन्य है वह बाधित भासमान है और जो आत्मा है

वह अबाधित भासमान है। इनको मिथ्यात्वेन भासमान और सत्यत्वेन भासमान भी कह सकते हैं। परन्तु भास एक ही है, अखण्ड अद्वय तत्त्व ! **भानमात्रं परं ब्रह्म** ।

अन्य वस्तुका जो ज्ञान है वह कर्माङ्ग है। इसका मतलब यह है कि अन्यको जानकर उसे प्राप्त करनेकी इच्छा (या दूर रखनेकी इच्छा) होती है। यदि हमारा ज्ञेय हमारे शरीरसे बाहर है तो ज्ञान कर्माङ्ग होगा अर्थात् ज्ञान कर्ममें प्रेरित करेगा। और यदि ज्ञेय हमारे ही भीतर है तो वह ज्ञान भावनाङ्ग या उपासनाङ्ग हो जायेगा। अर्थात् अन्यके ज्ञान होनेके बाद कुछ कर्त्तव्य शेष रहता है, क्योंकि व अन्य अप्राप्त-रूप है। परन्तु जब नित्य प्राप्तका ज्ञान होगा (अर्थात् आत्मज्ञान) क्योंकि जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिमें, उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयमें अपना स्वरूप सच्चिदानन्द अद्वय है तो इस ज्ञानके बाद न कुछ कर्म करना शेष रहता है और न कुछ उपासना करनी शेष रहती है।

जो लोग मानते हैं कि वासनाके कारण परमात्मा खो गया है उनको उपासना करनी पड़ती है। जो मनकी चंचलताको व्यवधान मानते हैं उनको ध्यान करना पड़ता है। परन्तु असलमें, अज्ञानके कारण ही यह जीव, जगत्, ईश्वरके भेदकी भ्रान्ति है सो ज्ञानसे वह अज्ञान कटता है। यदि कहो कि द्रष्टा-दृश्यका वृत्ति-सारूप्य होनेसे अप्राप्ति है और इसलिए दृश्यसे सम्बन्ध तोड़कर द्रष्टाकी स्वरूपमें अवस्थिति होगी, तो द्रष्टा और दृश्यके भेदनाम-की कोई चीज ही नहीं है ! एक अखण्ड सत्ता ही द्रष्टा, दृश्य दोनों रूपमें प्रतीत हो रही है ! जो गोली चला रहा है, वही समाधि लगा रहा है। जो समाधिमें है, वही व्यवहारमें है। जो वैकुण्ठमें है वही यहाँ है ज्यों-का-त्यों ! ऐसा आत्मबोध किसी कर्मका अंग नहीं है अर्थात् न कुछ करके इसको पाया जा सकता है और

इसको पाकर न कुछ करना शेष रहता है! इसी प्रकार यह उपासना-विधिका भी अंग नहीं हो सकता।

वेदान्तने कहा : 'सब परमात्मा है और परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है।' इस वाक्यको कर्मी, उपासक, ध्यानी, वेदान्ती सभीने सुना, परन्तु सबकी प्रतिक्रिया अलग-अलग हुई।

कर्मीने सुना तो बोला : ठीक, जब सभी परमात्मा है तो सबकी सेवा करनी चाहिए।

उपासकने सुना तो बोला : बहुत अच्छा, 'सब परमात्मा हैं' ऐसी भावना करनी चाहिए। भावना करते-करते हमें ऐसा ही अनुभव होने लगेगा।

ध्यानीने सुना कुछ सोचकर बोला : वेद कहता है कि सब परमात्मा है और दीखता है अनेक। इसलिए अनेकताकी अप्रतीति करनेका अभ्यास (ध्यान) करना चाहिए।

वेदान्तीने कहा : इसमें करने या भावना करनेकी तो कोई बात ही नहीं कही गयी। इस वाक्यमें तो परमात्माके स्वरूपका वर्णन किया गया है। क्योंकि सर्वका अवभासक और सर्ववृत्तिका अधिष्ठान एक ही है, इसलिए इसका अर्थ है कि 'मैं ही सब हूँ। मुझसे भिन्न दूसरा कहीं कुछ नहीं है। मैं ब्रह्म हूँ।' ऐसा जानकर वह कृतकृत्य हो गया।

इस प्रकार वेदान्तविद्या या आत्मज्ञान किसी कर्म या उपासना-विधिका अंग नहीं है। वह न संस्कारजन्य है, न संस्कार-जनक है। प्रमाण अपने प्रमेयका साक्षात्कार कराते हैं। वेदान्त-वाक्योंका प्रमेय है—आत्माकी ब्रह्मता; उसका प्रमेय कोई विधि, निषेध नहीं है। ●

# ४. ब्रह्म शास्त्रप्रमाणक है

शास्त्रकी जो ब्रह्म-विषयक प्रामाणिकता है वह दूसरे प्रमाणोंके अधीन नहीं है। **न च अनुमानगम्यं शास्त्रप्रामाण्यं येनान्यत्र दृष्टं निदर्शनमपेक्ष्येत। तस्मात्सिद्धं ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वम्।**

प्रमाण-विभाग दूसरा है और निर्माण-विभाग दूसरा है। वस्तु जैसी है उसे वैसा ही दिखा देना यह प्रमाण-विभाग है और वस्तुको उत्पन्न करना या सजाना या विकृत करना इत्यादि निर्माण-विभाग है। धर्म करके स्वर्ग पाना, तदाकार वृत्ति करके इष्टदेवका दर्शन लाभ करना, प्राणायाम इत्यादि करके समाधि प्राप्त करना यह सब निर्माण-विभाग है। सांख्य-विचारमें भी पुरुषकी अनेकता रूप अज्ञान है और सांख्य-विवेकका परिणाम है—पुरुषका प्रकृतिसे पूर्ण पृथक्त्व ज्ञान। इसलिए यह भी निर्माण-विभाग ही है। ये सब साधन, साध्य स्थितियाँ हैं। परन्तु आत्मा ब्रह्म है ही, इसलिए अविद्यासे आत्माको अब्रह्म मानने-जाननेकी भ्रान्तिके निवारक जो वेदान्त-वाक्य हैं, वे प्रमाण-विभागके अन्तर्गत हैं।

जहाँ साधन करके साध्यको पाना है वहाँ स्पष्ट है कि वैराग्यकी पूर्णता नहीं है। विषयमें विशेषता उत्पन्न करना, तत्-पदार्थमें प्रविष्ट होकर आनन्द लेना, त्वं-पदार्थकी किसी विशेष अवस्थामें स्थित होना, अर्थात् जहाँ भी तुम विशेष आनन्द चाहते हो वहाँ वैराग्यकी पूर्णता नहीं है। निर्विशेष तत्त्वकी अनुभूति या ज्ञान प्राप्त करनेके लिए वैराग्यकी अपेक्षा होती है। यह बात वेदान्तोंमें पहले-पहल ही बतायी जाती है।

जहाँ वैराग्यकी पूर्णता नहीं है वहाँ आप विचार कीजिये। साध्य क्या है और त्याज्य क्या है, इसपर विचार कीजिये। दुःखकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्ति, यह साध्य है। दुःख और सुख दोनों सच्चे हैं और दुःख मिटाना चाहते हैं अथवा सुख प्राप्त

करना चाहते हैं, तो सुख, दुःख दोनों एक हैं या अलग-अलग हैं ? एकका अभाव दूसरा नहीं है। दुःखका मिटना ही सुख नहीं है और सुखका प्राप्त होना दुःखाभाव नहीं बनता। ये परस्पर विरोधी भाव हैं। अवश्य ही दुःख उपसुख है तथा सुख उपदुःख है; दुःख परिजिहास्य है और सुख प्राप्तव्य है।

साध्य सुखकी प्राप्तिके लिए जीवनमें धर्मानुष्ठान करना चाहिए तथा साध्य दुःखकी निवृत्तिके लिए अधर्मका त्याग करना चाहिए।

यदि सुख-दुःखका विवेक करो तो पता चलेगा कि ज्ञान ही सुख है और ज्ञान ही दुःख है। घटज्ञान और पटज्ञान अलग-अलग होते हुए भी ज्ञान अलग-अलग नहीं होता। ऐसे ही सुख-ज्ञान और दुःख-ज्ञान दोनों अलग-अलग होते हुए भी दोनोंका विवर्ती अधिष्ठान ज्ञान ही है।

असलमें ज्ञान अनेक नहीं होता और ज्ञानका ज्ञान भी नहीं होता।[1] इसलिए सुख-दुःख ज्ञानाभिन्न है तथापि वे ज्ञेय हैं और ज्ञानस्वरूप नहीं हैं। सुख-दुःखका लक्षण अलग है और ज्ञानका लक्षण अलग है।

क्या इच्छाका नाम सुख और द्वेषका नाम दुःख है ? नहीं। इच्छाका विषय सुख होता है, इच्छाका नाम सुख नहीं है। द्वेषका विषय दुःख होता है, द्वेषका नाम दुःख नहीं है। इच्छाएँ भी बहुत होती हैं और द्वेष भी बहुत-से हैं। परन्तु इच्छाओंका निरुपाधिक विषय सुख है और द्वेषोंका निरुपाधिक विषय दुःख

---

१. पूर्वमीमांसक और वेदान्ती ज्ञानका ज्ञान नहीं मानते। नैयायिक प्रत्यभिज्ञाके रूपमें ज्ञानका ज्ञान मानते हैं। यथार्थ ज्ञान और अयथार्थ ज्ञानके रूपमें भी ज्ञानका भेद सम्भव नहीं है, क्योंकि ज्ञानका विषय यथार्थ और अयथार्थ होता है, ज्ञान यथार्थ-अयथार्थ नहीं होता।

होता है। हमको सुख चाहिए, कहींसे मिले, कैसे भी मिले। इसी प्रकार हमको दुःख नहीं चाहिए, किसी भी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थितिसे नहीं मिलना चाहिए।

विषयजन्य सुख अल्प होता है और कभी होता है कभी नहीं होता। स्वर्ग-सुख बड़ा होता है परन्तु वह परोक्ष है तथा पुण्य-पूंजीके आश्रित है अतः वह भी अल्प ही मिलता है और कालबाधित है। इष्टसुख परतन्त्र सुख है। गुफाका सुख व्यवहारका विरोधी होनेसे एकांगी तथा अपूर्ण है। कबतक बैठोगे, बाबूजी, गुफामें? ये सारे सुख उत्पाद्य हैं अतः अल्प हैं, देश-कालसे बाधित हैं और इनके साधन निर्माण-विभागके अन्तर्गत हैं।

हमारी माँग ऐसे सुखकी है जो इन्द्रियोंके सामर्थ्यकी अपेक्षा न रखता हो, जो स्वर्गसुखके समान परोक्ष न हो और पुण्याश्रित न हो, जो व्यवहारसे अबाधित हो तथा केवल व्यवहाराभावगम्य न हो, जो सुषुप्ति-सुखकी भाँति अज्ञात न हो और जो बिना प्रयास स्फुरित रहता हो, जो किसी देश या काल या देवताके परतन्त्र न हो और जो स्वसत्तासे कभी पृथक् न किया जा सकता हो! संक्षेपमें हम ब्रह्मानन्द चाहते हैं, हम मुक्तानन्द चाहते हैं, हम अखण्डानन्द चाहते हैं, हम अनन्तानन्द चाहते हैं और वह केवल वेदान्त आपको प्रदान कर पाता है, उस सहजानन्दको उत्पन्न करके नहीं, प्रमाण द्वारा बोधित करके। इसलिए वेदान्तानन्द प्रमाण-विभागके अन्तर्गत है।

वेदान्तका कहना यह है कि दुःखके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित जो सुखस्वरूप आत्मदेव है, वही तुम हो। इसलिए दुःखकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्तिके लिए आत्माके स्वरूपका ज्ञान चाहिए। वह ज्ञान प्रमाणसे होता है, साधनसे नहीं।

**प्रश्न :** प्रमाण प्रमातामें रहता है और अन्य वस्तुकों दिखाता

हैं। प्रमाताके करणका नाम प्रमाण है, परन्तु दूसरेका ही ज्ञान कराता है। तब आत्मा जो प्रमाण और प्रमाता दोनोंके अन्तरतम है प्रमाणका विषय कैसे होगा? जो इन्द्रियोंसे, मनसे, इनके संयोगसे भी अवेद्य है और जो स्वयंप्रकाश अपना आत्मा ही है उसको जाननेके लिए कौन-सा प्रमाण चाहिए?

उत्तर: ठीक है, द्रष्टा करणगम्य (या प्रमाणगम्य) नहीं है क्योंकि वह करणका भी प्रकाशक है। द्रष्टाकी सिद्धि स्वतः होती है; वह स्वयं सिद्ध है। परन्तु द्रष्टाकी जो ब्रह्मरूपता है अर्थात् द्रष्टाका जो देश-काल-द्रव्यसे अपरिच्छिन्नपना है वह अज्ञात है जिससे कि सब दुःख होते हैं। यह अज्ञातता सब अज्ञानोंकी तरह सान्त है तथा स्वविषयक होनेसे रज्जुसर्पवत् भ्रम है। अतः शास्त्र-वाक्यों द्वारा जब भ्रमके विषय और आश्रयकी एकत्रताका ज्ञान होता है तब आत्माकी अब्रह्मताका आवरण निवृत्त हो जाता है तथा स्वयंप्रकाश आत्मा अपने सच्चिदानन्द अद्वय ब्रह्मस्वरूपमें सहज प्रतिष्ठित ज्ञात हो जाता है। इस दृष्टिसे ब्रह्म शास्त्र-प्रमाणक है।

यदि कहो कि शास्त्र आत्माकी ब्रह्मतामें 'अनुमान'का प्रयोग करता है तो ऐसा नहीं है। क्योंकि आत्माकी ब्रह्मताके सम्बन्धमें कोई प्रत्यक्ष लिङ्ग उपलब्ध नहीं होता। तब लिङ्गके अभावमें अनुमान प्रमाण कैसे हो सकता है?

आत्माकी ब्रह्मरूपताका यथार्थ अनुभव जिस वाक्यसे हो जाय उसीको शास्त्र कहते हैं; उसमें भाषाका या छन्दका या वक्ताका कोई मतलब नहीं है, उसके अर्थमें तात्पर्य है।

प्रश्न: केवल वाक्य-श्रवणसे कृतकृत्यता हो जाती है, इस तरहकी वाक्यकी प्रामाणिकतामें कोई उदाहरण बतावें?

उत्तर: प्रथम, उदाहरणकी आवश्यकता तो तब पड़ती जब श्रुति परतः प्रमाण होती अथवा अनुमान प्रमाणपर आधारित

होती। श्रुति अपने विषय ( आत्माकी ब्रह्मरूपता )में अन्य नेत्रादि प्रमाणोंकी तरह स्वतः प्रमाण है।

श्रुति स्वतः प्रमाण है और स्मृति परतः प्रमाण है। स्मृतिमें प्रमाकी करणता नहीं है। जो याद आती है वह किसी यथार्थ अनधिगत अनुभवको जन्म नहीं देती बल्कि जो पहिलेसे अनुभव किया हुआ है, उसीका अधिगमन कराती है। स्मृति अनुभवकी बेटी है, माँ नहीं है। यथार्थ अनुभवकी स्मृति यथार्थ होती है और अयथार्थ अनुभवकी स्मृति अयथार्थ होती है। स्मृति पहिलेसे कुछ अनुभव नहीं कराती है। स्मृति अज्ञात-ज्ञापक नहीं है जबकि श्रुति अज्ञात-ज्ञापक है। इसलिए स्मृतिको प्रमाण नहीं माना जाता।

इसपर नैयायिक लोग कहते हैं कि यदि स्मृतिको नहीं मानोगे तो अनुमान भी नहीं कर सकोगे। क्योंकि अनुमान प्रमाण लिंगकी स्मृति बिना नहीं हो सकता। इसके उत्तरमें कहते हैं कि स्मृति प्रमाजन्य तो है और अनुमानजनक भी है परन्तु वह प्रमाका कारण नहीं है। इसीलिए वह प्रमाण नहीं है। वहाँ प्रमाका कारण तो पहिलेका 'प्रत्यक्ष' ही है।

प्रत्यक्ष प्रमाणका खण्डन कोई नास्तिक-आस्तिक दर्शन या देशी-विदेशी दर्शन नहीं करता। परन्तु आस्तिक दर्शन प्रत्यक्षकी सीमा बताते हैं। प्रत्यक्ष भी प्रमाण नहीं होगा यदि कालान्तरमें उस ज्ञानका मिथ्यात्व निश्चित हो जाय। भ्रमजन्य पदार्थोंका प्रत्यक्ष होता ही है। इसीसे प्रत्यक्ष प्रमाण सदैव सत्यका पक्षपाती नहीं होता।

अनुमान प्रमाण प्रत्यक्षका अनुयायी है, अतः उसकी भी सीमाएँ हैं। अनुमान प्रमाणका खण्डन चार्वाकने किया और मण्डन बौद्धोंने किया। आगम प्रमाणका खण्डन बौद्धोंने किया और

मण्डन जैनोने किया। उपमान प्रमाणका खण्डन जैनोंने किया और मण्डन नैयायिकोंने किया।

ब्रह्मके सम्बन्धमें श्रुति मुख्य प्रमाण है। वहाँ तो यदि कोई रुकावट न हो तो श्रुतिके श्रवणमात्रसे हां ऐसा अनुभव श्रुति प्रदान करेगी जो कभी किसी अन्य प्रमाणस आपको नहीं हुआ। आत्माकी ब्रह्मताका अनुभव न प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय है, न अनुमान, उपमान आदि अन्य प्रमाणोंका। वह तो केवल श्रुति-वाक्योंसे ही होता है।

श्रुति आत्माका ज्ञान प्रत्यक्षके द्वारा समर्थित होकर नहीं कराती, अनुमानके द्वारा समर्थित होकर नहीं कराती और उप-मान आदि अन्य प्रमाणोंके द्वारा समर्थित होकर नहीं कराती। ब्रह्मके विषयमें श्रुतिका प्रामाण्य निरपेक्ष है। यदि ऐसा न हो तो श्रुतिप्रमाण अज्ञातज्ञापक न होकर अनुवाद मात्र हो जायेगी।

यदि आपके मनमें प्रमाण ( श्रुति प्रामाण्य ) और प्रमेय ( ब्रह्म )के बारेमें कोई संशय नहीं है और यदि कोई विपर्यय (दुराग्रह) नहीं है तो श्रवणमात्रसे ब्रह्मज्ञान हो जायेगा। विपर्ययका स्वरूप यह है कि 'तुम चाहे कुछ भी कहो, मैं तो अपनेको जीव ही मानूंगा।'

गुरुने कहा : बेटा, आजसे तेरा नाम अखण्डानन्द है।

अब चेला यदि कहे : 'नहीं जी, मैं तो शान्तनु पण्डित ही हूँ' तो यह विपर्यय है। नाम शरीरके जन्मसे पहिले नहीं था, जन्मके दिन नहीं था, जन्मके दस दिनतक नहीं था। एक दिन एक नाम कल्पित किया। ऐसे ही एक दिन यज्ञोपवीत धारण कराकर द्विजत्वके धर्म हमको दिये गये। अब किसी एक दिन यदि उनका विधिवत् अपवाद करा दिया जाय तो क्या आपत्ति होनी चाहिए?

ऐसे क्यों होना चाहिए, कैसे हो सकता है, नहीं हो सकता है—ये सब विपर्यय हैं।

जीवत्व भी द्विजत्वकी भाँति संस्कारसे अध्यारोपित है। इसलिए जीवत्वका भी अपवाद कर सकते हैं। यदि नहीं करते हैं तो विपर्यय-भावसे अत्यन्त ग्रस्त हैं, संशय-भावनासे अत्यन्त ग्रस्त हैं। जैसे वेदके पूर्व भागने अध्यारोप किया वैसे ही उत्तर भागने उसका अपवाद कर दिया। जैसे जिस पुरोहितने द्विज बनाया उसी पुरोहितने एक दिन संन्यासी बना दिया।

यह जो आपने अनादि अविद्याके कारण अपनेको जीव मान रखा है उसके निवारणके लिए जिस ढंगसे अध्यारोप किया है उसी ढंगसे अपवाद होगा। आपको भ्रमसे विपर्यय हुआ है और प्रमासे वह दूर होगा। प्रमाका करण अर्थात् प्रमाण वेदान्तशास्त्र है।

**ब्रह्म वेद अहि ब्रह्मवित् ताकी बानी वेद।**
**भाषा हो या संस्कृत करत भेद भ्रम छेद॥**

जीवत्व बिना आलम्बनके नहीं कटता। शास्त्र आलम्बन है। शास्त्र ब्रह्मको पकड़वाता है और जीवत्वको काटता है। जब जीवत्व कट जाता है तो ब्रह्मत्वके पकड़नेकी भी जरूरत नहीं रहती। जीवत्वके कटनेमें तात्पर्य है।

ब्रह्मके विषय शास्त्र निरपेक्ष प्रमाण हैं जैसे कि प्रत्येक प्रमाण अपने विषयमें होता ही है। अतः शास्त्रप्रणीत आत्माकी ब्रह्मता अनुमानगम्य नहीं है और 'नेति-नेतिके द्वारा परिशुद्ध आत्मा ब्रह्म है' इस ज्ञानके उदय होते ही सारे क्लेश जीवके नष्ट हो जाते हैं और उसे अनन्त अखण्ड आनन्दकी उपलब्धि हो जाती है जो जीवका परम पुरुषार्थ है।

( ४. १२. )

# पूर्वपक्ष : ब्रह्म उपासनाविधिका विषय होनेसे ही शास्त्रप्रमाणक है

**मूलभाष्य :**

अत्रापरे प्रत्यवतिष्ठन्ते—यद्यपि शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्म तथापि प्रतिपत्तिविधिविषयतयैव शास्त्रेण ब्रह्म समर्प्यते। यथा यूपाहवनीयादीन् अलौकिकान्यपि विधिशेषतयाशास्त्रेण समर्प्यन्ते, तद्वत्। कुत एतत्? प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजनत्वात् शास्त्रस्य। तथा हि शास्त्रतात्पर्यविद आहुः—दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम् ( शबर जै० सू० १.१.१ पद ) इति। 'चेदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनम्' ( १.१.२ शबर ) 'तस्य ज्ञानमुपदेशः ( जै० सू० १.१.५ )।

तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः ( जै० सू० १.१.२५ )। आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम् ( जै० सू० १.२.१ ) इति च। अतः पुरुषं क्वचिद् विषयविशेषे प्रवर्तयत् कुतश्चित् विषयविशेषान्निवर्तयच्चार्थवच्छास्त्रम्। तच्छेषतया चान्यदुपयुक्तम्। तत्सामान्यात् वेदान्तानामपि तथैवार्थवत्त्वं स्यात्। ( क्रमशः )

**भाष्यार्थ :** इस विषयमें दूसरे पूर्वपक्ष कहते हैं कि यद्यपि ब्रह्म शास्त्रप्रमाणक ही है तथापि उपासनाविधिके विषयरूपसे ही शास्त्र द्वारा ब्रह्मका बोध होता है। जैसे यूप ( यज्ञस्तम्भ ), आहवनीय ( हवन करने योग्य ) आदि अलौकिक पदार्थोंका भी शास्त्र द्वारा विधिके अंगरूपसे ही बोध होता है, उसी प्रकार ब्रह्मका भी उपासना विधिके विषयरूपसे ही शास्त्रके द्वारा बोध होता है। ऐसा क्यों? शास्त्र प्रवृत्ति-निवृत्ति प्रयोजनवाला है। ऐसा ही शास्त्रके तात्पर्यको जाननेवाले कहते हैं :

'कर्मका ज्ञान करना ही शास्त्रका दृष्ट फल है'; 'क्रियाका प्रवर्तक वचन चोदना है' और 'उसके ज्ञानका उपदेश है'; 'वेदमें सिद्ध-अर्थके वाचक पदोंका क्रियावाचक पदोंके साथ उच्चारण करना चाहिए'; 'वेद क्रियार्थक है अतः क्रियासे भिन्न सिद्ध-अर्थके प्रतिपादक वेदवाक्य बेकार हैं।'

इसलिए शास्त्र पुरुषको किसी एक विषयमें प्रवृत्त करता हुआ और किसी एक विषयसे निवृत्त करता हुआ सार्थक होता है और दूसरे वाक्य इसके अंगीभूत होकर उपयुक्त होते हैं। उनके साथ समानता होनेसे वेदान्त-वाक्य भी उसी प्रकार सार्थक होते हैं।

मनुष्य जब बोलता है तो जानबूझकर इच्छापूर्वक बोलता है और निष्प्रयोजन नहीं बोलता। बोलनेकी वृत्ति निष्प्रयोजन होती ही नहीं है। विशेषकर जब महापुरुष या भगवती श्रुति

बोलती है तो वह मनुष्यके हितके लिए ही बोलती है। दुःखकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्ति ही उसमें प्रयोजन रहता है।

जब श्रुति कहती है कि आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त है तो इसमें श्रुतिकी क्या इच्छा है, यह प्रश्न है?

कर्मकाण्डियोंने कहा कि श्रुतिकी इच्छा मनुष्यको ब्रह्मोचित कर्ममें लगानेकी है। उपासकोंने कहा कि आत्मामें ब्रह्मरूपताका आरोप ब्रह्मकी उपासना करानेमें है। ब्रह्म ऐसा है इसलिए ऐसा जानकर ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिए।

एक बारकी बात है। मैं कोई १८-१९ वर्षका था। मैं रातको खलिहानमें जाकर सोता था। दूसरे गाँवके कोई थे, वे रातको अपनी बकरी खोल देते थे। वह खलिहानमें आकर अनाज खा जाती थी। लोगोंने समझाया भी, नहीं माने। किसीने कहा: उनके पशुओंको गायब कर दें। मैंने 'हाँ' कह दिया। लोगोंने उनके पशु पकड़ लिये। पड़ोसमें एक बिन्द जातिका आदमी था। वह हमारे पास आया। बोला: 'यह जो काम हो रहा है यह आपके स्वरूपके अनुरूप नहीं है अर्थात् तुम ब्राह्मण हो, पण्डित हो, अच्छे वंशके हो; यह काम उसके अनुरूप नहीं है।' तुरन्त मुझे चोट लगी। एक दूसरा आदमी फौरन भेजा और पशु छुड़वा दिये। इसी प्रकार जैसे ब्राह्मणत्वका बोध यहाँ दया कर्ममें प्रेरक हो गया और क्रूर कर्मका निषेधक हो गया; वैसे ही 'तुम ब्रह्म हो' यह बतानेका तात्पर्य उसे ब्रह्मोचित कर्मोंमें प्रेरणा देना है और अब्रह्मोचित कर्मोंसे रोकना है। माने वेदान्त-वाक्योंका तात्पर्य विधिनिषेधमें है, यह कर्मकाण्डियोंका पक्ष है।

हमारे एक मित्र थे। हम लिखते: आत्मा शुद्ध, बुद्ध, मुक्त है। वे पीछेसे उसमें टिप्पणी जोड़ देते कि 'हमको ऐसा ध्यान करना

चाहिए।' अर्थात् उनका पक्ष था कि आत्मामें ब्रह्मताका आरोप ब्रह्मकी उपासना या ब्रह्मका ध्यान करनेके लिए है।

'आत्मा देहसे परे जीव है' इसका तात्पर्य है कि देह आते-जाते हैं, देहके लिए हमें पाप नहीं करना चाहिए। 'आत्मा अजर, अमर, अविनाशी है' इसका तात्पर्य है कि यदि ऐसा ध्यान करोगे तो तुम्हें देहातीत स्थितिकी प्राप्ति हो जायेगी। अथवा यह लाभ तो होगा ही कि अनेक वासनाएँ जो जीवके हृदयमें बैठी हैं वे क्षीण हो जायेंगी और आत्मवासना प्रबल हो जायेगी।

ध्यान दो तरहका होता है—तदाकारतारूप जिसमें वृत्तियोंका निर्माण है; और तटस्थता-कूटस्थतारूप जिसमें वृत्तियोंको छोड़कर उनके साक्षीस्वरूपमें बैठना होता है। हम ईश्वरके ध्यानकी चर्चा यहाँ नहीं करते हैं। परन्तु दोनों ही ध्यान करनेके लिए होते हैं, करनेसे होते हैं। ध्यान करनेसे तुमको अपने द्रष्टापनेका बोध नहीं हुआ, कर्ता हो गये!

तदाकारतारूप ध्यानमें एक ही वृत्तिको बार-बार दोहराना होता है, चाहे वह सगुण, साकारके नामरूप लीलाधामका चिन्तन-रूप हो अथवा 'शुद्धोऽहं, बुद्धोऽहं, शिवोऽहं, सोऽहम्'रूप स्वरूपाकार वृत्ति हो। इससे वासना कटती नहीं है, वह एकनिष्ठ हो जाती है। तटस्थता, कूटस्थतारूप ध्यानसे अन्तमें समाधि दशामें चित्तकी निरुद्धावस्था हो जायेगी और उस निरुद्धावस्थाके तुम सहज द्रष्टा हो, यह विवेक ख्याति तुम्हें प्राप्त होगी।

ब्रह्मसूत्रके सर्वापेक्षाधिकरणमें—

**सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्** (३.४.२६)

सूत्रमें यह बताया गया है कि यद्यपि ब्रह्मविद्या अपने फल-सम्पादनमें कर्मादिकी अपेक्षा नहीं रखती तथापि अपनी उत्पत्तिमें कर्मोंकी अपेक्षा रखती है। वेदान्तका कहना यह है कि तुम

दुश्चरित्र मत बनो ( इसके लिए धर्म करो, अधर्म मत करो ), दुर्व्यसन मत हो ( इसके लिए उपासना करो ) और चञ्चल मनवाले मत बनो ( इसके लिए योग करो )। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि आत्माके ब्रह्मबोधवाले सभी वाक्योंका तात्पर्य कर्ममें या उपासनामें या योगमें है।

पूर्वपक्षका कहना यह है कि यद्यपि यह ठीक है कि ब्रह्म शास्त्र-प्रमाणक है तथापि शास्त्रोक्त ब्रह्मसम्बन्धी वचन ब्रह्मकी उपासना-विधिके विषय हैं।

श्रीरामानुजाचार्यजी महाराजके सम्प्रदायमें कहते हैं कि भगवान् सत्-चित्-आनन्दरूप हैं; वे सर्वकारण-कारण-अकारण हैं, समस्त वस्तु विलक्षण हैं, सम्पूर्ण कल्याणगुणगुणैकतान हैं। ऐसा वर्णन क्यों किया ? तो बोले : कि ऐसे भगवान्‌की प्रतिपत्ति, शरणागति, उपासना, ध्यान करना चाहिए, इसलिए। केवल ज्ञान-मात्रसे कल्याण हो जायेगा, यह बात गलत है। यह पूर्वपक्षकी बात है।

वस्तु यदि परोक्ष हो, अज्ञात हो, अन्य हो, तब तो उसके वर्णनसे उसके प्रति कर्म या उपासनाकी आवश्यकता है, परन्तु वस्तु यदि अपना आपा ही हो तो वहाँ श्रवणमात्रसे ज्ञान होगा और ज्ञान होनेके बाद किसी कर्म, शरणागति या प्रपत्तिकी आवश्यकता नहीं रहेगी।

ध्यान, उपासनामें है कर्तापन और वृत्तिका अभ्यास। जब वृत्ति गाढ़ी हो जाती है तब उस वृत्तिमें प्रतिबिम्बित जो उपास्य है उसका दर्शन होता है। वह जन्य होता है। माना कि साक्षात्कार हुआ उपास्यका, परन्तु जिस वस्तुका साक्षात्कार हुआ वह अबाधित अखण्ड सत्य नहीं है; वह ध्यानजन्य सत्य है, वह साधनजन्य सत्य है। जबतक वह प्रत्यक् चैतन्यके साथ अभेदरूप अनुभव नहीं होता तबतक सत्यका साक्षात्कार नहीं होगा।

वेदान्तमें श्रवणसे ही साक्षात्कार मानते हैं।

आप नित्य सुनते हैं कि 'तुम नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ब्रह्म हो और इसी समय हो; तुम्हारे अतिरिक्त कार्य-कारण, जीव-जगत्-ईश्वर, देश-काल-वस्तु कुछ नहीं है। तुम व्यवहार करते हुए भी वही हो।' परन्तु तुम्हारी स्वीकृति नहीं होती। क्यों? कहीं-न-कहीं कोई जबर्दस्त अभिनिवेश, जबर्दस्त विपर्यय है! तुम्हारा कोई संशय विपर्यय हो तो बताओ हम उसे काट देंगे। अधिक उपदेशका कोई मतलब ही नहीं है। सत्य यही है, परमार्थ यही है कि आत्मा शरीरमें बँधी हुई नहीं है, यह सब शरीरोंमें एक-सा है और जहाँ शरीर नहीं है, शरीरका बीज नहीं है, वहाँ भी ऐसा ही है। ऐसे आत्माका साक्षात्कार क्यों नहीं हो रहा है? इस पर विचार करो। जहाँ बाधा मालूम पड़े उसे पूछो, समझो, दूर करो।

लोग पूछते हैं: महाराज, हमारी समझमें क्यों नहीं आता? तुम्हारी समझ रुपया इकट्ठा करनेमें लगी है, दुनियाकी चीजोंको इकट्ठा करनेमें लगी है। वह वहाँ कैसे लगेगी जहाँ कुछ इकट्ठा करना नहीं है? तुम्हारी प्रज्ञा मन्द वस्तुओंको पकड़कर मन्द हो गयी है, छोटी-छोटी चीजोंमें लगी हुई है, जब उनको छोड़ती हैं तो सुषुप्त हो जाती है।

'हमारी समझमें क्यों नहीं आता महाराज?' दूसरेने प्रश्न किया।

अरे तुम कुतर्क करके बालकी खाल निकालते हो, तर्कसे कहीं सत्यका ज्ञान होता है? तर्क-कुतर्क अनुभूत वस्तुके आधार पर होते हैं। जिसका अभी तुमने अनुभव ही नहीं किया है उसमें तुम्हारा कुतर्क क्या काम देगा?

तुम्हारा कुतर्क तुम्हें रोक रहा है, तुम्हारी प्रज्ञाकी मन्दता

तुम्हें रोक रही है, तुम्हारा विपर्यय, दुराग्रह तुम्हें रोक रहा है, तुम्हारी विषयासक्ति तुम्हें रोक रही है।

किसी जिज्ञासुने महात्मासे कहा : भगवन्, दर्शन करा दो भगवान्के।

महात्माने सिरपर हाथ रख दिया। अरे यह क्या अनुभव होने लगा ? सारी सृष्टि परमाणुओंके रूपमें उड़ रही है, कहीं कुछ नहीं है, जो देह-गेह हैं वे सब अलग-अलग मिट्टी पानी हो गये, बस परमाणु ही परमाणु हैं ! जिज्ञासुने पुकारा : ठहरो महाराज ! हमारी सृष्टिका तो नाश हो रहा है।

एक बार मैं भजन कर रहा था। ऐसा हुआ कि शरीरकी सारी चेतना खिचकर ऊपर जाने लगी। तो लगा कि 'मैं गया।' जब शरीर जानेको हुआ तो मुँहसे चीख निकल गयी कि अरे मैं तो मर रहा हूँ ! दोबारा फिर ऐसा हुआ तो डर तो नहीं लगा कि मर जाऊँगा क्योंकि पहले भी नहीं मरा था, परन्तु ऐसा लगा कि शरीर मुर्दा है और इसमें जो प्राण हैं वह एक प्रकारका प्रकाश है, एक प्रकारकी ज्योति है।

मरनेके समय इसीलिए दुःख होता है कि रुपया, मकान, सम्बन्धी सब छूट जायेंगे। संसारकी वस्तुओंको बनाये रखना चाहते हैं ! यह विषयासक्ति ही देहमें-से मैंको नहीं हटने देती। यह प्रतिबन्ध है जिसके कारण 'आत्मा ब्रह्म है' कहनेपर भी समझमें नहीं आता।

जिन लोगोंको आत्मा, अनात्माका विवेक नहीं हुआ और वे लोग अपनेको द्रष्टा मानकर बैठेंगे, उन लोगोंकी स्थिति क्या होगी ? जो लोग उपासना करते हैं—प्रत्यक्ष अन्यमें परोक्ष अन्यकी भावना करते हैं—उन लोगोंको मूर्तिमें भगवान्का दर्शन तभी

तक रहेगा जबतक वह भावना करते रहेंगे। भावना छोड़ देंगे तो पत्थर-का-पत्थर ही रह जायेगा। ऐसे ही लोग देखेंगे शरीर अपनेको और भावना करेंगे द्रष्टाकी !

वेदान्त कहता है : सारे संशय, विपर्यय दूर कर दो और दृश्य-मात्रसे विविक्त आत्माको ब्रह्म जान लो। फिर ( प्रत्यक्षके विरुद्ध ) भावना नहीं करनी पड़ेगी।

इन्द्रियोंके साथ जोड़कर जो अपनेको द्रष्टा मानते हैं वह द्रष्टापन नहीं है। वह तो बोद्धापन है, प्रमातापन है। प्रमाताके साथ मिले हुए द्रष्टा हों।

यदि विवेक नहीं करोगे तो 'मैं ब्रह्म हूँ' कहना ऐसा ही होगा जैसे कोई कहे कि 'मैं इन्द्र हूँ' भले वह कभी स्वर्ग न गया हो, इन्द्रको देखा तक न हो।

तुम जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंके और इनके समस्त भेदोंके साक्षी हो। परिच्छिन्नता मात्र—माने यह जो एक दूसरेसे अलग मालूम पड़ता है उसके तुम साक्षी हो।

साक्षी हो सो तो ठीक, परन्तु तुम अद्वितीय हो या सद्वितीय ? शरीर रहते हुए ही साक्षी हो या शरीरके न रहनेपर भी साक्षी हो ? शरीर पैदा होनेपर तुम साक्षी बने या पहले भी साक्षी थे ?

जब आप अपनेको पहले-पीछेका साथी जान लोगे तो अपनेको नित्य जान जाओगे जब आप अपनेको परिच्छेद-सामान्यका साक्षी जान लोगे तो आप अपनेको व्यापक जान जायेंगे। साक्षी माने ज्ञानाकार वृत्ति नहीं, ज्ञान। माला फेरनेसे या एक घण्टा कमरा बन्द कर लेनेसे साक्षी थोड़े ही होता है ! जब तुम अपनेको साक्षी

जान जाओगे तो असंग हो जाओगे। ऐसा नहीं होता कि जितनी देर साक्षी-भाव रहे उतनी देर असंग, और फिर ससंग! तुम द्वैतमात्रके असंग साक्षी हो।

अच्छा, यह बताओ कि द्वैत और द्वैत-साक्षी ये दो पदार्थ हो गये न? नहीं, दो नहीं हुए। साक्षी तो अद्वितीय साक्षी होता है! वह द्वैतसे अलग रहकर द्वैतका साक्षी नहीं होता बल्कि सम्पूर्ण द्वैतका उपादान होकर द्वैतका साक्षी है। और वह उपादानता भी साक्षीकी विवर्ती उपादानता है (रज्जु-सर्पवत्) परिणामी उपादानता (दूध-दहीवत्) नहीं है। असलमें साक्षी ब्रह्म है। और परमार्थमें साक्षी, साक्ष्यका भेद नहीं है।

यदि आप अपनेको अद्वितीय साक्षी जान लेते हैं तो न तो आपको समाधि लगानेकी जरूरत रहेगी; न वैकुण्ठका ध्यान करनेकी जरूरत रहेगी, न द्रष्टापनेके अभ्यासकी जरूरत रहेगी। व्यवहारमें प्रवृत्ति, निवृत्तिसे डरनेकी भी जरूरत नहीं रहेगी। सब अपना स्वरूप है। असलमें रुद्र, विष्णु, हिरण्यगर्भ आपके ही रूप हैं। यह एक ब्रह्माण्ड और इनके ब्रह्मा, विष्णु, महेश ऐसे कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्डोंके ब्रह्मादिक देवता, ये सब जिस ईश्वरके संकल्पमें हैं और जड़ दृष्टिसे जिस प्रकृतिमें हैं, वे ये दोनों आप साक्षीको दृष्टिमें हैं। आप महात्यागी, महाभोगी होते हुए भी साक्षी ही हैं। द्रष्टाकी दृष्टि भी बाधित है। द्रष्टाका द्रष्टापना केवल दृश्यको मिटानेके लिए आरोपित है, वस्तुतः द्रष्टा-दृश्यका भेद नहीं है।

शंकर कहते हैं: तुम ब्रह्म हो। संशय-विपर्यय मिटाना हो तो कुछ करो—मनन-निदिध्यासन। वर्ना श्रवण-उपासना विधिका अंग नहीं है। अपनेको ब्रह्म जानो और स्वच्छन्द जीवन व्यतीत करो। ●

## ( ४.१३ )

# पूर्वपक्ष ( वितत )

मूलभाष्य :

सति च विधिपरत्वे यथा स्वर्गादिकामस्याग्निहोत्रादिसाधनं विधीयत एवममृतत्वकामस्य ब्रह्मज्ञानं विधीयत इति युक्तम्। नन्विह जिज्ञास्यवैलक्षण्यमुक्तं कर्मकाण्डे भव्यो धर्मो जिज्ञास्यः; इह तु भूतं नित्यनिवृत्तं ब्रह्म जिज्ञास्यमिति; तत्र धर्मज्ञानफलादनुष्ठानापेक्षाद्विलक्षणं ब्रह्मज्ञानफलं भवितुमर्हति। नार्हत्येवं भवितुम्; कार्यविधिप्रयुक्तस्यैव ब्रह्मणः प्रतिपाद्यमानत्वात्।

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः ( बृहदा० २.४.५ ) इति। य आत्माऽपहतपाप्मा, सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः ( छान्दोग्य० ८.७.१ ) आत्मेत्येवोपासीत ( बृहदा० १.४.७ ) आत्मानमेवलोकमुपासीत ( बृहदा० १.४.१५ ) ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति ( मुण्डक० ३.२.९ ) इत्यादिविधानेषु सत्सु—'कोऽसावात्मा, किं तद्ब्रह्म ?' इत्याकाङ्क्षायां तत्स्वरूपसमर्पणेन सर्वे वेदा उपयुक्ताः—'नित्यः सर्वज्ञः सर्वगतो नित्यतृप्तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभावो विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्येवमादयः।

( क्रमशः )

**भाष्यार्थ :** यदि ( वेदान्त-वाक्य ) विधिपरक हों तो जैसे स्वर्गादिकी कामनावाले पुरुषके लिए अग्निहोत्र आदि साधनोंका विधान है, वैसे ही अमृतत्वकी कामनावालेके लिए ब्रह्मज्ञानका विधान है, ऐसा मानना युक्त है। यदि कहो कि यहाँ जिज्ञास्यका वैलक्षण्य कहा गया है : कर्मकाण्डमें साध्यधर्म जिज्ञास्य है और यहाँ ( ज्ञानकाण्डमें तो ) नित्य-निवृत्त सिद्ध ब्रह्म जिज्ञास्य है इस-लिए अनुष्ठानसापेक्ष धर्मज्ञानके फलकी अपेक्षा ब्रह्मज्ञानका फल विलक्षण होना चाहिए; तो ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि ब्रह्मका प्रतिपादन कार्यविधिसे प्रयुक्त ही है।

'अरी, मैत्रेयी आत्माको देखना चाहिए', 'यह जो आत्मा पाप-रहित है वह खोज करने योग्य है, उसकी जिज्ञासा करनी चाहिए', 'आत्मा है, ऐसी उपासना करे', 'ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है' इत्यादि विधान हैं। 'उनमें वह आत्मा कौन है', 'वह ब्रह्म क्या है' ऐसी आकांक्षा होनेपर उस ब्रह्मके स्वरूपका बोध करानेके लिए सब वेदान्त-वाक्य उपयुक्त होते हैं, जैसे 'ब्रह्म नित्य, सर्वज्ञ, सर्वगत, नित्यतृप्त, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव, विज्ञान और आनन्द है' इत्यादि।

अगर आप लौकिक सुख चाहते हैं तो सत्कर्म कीजिये। उसमें द्रव्य-हिंसा, वचन-हिंसा, भावहिंसा मत कीजिये। जहाँतक हो सके सबकी भलाईका ख्याल रखिये।

यदि आप लोक-परलोक, यह जन्म और दूसरा जन्म, दोनोंको सुखी रखना चाहते हैं तो आप शास्त्रोक्त धर्मका अनुष्ठान कीजिये। धर्मकी नजर बड़ी है और आपकी छोटी है।

यदि आप किन्हीं इष्टदेवको चाहते हैं तो आप उनका ध्यान कीजिये। आपकी वासनाएँ केन्द्रित हो जायेंगी। उपासनाका फल देवतामें तन्मयता है। तन्मयताका अन्तिम परिणाम तादात्म्यमें

होना चाहिए कि 'मैं वही देवता हूँ।' उपासनाकी सफलता इसीमें है। उपासनासे इष्ट-सुखकी प्राप्ति होती है।

हमारे कश्मीरी शैवलोग कहते हैं कि सारी सृष्टिमें जो एक महेश्वर है वह हमारी आत्माका ही स्वरूप है। इसलिए 'अहं महेश्वरः' इस परमैश्वर्यमें डूब जाना चाहिए। 'मैं ही समुद्रके रूपमें लहरा रहा हूँ। मैं ही पहाड़के रूपमें खड़ा हूँ। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, रुद्र, हिरण्यगर्भ, विष्णु, जीव, जगत्, ईश्वर सब मैं ही हूँ। मेरे सिवाय कुछ नहीं है।'

हमारे सांख्यवादी और योगी लोगोंका कहना है कि "मैं 'आत्मा' इस सम्पूर्ण कार्य-कारणात्मक जड़ प्रकृतिका तटस्थ द्रष्टा हूँ।"

वेदान्तका कहना है कि 'तुम जो द्रष्टा हो, वह प्रति शरीर भिन्न नहीं है, सम्पूर्ण सृष्टिका एक ही द्रष्टा है। यह असंग भी है और सृष्टिका विवर्ती अभिन्न-निमित्तोपादान कारण भी है। वह अद्वितीय है।' इसलिए चाहे तुम्हारा मन अपनेको ईश्वर मान रहा हो चाहे जीव, चाहे वह इष्टदेवका चिन्तन कर रहा हो या अनिष्टका चिन्तन कर रहा हो; चाहे वह समाधिस्थ हो या विक्षिप्त, चाहे संसारमें धर्म हो या अधर्म, तुम ज्यों-के-त्यों अखण्ड ब्रह्म हो। अपनी स्वतन्त्रताको, स्वच्छन्दताको और जीवन्मुक्तिके विलक्षण सुखको बतानेवाला है वेदान्त।

परन्तु 'द्रष्टा' तो फिलहाल देहमें ही मैं किये बैठा है। इसलिए उसे वहाँसे ऊपर उठानेवाली विद्या चाहिए और वह विद्या है वेदान्त-श्रवण। पहिले विचारपूर्वक यह श्रवण करो कि तुम देहमें ब्राह्मण, हिन्दू, संन्यासी, मनुष्य नहीं हो, तुम जीव-जैसी कोई चीज नहीं हो। तभी तुम ठीक समझोगे। वर्ना तो देहमें बैठे ही रहोगे। थोड़ी देर ध्यान करोगे 'मैं ब्रह्म हूँ' और फिर वहीं देहमें ही आ जाओगे।

आपका आनन्द कहाँ है ? विषय-भोगमें, तो कुछ कर्म करना पड़ेगा। व्यक्तिमें, तो उसे खुश करना पड़ेगा। यदि हृदयस्थ इष्ट-देवमें आपका आनन्द है तो बाहर कर्मकी आवश्यकता नहीं होगी किन्तु मानसिक सेवा करनी पड़ेगी। आनन्द जहाँ होगा वहाँ राग होगा और जहाँ नहीं होगा वहाँसे वैराग्य हो जायेगा। अतः उपासनासे, संसारसे वैराग्य हो जायेगा। यदि आपका आनन्द अपनेमें है तो जो भी अनात्मा है उसीसे वैराग्य हो जायेगा। वैराग्यकी पराकाष्ठा यह है कि आनन्दके लिए दूसरे भोग्यकी जरूरत न हो और अपनेमें भोक्तापनेका अभिमान न हो ! वही रसोदयकी अवस्था है। तब आनन्दके लिए न कुछ करना-धरना पड़ेगा और न उसके नाशका भय होगा। स्वतः सिद्धि आत्मा आनन्दस्वरूप है, इसलिए आनन्दके लिए उसे किसी भोक्ता, भोग्य, कर्म, उपासना, ध्यान, समाधिकी आवश्यकता नहीं है। यह कश्मीरी शैवोंका जो परमैश्वर्यरूप आनन्द है वह भी वृत्तितक ही है इसलिए वह भी विनाशी ही है।

जब चिन्मात्रकी प्रधानतासे विचार करते हैं तो जो दृश्य है वह जड़ हो जाता है और जो द्रष्टा है वह चेतन हो जाता है। इन्द्रियवान् होना चेतनका लक्षण नहीं है। जो अपनेको और दूसरेको जाने सो चेतन और जो अपनेको तथा दूसरेको न जाने सो जड़। जो चिन्मात्र है वह भेदको ( परिच्छिन्नताको ) जानता है, परन्तु जाननेवाला भेदरूप नहीं है। वह अखण्ड है। भेद उसमें मिथ्या ही प्रतीत हो रहा है : चिन्मात्रके विवेकसे असंगता उत्पन्न होगी।

यदि सन्मात्रका विचार करोगे तो अद्वितीय सत्‌में कहीं मृत्यु है ही नहीं।

आधार-आधेयकी कल्पनासे विनिर्मुक्त सन्मात्र है।

ज्ञाता-ज्ञेयकी कल्पनासे विनिर्मुक्त चिन्मात्र है।

भोक्ता-भोग्यकी कल्पनासे विनिर्मुक्त आनन्दमात्र है।

जो सन्मात्र है वही चिन्मात्र और आनन्दमात्र है। इसलिए इसमें समाधि और विक्षेप, जड़ और चेतन, भोक्ता और भोग्यका कोई भेद नहीं है।

समाधिमें वृत्तिनिरोधके लिए अभ्यासकी आवश्यकता है।

परमैश्वर्यमें आत्माकार वृत्तिके लिए वृत्तिकी आवश्यकता है।

इष्टतन्मयतामें इष्टाकार वृत्तिके लिए भक्तिकी आवश्यकता है।

विषयसुखमें संयमाकार वृत्तिके लिए धर्मकी आवश्यकता है।

परन्तु ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानमें इनमें-से किसी साधनकी आवश्यकता नहीं है। बस, जानो और सुख लूटो।

कश्मीरी शैव स्वातन्त्र्यवादी हैं। वैष्णव लोग पारतन्त्र्यवादी हैं। देवतावादी उपासनावादी हैं और धर्मवादी विधिवादी हैं। परन्तु वेदान्तमें न कोई विधि है, न निषेध। यह तो वस्तुको जैसी है वैसी समझना ( जानना )मात्र है।

**पूर्वपक्षी :** शास्त्र उसे कहते हैं जो शासन करे। वेदान्त कौन-सा शासन करता है?

**सिद्धान्ती :** वेदान्तमें शंसन ( वस्तु-बोध ) ही शास्त्रका लक्षण है : 'शासनात् शास्त्रम्' तथा 'शंसनात् शास्त्रम्' दोनों शास्त्रके लक्षण हैं। वेदान्त कर्मशास्त्रकी तरह पुण्यमें लगाता नहीं और पापसे रोकता नहीं। वह तो आत्माके यथार्थ स्वरूपका बोधन कराकर प्रयोजन ( दुःख-निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति )की पूर्ति करता है।

'दशमस्त्वमसि'=वह दसवाँ पुरुष यहीं है, वह तू है। इस प्रकारका बोध है यह। जैसे कोई राजकुमार भीलोंमें मिलकर

अपनेको भील मानने लगे और कोई जानकार उसे बोध करावे कि 'तू भील नहीं है, तू राजकुमार है' इस प्रकारका बोध है यह।

एक जैन साधु थे। उन्होंने यह प्रतिज्ञा की थी कि वह रोज दस मनुष्योंका उद्धार करके ( जैन बनाकर ) तब भिक्षा ग्रहण करेंगे। प्रारब्धवश वे एक स्त्रीसे प्रेम करने लगे और भ्रष्ट हो गये। अन्तमें उसीसे विवाह कर लिया उन्होंने। परन्तु उनके उद्धारका नियम चलता रहा। एक दिन उन्हें नौ आदमी ही उद्धारके लिए मिल पाये। दसवाँ नहीं मिला। पत्नीने कहा : 'दशमस्त्वमसि।' उनको यह ख्याल ही नहीं था कि वे भ्रष्ट हो गये, जैन नहीं रहे। सुनते ही उन्हें बोध हुआ। पत्नीको हाथ जोड़े और चले गये। पुनः जैन-भिक्षु हो गये।

तो, धर्ममें 'दशमस्त्वमसि' वाक्य कर्ममें नियोक्ता हो गया। परन्तु ब्रह्मज्ञानमें 'दशमस्त्वमसि' कर्ममें नियुक्त नहीं करेगा। अपनेको जो बिना विचारे, सुन-सुनाकर, कुछ-का-कुछ मान लिया है, वह भ्रम 'तत्त्वमसि' या 'दशमस्त्वमसि' सुननेसे निवृत्त हो जायेगा और जो हम हैं वास्तवमें, अर्थात् ज्ञानस्वरूप ब्रह्म, उसका जो यथार्थ स्वरूप है, उसका बोध उदय हो जायेगा।

लौकिक एवं शास्त्रीय—दोनों अध्यारोपोंकी निवृत्ति वेदान्त-वाक्योंका प्रयोजन है। परन्तु यदि कोई अध्यारोपको ही सच समझकर बैठ जाय और अपवादकी ओर ध्यान न दे, तो वहाँ तो अध्यारोपका प्रयोजन भी सिद्ध नहीं हुआ न!

माँने बेटेको रातमें बाहर जानेसे रोकनेके लिए कहा : 'बेटा, बाहर मत जाना, अन्धेरेमें भूत रहता है।' उस दिन तो बेटा बाहर नहीं गया। परन्तु अगले दिन माँसे बोला : 'माँ, आज वह अन्धेरावाला भूत मिल गया था, कहता था रातको रोज मेरे पास आया करो।' लो, भूतके अध्यारोपका प्रयोजन ही नष्ट हो गया!

तो शास्त्र जो है वह अनेक कारणोंसे अनेक अध्यारोप प्रदान करता है। भोगसे तपस्यामें, अविद्यासे विद्यामें, स्थूल बलसे सूक्ष्म बलमें प्रवेश दिलानेके लिए शास्त्रने आपमें ब्राह्मणत्वका अध्यारोप किया, संन्यासीपनेका अध्यारोप किया। परन्तु आप निकले कि ब्राह्मणत्वमें और संन्यासीपनेमें ही अभिमान करके बैठ गये और अपनेको अन्यकी अपेक्षा श्रेष्ठ समझने लगे। शास्त्रने आपको राग-द्वेषसे मुक्त करनेके लिए इष्टोपासनाका अध्यारोप किया परन्तु आप कहने लगे : 'आज हम इष्टदेवसे मिलकर आ रहे हैं' और मजा यह है कि अन्तःकरणमें राग-द्वेषका दङ्गल बदस्तूर चालू है। आपको देहकी परिच्छिन्नतासे मुक्त करनेके लिए शास्त्रने आपमें जीवत्वका अध्यारोप किया, परन्तु आप सचमुच अपनेको जीव अनुभव करने लगे। आपने तो समस्त अध्यारोपोंका प्रयोजन ही समाप्त कर दिया। सत्यको छोड़ दिया और अध्यारोपको अनुभव बताने लगे। वेदान्तकी प्रक्रिया बिना अपवादके समझमें नहीं आती।

आप ऐसे ब्राह्मण बने कि जिन्दगी भर आचार और होममें ही लगे रहे।

आप ऐसे संन्यासी बने कि मठाधिपति बनकर ही रह गये।

आप ऐसे जीव बने कि पुनर्जन्मके चक्करमें ही फँसकर रह गये। अपनी अनन्तता, अद्वयता भूल ही गयी।

आप ऐसे द्रष्टा बने कि द्रष्टाकी गुफामें बैठकर दूसरोंसे एकदम अलग हो गये। अरे! आप शास्त्रकी एक दृष्टि ही क्यों अपनाते हैं, सम्पूर्ण दृष्टि क्यों नहीं अपनाते? केवल अध्यारोप नहीं, अध्यारोप और अपवाद दोनोंकी एक सम्मिलित दृष्टि अपनाकर ही तत्त्व-साक्षात्कार सम्भव है, अन्यथा नहीं। वेदान्तका प्रयोजन तभी पूर्ण होगा।

अन्यमें अध्यारोपकी विद्या और स्वयंमें अध्यारोपकी विद्या दोनोंको जानो और जानकर दोनोंका अपवाद कर दो। अन्यमें ईश्वरपर्यन्त आरोपको छोड़ दो और स्वयंमें परिच्छिन्नतामात्रकी त्रिपुटीके आरोपको छोड़ दो। सब आरोपोंके अपवादसे उपलक्षित जो ज्ञान है, वही तत्त्व है। यह बोध ही वेदान्तका प्रयोजन है।

दुनियामें जब कोई बड़ी-से-बड़ी अनुभूति सुनाने लगता है तो महात्मा लोग हँसते हैं मन ही मन, कि यह ऐसी अनुभूति सुना रहा है जो पहले नहीं थी और बादमें टूट जायेगी। एक कल्पनात्मक अनुभूतिकी कोई कीमत नहीं है। जो कल्पनाका अधिकरण है वह कल्पनासे पूर्व भी है, उत्तर भी है, कल्पना-कालमें भी है। जो कल्पनाका साक्षी है वह कल्पनाके पूर्व और उत्तरका भी साक्षी है। समाधि, विक्षेप, ईश्वर, जीव, इष्ट, अनिष्ट, सुख, दुःख, कर्म, अकर्म सबका जो साक्षी और अधिष्ठान है वह अनुभवस्वरूप अखण्ड तत्त्व है।

कर्मात्मक, भावात्मक, स्थित्यात्मक, विधि-निषेधात्मक जितना शास्त्र है वह सब कर्ताके अधीन है। अर्थात् कर्ता उस वचनके अनुसार करे, न करे अथवा विपरीत करे। परन्तु वेदान्तका अनुशासन शंसनमें है, शासनमें नहीं है। ऐसे तत्त्वका शंसन जिसको जानकर ज्ञातव्य, त्यक्तव्य, कर्त्तव्य सब बोझोंकी इतिश्री हो जाती है, अमृतत्वकी प्राप्ति हो जाती है।

यहाँ पूर्वपक्षीका कहना है कि ठीक है वेदके दो भाग हो गये : कर्मभाग और ज्ञानकाण्ड। परन्तु दोनोंमें एक समानता है। दोनोंमें कामना है। कर्मकाण्डी स्वर्गादिकी कामना करता है और ज्ञानी अमरत्वकी कामना करता है। इसलिए जैसे स्वर्गकामीके लिए अग्निहोत्रादि साधनोंका विधान किया गया है उसी प्रकार यह भी मानना चाहिए कि अमृतत्वके इच्छुकको ब्रह्मज्ञान ( रूपी

उपासना )का विधान किया गया है। इसलिए धर्म-जिज्ञासा और ब्रह्म-जिज्ञासा समान है। धर्म जिज्ञासामें कर्म करना पड़ता है और ब्रह्म-जिज्ञासामें ब्रह्मकी उपासना या ब्रह्मका ध्यान करना पड़ता है।

सिद्धान्ती : ऐसा नहीं है। धर्मकी जिज्ञास्यतामें और ब्रह्मकी जिज्ञास्यतामें अन्तर है। धर्मका जिज्ञास्य साध्य है। धर्म अभी नहीं है, आगे बनेगा; धर्मका फल भी अभी नहीं है आगे होगा। यदि धर्म या उसका फल अभी होता तो धर्म करनेकी जरूरत ही क्या थी? असलमें पाप भर गया है जीवनमें जिसके कारण वही करते हैं जो नहीं चाहिए, वहीं जाते हैं जहाँ नहीं जाना चाहिए। अधर्मको रोकनेकी शक्ति हममें आनी चाहिए।

मनमें जो आता है उसे तो आप रोक नहीं सकते परन्तु मनमें आयी हुई बातको बुद्धिका समर्थन न मिले एवं आप उसको कर्म-पर्यन्त न ले जायँ, यह हो सकता है। शरीर कर्ताके अधीन है। वासना जब बुद्धिके द्वारा समर्थन प्राप्त करती है तब उसमें शरीरको संचालन करनेकी शक्ति आती है।

वासनाके साथ बुद्धि और अहंको मिला दो, शरीरका बाँध टूट जायेगा। वासनामें-से बुद्धि और अहंको निकाल दो तो वासना सपनेकी तरह आयेगी और चली जायेगी, पाप-पुण्यकी उत्पत्ति नहीं होगी।

तो धर्मका जिज्ञास्य 'भव्य' है अर्थात् उत्पाद्य है। परन्तु ब्रह्मज्ञानका जिज्ञास्य भव्य नहीं है वह नित्यनिवृत्त ब्रह्म है।

**इह तु भूतं नित्यनिवृत्तं ब्रह्मजिज्ञास्यमिति।**

यहाँ ब्रह्म साध्य नहीं है सिद्ध है। ब्रह्म है, अभी है, बस भ्रमके कारण जो उसकी प्रतीति नहीं हो रही, उस भ्रमकी

निवृत्तिकी अपेक्षा है। यह कण-कण, क्षण-क्षण, मन-मन, तृण-तृण, जो कुछ है उसका अधिष्ठान ब्रह्म है और उसका प्रकाशक भी ब्रह्म है। इसलिए ब्रह्म 'भव्य' नहीं 'भूत' है, माने जो पहिलेसे ही है उस ब्रह्मकी जिज्ञासा ब्रह्मज्ञानमें होती है।

दूसरा अन्तर यह भी है कि धर्मका ज्ञान प्राप्त करके फलोत्पादनके लिए कर्म करना शेष रह जाता है। दूसरे शब्दोमें धर्मजिज्ञासा अनुष्ठान-सापेक्ष है। परन्तु ब्रह्मज्ञानमें अज्ञानकी निवृत्तिके साथ ही सिद्ध भ्रम अपने सम्पूर्ण वैभवमें प्रकट हो जाता है। आत्माके रूपमें वह पहलेसे ही है। इसलिए ब्रह्मजिज्ञासा अनुष्ठान-सापेक्ष नहीं है। ब्रह्म यदि दूसरा हो तो उसका ध्यान करना पड़ता या सेवा करके प्राप्त करना होता। ब्रह्म तो अपना आपा ही है। सर्व देश, सर्व काल, सर्व वस्तु उसीमें है, उसीसे हैं। जहाँ अज्ञान मिटा और नित्य प्राप्त ब्रह्मकी प्राप्ति हुई।

इसलिए ब्रह्मजिज्ञासा धर्मजिज्ञासासे विलक्षण है।

**पूर्वपक्षी :—नार्हत्येवं भवितुम्। कार्यविधिप्रयुक्तस्यैव ब्रह्मणः प्रतिपद्यमानत्वात्।** = ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि ब्रह्मका प्रतिपादन कार्य-विधिसे प्रयुक्त ही है। क्योंकि वेदमें भी अनेक श्रुतियाँ हैं जो कहती हैं :

**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः**

( बृहदा० २.४.५ )

'अरी, मैत्रेयी आत्माका साक्षात्कार करना चाहिए, उसको सुनना चाहिए, उसका मनन एवं निदिध्यासन करना चाहिए।' इसमें 'तव्य' प्रत्यय जो है वह लोट् लकारके समान, लिङ् लकारके समान कर्तव्यका, ध्यातव्यका, उपासितव्यका सूचक है।

इस श्रुतिमें भी अन्वेषण करने और जिज्ञासा करनेकी विधि है।

**य आत्माऽपहतपाप्मा सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्य** (छां०.८.७.१)
समान कर्त्तव्यका, ध्यातव्यका, उपासितव्यका सूचक है।

**आत्मेत्येवोपासीत** ( बृहदा० ४.७ )

**आत्मानमेव लोकमुपासीत** (बृहदा० १.४.१५)

इन श्रुतियोंमें तो स्पष्ट ही उपासना करनेकी आज्ञा है।

इसलिए, क्योंकि ब्रह्मको जाननेकी कर्त्तव्यताका और ब्रह्मको जानकर 'सब ब्रह्म है' या 'सब आत्मा है' इस प्रकारकी उपासनाका आदेश है, यह जिज्ञासा होती है कि :

**कोऽसावात्मा ? किं तद् ब्रह्म ?**

'वह आत्मा कौन है ? वह ब्रह्म कौन है ?

इस जिज्ञासाको शान्त करनेके लिए वेदान्त ब्रह्मका इस प्रकार वर्णन करता है कि : **नित्यः सर्वज्ञः सर्वगतो नित्यतृप्तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभावो विज्ञानमानन्दं ब्रह्म** 'ब्रह्म नित्य है, सर्वज्ञ है, सर्व-व्यापक है, नित्यतृप्त है, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव है, विज्ञान-स्वरूप है और आनन्द है।'

अतः ब्रह्म-विषयक जो शास्त्रज्ञान है वह कर्मविधि और उपासना-विधिका अंग है। यह पूर्वपक्ष है।

असलमें सारे पूर्वपक्ष सिद्धान्त-पक्षको ठीक-ठीक यथावत् न समझनेके कारण होते हैं। वेदान्तके सम्बन्धमें अर्धजानकारोंने नजानकारीमें और विरोधियोंने जान-बूझकर ऐसे अण्ट-सण्ट सिद्धान्तोंका प्रसार-प्रचार कर दिया है कि सत्य छिप गया, शास्त्रका उद्देश्य लुप्त हो गया और अन्य सब सिद्धान्तोंकी खिचड़ी बन गयी। लोग बात ब्रह्मकी करते हैं और प्रमाता तथा साक्षीका भेद उन्हें पता नहीं रहता।

प्रमाता उसको कहते हैं जो प्रमाणके द्वारा प्रमेयको देखे और साक्षी या द्रष्टा वह होता है जो प्रमाणके बिना भी देखता है। सुषुप्ति किसी प्रमाणका प्रमेय नहीं है। सुषुप्तिका जो द्रष्टा है वही साक्षी है। वही जाग्रत् और स्वप्नमें इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिकी उपाधिसे प्रमाता बनता है। प्रमाणोपाधिक चैतन्यका नाम प्रमाता है और प्रमाणाभावोपाधिक चैतन्यका नाम द्रष्टा या साक्षी है।

**न हि द्रष्टुर्दृष्टेः विपरिलोपो विद्यते। अविनाशित्वात्**

( बृहदा० ४.३.२३ )

द्रष्टाकी दृष्टिका कभी विपरिलोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है।

आप मन तथा ज्ञानेन्द्रियोंकी उपाधिको स्वीकार करके कहते हैं कि 'मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ, मैं जानता हूँ' इत्यादि। आप कर्मेन्द्रियोंकी उपाधि स्वीकार करके कहते हैं कि 'मैं कर्ता हूँ'। यह सब चश्मा लगानेपर ही मालूम पड़ता है। जरा जाग्रत्में ही इन कारणोंको उचन्त खातेमें डालकर देखो कि तुम इन इन्द्रियोंके बिना भी हो। न कर्मकी इन्द्रियाँ तुम्हारे पास हैं न भोगकी, न संकल्पकी इन्द्रिय तुम्हारे पास है न विषयज्ञानकी। तब तुम्हारा स्वरूप कैसा है? ज्ञानमात्र!

यह ज्ञानमात्र स्वरूप सुषुप्तिमें भी रहता है। प्रमाणोपाधिक चैतन्य प्रमाता है; और प्रमाणकाल तथा प्रमाणाभाव कालमें जो एक सरीखा ज्ञान है वह द्रष्टा है।

ठीक है, मैं द्रष्टा ही हूँ—समाधि, सुषुप्ति, व्यवहार सबमें। इनकी उपाधिको छोड़ दिया। तो जैसे मैं जाग्रत् और सुषुप्तिका द्रष्टा हूँ वैसे ही मैं सृष्टि और प्रलयका भी द्रष्टा हूँ। जैसे एक शरीरमें जाग्रत्-सुषुप्ति होती है वैसे ही समष्टिमें सृष्टि और प्रलय होती है। मैं एक द्रष्टा हूँ!

परन्तु आप अभी भी द्रष्टा नहीं हैं! भले आप अपनेको सृष्टि-प्रलयका द्रष्टा मानते हों, परन्तु आप दरअसल ऐसा मानते नहीं हैं, कहते भर ही हैं। क्योंकि द्रव्यसे बने हुए शरीरमें अहंभाव रहते द्रष्टापना कहाँ? यह तो उपासना-बुद्धि है कि थोड़ी देरके लिए भावनारूप द्रष्टापना अपनेमें आरोपित कर लेते हैं परन्तु अबाधित बुद्धि रहती है देहमें ही।

आप अभी असली द्रष्टा क्यों नहीं हुए? इसलिए कि समूची सृष्टि प्रलयका द्रष्टा अपनेको मानते हुए भी अभी अज्ञान शेष है। यह तो 'एकजीववाद'की स्थिति हुई कि एक ही जीव सारी सृष्टिको अपनी दृष्टि समझ रहा है। मुख्य बात द्रष्टाकी यह है कि द्रष्टाका जो दृश्य है वह सच्चा है या मिथ्या है? वह आपसे अतिरिक्त है या अभिन्न है? जबतक 'द्वितीय' जिंदा है तबतक अज्ञान शेष है। यह वेदान्तकी दृष्टि है!

आप अणु होकर देश-काल-द्रव्यके द्रष्टा नहीं हैं। आपके द्रष्टापनेमें केवल कालगत नित्यता ही नहीं है, देशगत पूर्णता भी है। नित्यता और पूर्णता आपकी दृष्टिमें है और आप उसके द्रष्टा हैं।

यह सारी बात इसलिए कही जाती है क्योंकि आप द्रव्यरूप देहमें 'मैं' करके समझ रहे हो। यह समझ आपकी बिलकुल भौतिक है। आपका जो अहमर्थ है वह क्या है? जैसे मुँहमें शब्द है 'घड़ी' और उस घड़ी शब्दका जो अर्थ है स्थूल घड़ी वह बाहर हाथमें है; इसी प्रकार मैं शब्दका वास्तविक अर्थ क्या है? बेहोशी, सुषुप्ति, समाधिमें वह अर्थ रहता है क्या? यदि नहीं रहता तो वह आपका अहमर्थ नहीं है। बेहोशी, सुषुप्ति, समाधिमें जो अहम्‌का रूप उपलब्ध होता है वही आपका अहमर्थ है।

आपका यह जो भौतिक अहम् है देहमें जो माता-पिताके रज-वीर्यसे उत्पन्न होता है, भोजनसे पोषित होता है और भोजनके

अभावमें जो शान्त हो जाता है क्या वही द्रष्टा है ? यह प्राकृतिक अहंकार, शारीरिक चेतना; क्या इसीको द्रष्टा कहते हो ? अथवा क्या यह जो आपका संस्कारित 'मैं है जो 'मैं' ब्राह्मण हूँ', 'मैं संन्यासी हूँ' इत्यादि अभिमानोंमें अभिमानी बनकर व्यवहार करता है—वह द्रष्टा है ? क्या यह जो आपका अध्यारोपित मैं है जो यह अनुभव करता है कि 'मैं पापी हूँ, मैं पुण्यात्मा हूँ' अथवा कि 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं शान्त हूँ, मैं विक्षिप्त हूँ'—वह द्रष्टा है ? आखिर आप द्रष्टा कहते किसको हैं ? यदि ठीक-ठीक नहीं समझोगे और बाजारमें सुनकर आओगे कि 'मैं द्रष्टा हूँ' तो यही होगा कि थोड़ी देर तक अपने मैंको आप शरीरमें रख करके अपनी बुद्धिवृत्तिसे द्रष्टका ध्यान करोगे !

हमारे एक मित्र थे। उनके यहाँ हजारों आदमी सत्संगमें जुड़ते थे। एक दिन निराकार पार्टीका ध्यान होता और एक-दिन साकार पार्टीवालोंसे पूछते कि आज क्या ध्यान किया तो वे बताते थे कि आज द्रष्टा-साक्षीका ध्यान किया।

जो ध्येय होगा, क्या वही द्रष्टा होगा ? अभी गुरुसे सीखो कि क्या होता है साक्षी ? फिर तुम देखोगे कि साक्षीको जानते ही तुम्हारे सारे पाप भस्म हो जायेंगे, दुःख निवृत्त हो जायेगा, स्वर्ग—बैकुण्ठमें आना-जाना निवृत्त हो जायेगा, कोई अमानव पुरुष तुम्हें गोदीमें उठाकर अलोकाकाशमें ले जाकर सिद्धशिलापर नहीं बैठायेगा ! तुम अभी यहीं सर्व अवस्थाओंमें मुक्त हो। तुम्हें, इसका साक्षात् अनुभव हो जायेगा।

द्रष्टाको सद्वितीय समझना, माने द्रष्टा भी है और उसका दृश्य सच्चा है—ऐसा समझना, यही अज्ञान है। यह भ्रान्ति जब-तक बनी हुई है तबतक द्रष्टाका ब्रह्मपना ज्ञात नहीं हुआ, यही समझना चाहिए। वेदान्त यही समझाता है कि तुम देश-काल-

वस्तुके द्रष्टा ही नहीं हो, इनके अधिष्ठान भी हो ! 'साक्षी ब्रह्म है' इस वेदान्त-वाक्यका यही तात्पर्य है।

इससे क्या होगा कि ब्रह्मसे दृश्य भिन्न नहीं है, ब्रह्ममें ही दृश्यकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय कल्पित है और अपना जो देहेन्द्रियोंका द्रष्टा है वह उपाधिके छोड़ देनेपर ब्रह्म ही है। इसलिए द्रष्टाको ब्रह्म जानते ही ब्रह्म कल्पित या परोक्ष नहीं रहा, अज्ञात नहीं रहा, दृश्य नहीं रहा, अचेतन नहीं रहा, परिच्छिन्न नहीं रहा और द्रष्टा परिच्छिन्न नहीं रहा, परतन्त्र नहीं रहा, सद्वितीय नहीं रहा। इसलिए 'द्रष्टा ब्रह्म है'का अर्थ है कि द्रष्टा अद्वितीय है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं है। व्यवहार, उदासीनता, निवृत्ति, संयोग, वियोग कुछ भी इस द्रष्टासे भिन्न नहीं है। ये द्रष्टाकी दृष्टि हैं या द्रष्टाके दृश्य हैं, यह विकल्प मत करो ! दृश्यकी द्रष्टामें कोई सत्ता ही नहीं है।

इस ब्रह्मात्मैक्यके प्रतिपादक वेदान्तवचनोंमें कर्म या उपासनाकी विधि बैठती ही नहीं है ! परन्तु महाराज, लोगोंका आग्रह है कि ब्रह्मज्ञान उपासना-विधिका अंग है !

**य आत्माऽपहतपाप्मा**। इस आत्मामें पाप-पुण्यका लेश नहीं है, सुख-दुःखका लेश नहीं है। **न कर्मणा लिप्यते पापकेन** ( बृहदा० ४.४.२३ )। आत्माके साथ पाप-पुण्यका सम्बन्ध नहीं लगता। साक्षीको पाप-पुण्य नहीं लगता। छज्जेपर बैठे हुएको सड़कपर हो रहे किसी पाप-कर्म या पुण्य-कर्मका लेप नहीं होता, अनुमोदनसे हो जाता है। साक्षी कर्ता नहीं होता। कर्म करके यदि 'मैं पापी हूँ या मैं पुण्यात्मा हूँ' इत्याकारक अभिमान उदय नहीं होता तो समझना चाहिए कि व्यक्तिके कर्तापनका बोध हो चुका है।

साक्षी होना माने : १. कर्ता नहीं होना ( पापी-पुण्यात्मापनेका अभिमान नहीं होना ); २. भोक्ता नहीं होना ( मैं सुखी हूँ, मैं

दु:खी हूँ—इत्याकारक अभिमान नहीं होना ); ३. संसारी नहीं होना ( अर्थात् कर्मफल-भोगके लिए लोक-लोकान्तर, नरक-स्वर्ग, पुनर्जन्म आदिका लेश नहीं होना ); ४. परिच्छिन्न नहीं होना ( यह देह मैं, यह देह मेरा, यह वस्तु मेरी, यह वस्तु तुम्हारी—यह आस्था नहीं होना )।

जब तुम साक्षी ब्रह्म हो तो तुम्हारे अन्दर कोई दूसरी वस्तु भासनेपर भी सिद्ध नहीं होती। इसलिए ब्रह्मज्ञान तुम्हें कुछ करवानेके लिए, कुछ भुगवानेके लिए, कहीं तुम्हें उज्ज्वल अणु बनाने या बैठानेके लिए या समाधि—शान्ति लगवानेके लिए नहीं है। यह किलेका ज्ञान नहीं है, यह मैदानी ज्ञान है।

यदि आत्मेत्येवोपासीत ( बृहदा० १.४.७ ) आदि श्रुतियोंका आधार लेकर किसी प्रकारकी उपासना करनेका आग्रह मानो तो सोचना यह पड़ेगा कि उक्त उपासनामें जो एक अज्ञान उपास्यकी उपासना करते हो, उपासकका 'मैं' कहाँ रखा हुआ है ? साधकोंकी जो वृत्ति नहीं टिकनेकी शिकायत है उसका कारण ही यह है कि वे अपने मैंका विचार ही नहीं करते कि वह कहाँ रखा है। बैठते हैं जन्मने-मरनेवाले शरीरमें और सोचते हैं कि मैं अजन्मा अविनाशी हूँ।' जानते हैं कुछ और सोचते हैं कुछ; जैसे शालग्राम दीखता है पत्थर परन्तु मानते हैं उसे भगवान्। इसीलिए उपासना सफल नहीं होती।

विवेक करके यह जानना आवश्यक है कि 'मैं कौन हूँ ?' विवेकके बिना कोई ध्यान-काम नहीं देता। क्योंकि जब तुम अपने मैंको जानते ही नहीं हो तो जहाँ जाओगे वहींसे लौट आओगे वहीं जहाँ तुम्हारा मैं बैठा है। इसलिए अपने मैंको इस देहके दलदलसे निकालना जरूरी है। ●

( ४.१४ )

# पूर्वपक्ष ( वितत )

मूलभाष्यः—

तदुपासनाच्च शास्त्रदृष्टोऽदृष्टो मोक्षः फलं भविष्यतीति। कर्त्तव्यविध्यननुप्रवेशे वस्तुमात्रकथने हानोपादानासंभवात् 'सप्तद्वीपा वसुमती', 'राजासौ गच्छति' इत्यादि वाक्यवद्वेदान्तवाक्यानामानर्थक्यमेव स्यात्। ननु वस्तुमात्रकथनेऽपि 'रज्जुरियं नायं सर्पः' इत्यादौ भ्रान्तिजनितभीतिनिवर्तनेनार्थवत्त्वं दृष्टं, तथेहाप्यसंसार्यात्मवस्तुकथनेन संसारित्वभ्रान्तिनिवर्तनेनार्थवत्त्वं स्यात्। स्यादेतदेवम्, यदि रज्जुस्वरूपश्रवण इव सर्पभ्रान्तिः, संसारित्वभ्रान्तिर्ब्रह्मस्वरूपश्रवणमात्रेण निवर्तेत, न तु निवर्तते; श्रुतब्रह्मणोऽपि यथापूर्वं सुखदुःखादिसंसारिधर्मदर्शनात्, 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' ( बृहदा० २.४.५ ) इति च श्रवणोत्तरकालयोर्मनननिदिध्यासनयोर्विधिदर्शनात्। तस्मात् प्रतिपत्तिविधिविषयतयैव शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्माभ्युपगन्तव्यमिति। ( क्रमशः )

भाष्यार्थः—उस ब्रह्मकी उपासनासे शास्त्रसे जाने जानावाला मोक्षरूप फल होगा। यदि वेदान्तवाक्य कर्त्तव्यविधिमें अनुप्रविष्ठ न होकर केवल वस्तुका स्वरूप कथन करनेवाले हों तो हानोपादान असम्भव होनेसे 'सात द्वीपवाली पृथ्वी है' या 'यह राजा जाता है' इत्यादि वाक्योंकी तरह वेदान्तवाक्य भी निष्प्रयोजन हो जायेंगे। परन्तु 'यह रज्जु है सर्प नहीं' इत्यादि वस्तुमात्रके कथनमें भी भ्रमजन्य भयकी निवृत्तिरूप प्रयोजन देखा गया है। उसी प्रकार यहाँ भी असंसारी आत्मवस्तुके कथनसे संसारित्वभ्रान्तिकी निवृत्तिरूप सार्थकता होगी। ऐसा तभी हो सकता है जब कि रज्जुरूप वस्तुके श्रवणसे जैसे सर्पभ्रान्ति निवृत्त हो जाती है वैसे ही ब्रह्मस्वरूपके श्रवणमात्रसे श्रोताकी संसारित्व-भ्रान्ति निवृत्त हो जाय। परन्तु वह निवृत्त होती नहीं क्योंकि ब्रह्मका श्रवण करनेवाले साधकमें पूर्वके समान सुख-दुःख आदि संसारी धर्म ज्यों-के-त्यों देखनेमें आते हैं और श्रवणोपरान्त ब्रह्मके श्रवण-मनन-निदिध्यासनकी विधि भी देखनेमें आती है। इसलिए यह स्वीकार करना चाहिए कि प्रतिपत्ति-विधिका विषय होनेसे ही ब्रह्म शास्त्रप्रमाणक है।

उपासक लोगोंका कहना है कि वेदान्तवाक्य उपासना-विधिके अन्तर्गत ही हैं। शास्त्रमें जो सुना गया है कि मोक्ष नामकी वस्तु होती है वह उस उपासना-विधिके शेषभूत वेदान्त वाक्योंका फल होगा।

पहले हम आपको उपासनाका सिद्धान्त सुना दें।

एक सज्जन थे। गणेशजीकी उपासना करते थे। छह महीने बीत गये, छह वर्ष बीते, बारह वर्ष बीत गये, उनकी कोई मनोकामना पूरी नहीं हुई। बोले : अच्छा तुम प्रसन्न नहीं हुए तो अब तुम्हारी पूजा नहीं करेंगे। उठाया गणेशजीकी प्रतिमाको और

रख दिया आलेमें। बादमें वे शंकरजीकी पूजा करने लगे। एक दिन ज्यों ही उन्होंने शंकरजीके सामने अगर जलाया तो ख्याल आया कहीं पासमें आलेमें रखे गणेशजी इसकी सुगन्ध न ले लें। उस सज्जनने उठायी रूई और गणेश-प्रतिमाकी नाकमें ठूँसने लगे। परन्तु यह क्या ? गणेश-प्रतिमा हँसने लगी। पूछा क्यों हँसे ? गणेशजीने कहा : आज तुमने हमको चेतन समझा। इसलिए हम हँस गये। अबतक तुम हमको जड़ प्रतिमा समझते थे इसलिए अबतक प्रसन्न नहीं हुए।

उपासना-तत्त्व यही है कि उपास्यके बारेमें तुम्हारी समझ क्या है ? अन्य ईश्वरकी उपासना है तो उसके बारेमें यह समझ आवश्यक है कि सम्पूर्ण जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण ईश्वर है। ऐसा नहीं कि पत्थरमें ईश्वर है। वह तो आर्यसमाजी कह देगा—

तुम्हीं व्यापक हो फूलोंमें तुम्हीं व्यापक हो पत्थरमें।
भला भगवान्को भगवान् पर कैसे चढ़ाऊँ मैं ?

व्यापक ईश्वरकी पूजाके लिए मूर्तिपूजा नहीं होती। यह सनातन-धर्मका सिद्धान्त है। यह कि एक प्रकृति है, एक ईश्वर है, ईश्वर प्रकृतिका संचालक है, यह मूर्तिपूजाका सिद्धान्त नहीं है। असलमें दार्शनिक मतभेद है। यह क्या कि ईश्वर कुम्हार भी है और माटी भी है इस जगत्-रूपी घड़ेका। सम्पूर्ण प्रपञ्चके रूपमें वही प्रकट है। दुनियामें जितने पत्थर हैं और जितनी माटी है, सब परमेश्वर हैं। एक जगह जो हम पूजा करते हैं वहाँ खास तरहसे ईश्वर है इस दृष्टिसे नहीं; बल्कि अपनी भावनामें ईश्वरको भरनेके लिए, ईश्वरको जाग्रत् करनेके लिए मूर्तिपूजा है। पत्थर तो ईश्वर है ही। एक मूर्तिके निमित्तसे अपने हृदयमें ईश्वरको भरनेके लिए उपासना की जाती है।

अच्छा; कहो कि ईश्वर तो हृदयमें रहेगा फिर, वह बाहर नहीं दिखायी देता होगा! तो यह बात बिलकुल साफ-साफ आपको बताते हैं कि जो चीज भावनामें रहती है उसका बाहर भी साक्षात्कार होता है। श्रीरामका, श्रीकृष्णका, शिवका, भूतका, भैरवका—जिसका भी तुम प्रेमसे ध्यान करोगे उसका दर्शन बाहर भी हो सकता है।

जब उपासना करनेसे ईश्वरके किसी रूपका दर्शन हो गया तो अब वेदान्तकी क्या आवश्यकता रही? तो वेदान्त यह कहेगा कि भावित वस्तुका साक्षात्कार होना तो सिद्धान्तसे प्रतिपन्न है ही; परन्तु वह बाधित सत्य है या अबाधित्त सत्य है, इस बातका पता कहाँ चला? वेदान्तका कहना यह है कि क्योंकि वह दर्शन तुमको भावना करनेसे हुआ है वह त्रिकालाबाधित सत्य नहीं है, वह भावनाजनित सत्य है।

भावनासे दर्शन ही नहीं होता, यह वेदान्तकी मान्यता नहीं है। वेदान्त भावनाके सामर्थ्यको स्वीकार करता है। वेदान्त देहाध्यास रहते ईश्वरकी उपासनाको भी स्वीकार करता है, क्योंकि जब आप देहगत किसी भावनाके साथ अपनेको मिला देते हो तो देहकी आवश्यकता आपकी आवश्यकता बन जाती है। परिच्छिन्न और अपूर्णको अपने अंशी अपरिच्छिन्न और पूर्णकी आवश्यकता रहती ही है। छोटेको बड़ेकी आवश्यकता रहती ही है। इसलिए जैसे शरीरको भोजन, जल, वायु, अग्निकी आवश्यकता रहती है ऐसे ही जीवको ( क्षुद्रकर्ता-भोक्ता संसारी परिच्छिन्नको ) ईश्वरकी (महान् कर्ता, अपरिच्छिन्न आनन्दस्वरूपकी) आवश्यकता होती है। यही उपासना है। उपासना आपकी व्यावहारिक आवश्यकता है।

केवल इतना ही नहीं, पाप-पुण्यकी मान्यता ( अर्थात् धर्मकी

आवश्यकता ) भी आपकी व्यावहारिक आवश्यकता है। जो पाप-पुण्यका निषेध करे और मनुष्य हो उसे समझना कि वह जबानी जमा-खर्च करनेवाला है। आप खुद पाप-पुण्यको मत मानिये परन्तु आप यह अवश्य चाहेंगे कि सारी दुनिया आपके प्रति धर्मात्मा बनी रहे। इसके लिए न केवल पाप-पुण्यकी व्यावहारिक स्वीकृति ही आवश्यक है बल्कि धर्मका पुरस्कार और अधर्मका दण्ड देनेवाले नियन्ता ईश्वरकी स्वीकृति भी आवश्यक है। ब्रह्मसूत्रमें—

**फलमतः उपपत्तेः** ( ३.२.३८ )

'कर्मका फल ईश्वरसे ही सबको प्राप्त होता है' कहकर ईश्वरकी स्थापना की गयी है।

जैसे जाग्रत्में जो हम ज्ञान-संचय करते हैं सुषुप्तिमें उसका बीज कहाँ रहता है? वैसे ही सृष्टिमें प्रलय जब होता है तो सृष्टिका सम्पूर्ण ज्ञान-बीज कहाँ रहता है? उसीको परमेश्वर बोलते हैं। उसीमें-से ज्ञानके सारे बीज निकलकर आते हैं। उसीको सर्वज्ञ बोलते हैं। सारी शक्तियाँ उसीमें-से निकलकर आती हैं उसीको सर्वशक्ति बोलते हैं।

आपके मनमें प्रेमकी वृत्ति है या नहीं? कोई सूखा काठ तो तुम हो नहीं जो तुम्हारे मनमें प्रेमकी वृत्ति न हो। जब तुम्हारी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंमें खिंचती हैं—आँख सुन्दर रूप देखना चाहती है, कान मीठे शब्द सुनना चाहते है, त्वचा कोमल स्पर्श चाहती है इत्यादि, तो तुम्हारा मन नहीं खिंचता, यह सोचना दूसरोंकी बुद्धिमें धूल झोंकना है। मन अपनी प्रियताकी ओर खिंचता है, तारीफकी ओर खिंचता है, सौंदर्य माधुर्यकी ओर खिंचता है। आपके मनमें ललित वृत्ति है। आपमें अभावका अनुभव है या नहीं? है; तभी तो पुरुषको स्त्री चाहिए और स्त्रीको पुरुष। जब अन्य चाहिए तो जिससे सुख मिलेगा उससे राग

होगा और जिससे दुःख होगा उससे द्वेष होगा। तब क्या जिन्दगी भर इसीमें लगे रहोगे कि उससे प्रेम करो, उससे राग करो, उससे द्वेष करो। परमेश्वरमें सब कुछ है। आप जब उसका ध्यान करोगे तो आपका जो अभाव है वह पूरा हो जायेगा और तब बाहर आसक्ति नहीं रहेगी। जब भीतर ईश्वरसे आसक्ति हो जायेगी तो बाहरसे वैराग्य हो जायेगा और आपकी बुद्धि परमात्माके सम्बन्धमें विचार करने लगेगी।

जिनके हृदयमें बाहरकी वस्तुओंके प्रति राग-द्वेष भरे हुए हैं वे बेचारे परमात्माके बारेमें कुछ विचार नहीं कर सकते। वे तो न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्म, अच्छाई-बुराईके बारेमें भी ठीक नहीं समझ सकते। बाहर राशि तो आकाशमें होती हैं परन्तु ये तीन राशि—देहमें मोह, प्यारेसे राग और शत्रुसे द्वेष मनके भीतर होती हैं। सारे दोष इन्हीं तीनोंमें हैं। यह नैयायिकोंने विचार करके निर्णय दिया है। ( द्र० न्यायसूत्र ४.१.३-८ ) यदि ये दोष हैं तो तत्त्वज्ञान नहीं होगा, निर्विशेष वस्तुका ज्ञान नहीं होगा।

इन दोषोंकी निवृत्तिका उपाय है ईश्वरसे प्रेम!

धर्मके लिए, प्रियताके लिए, वैराग्यके लिए सबके लिए आवश्यकता है ईश्वरोपासनाकी। शान्त भी बैठना है तो भी परमेश्वररूप आकाशसे एक कर दो शान्त हो जाओ। इस दृष्टिसे भी परमेश्वरकी उपासना आवश्यक है।

तो, उपासना, भावना, मूर्ति, दर्शन सब सिद्ध होता है। परन्तु नाम-रूपके आरोपसे विनिर्मुक्त जो अबाधित सत्य है वह क्या है, यह सिद्ध नहीं हुआ। वेदान्त बताता है कि वह अबाधित सत्य अपना आत्मा है। यदि तुम अपने मैंको कुछ 'क, ख ग' मानकर ईश्वरका ध्यान करोगे तो उससे अलग रहोगे और ईश्वर तुम्हारे ध्यानका विषय रहेगा, भले तुम्हें उसका दर्शन हो जाय। इसी

प्रकार यदि तुम अपनेको 'क, ख, ग' मानकर—कि मेरा नाम मोहन, सोहन है, मेरी अटक गर्ग, गौतम या शाण्डिल्य है, मेरा वर्ण ब्राह्मण, वैश्य या शूद्र है, मेरा आश्रम संन्यासी या गृहस्थ है, मैं पापी-पुण्यात्मा, संसारी और परिच्छिन्न हूँ—घण्टे भरके लिए सोचोगे कि मैं असङ्ग शुद्ध साक्षी हूँ, तो तुम्हारा मैं तो रहेगा देहमें और साक्षीपना ऐसे ही भावित हो जायेगा जैसे भावित मूर्तिका साक्षात्कार होता है। वह कल्पित द्रष्टाका साक्षात् होगा। वह तत्त्वज्ञान नहीं होगा। इसलिए पहिले अपने मैंको इन वर्ण, आश्रम, कर्ता-भोक्ता संसारी, परिच्छिन्नसे अलग कर लो तो देखोगे कि तुम ध्यानसिद्ध द्रष्टा नहीं हो, स्वतःसिद्ध द्रष्टा हो! और इस द्रष्टाकी दृष्टिमें देश-काल और वस्तु तीनों हैं, तीनोंका अबाधित प्रकाशक और अबाधित अधिष्ठान! वेदान्त कहता है: **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।** वह ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है। **तत्त्वमसि** = वह ब्रह्म तू है।

उपासक लोग कहते हैं कि वेदान्तोंमें ईश्वरका वर्णन है और ईश्वरोपासनाका भी वर्णन है, वह 'आत्मा ब्रह्म है' इस रूपकी उपासना हो ( आत्मेत्येवोपासीत ) अथवा 'यह सब आत्मा ही है' इस प्रकारकी उपासना हो ( आत्मानमेवलोकमुपासीत ); इसलिए उपासना-विधिका अंग होनेसे वेदान्त उपास्यके स्वरूपका कथन करते हैं। उपास्यके स्वरूपज्ञानपूर्वक उपासनासे क्या होगा कि शास्त्रदृष्ट जो मोक्ष है वह फल उपासकको प्राप्त होगा।

**तदुपासनाच्च शास्त्रदृष्टोऽदृष्टो मोक्षः फलं भविष्यतीति।**

परन्तु वेदान्तका कहना है कि शास्त्रदृष्ट मोक्ष उपासनाका फल नहीं है। अपनेमें जो बद्ध होनेका भ्रम है उसको मिटाना-मात्र वेदान्तका काम है। भावना कराके तुमको मुक्त करानेका काम वेदान्तका नहीं है। भ्रम निवारणके लिए केवल यथार्थज्ञानकी प्रमा उत्पन्न करना पर्याप्त है। इसलिए केवल श्रवणमात्रसे ब्रह्मज्ञान होनेकी बात वेदान्त करता है।

इसपर उपासकोंका आक्षेप है कि प्रथम तो यदि यह मान लें कि वेदान्त ब्रह्मके स्वरूपका कथन तो करते हैं परन्तु वह किसी कार्य-विधि या उपासना-विधिका अंग नहीं हैं तो ग्रहण, त्याग कुछ होगा नहीं और वेदान्त-वाक्योंकी निरर्थकता ऐसे ही सिद्ध होगी जैसे कि कोई कहे : पृथिवी सप्तद्वीपा है, वह राजा जाता है, वह अफ्रीकन जाता है। जाता है तो जाय, उससे हमारी क्या हानि-लाभ है। उल्टे इन वाक्योंसे हमारी चिन्तन-धारामें बाधा पड़ गयी! तो जब वेदान्तवाक्य कुछ पकड़ाते-छुड़ाते ही नहीं, केवल वस्तुस्वरूप कथन करते हैं, तो वे भी ऐसे ही निरर्थक वाक्य हैं।

बोले : नहीं जी, कभी-कभी ज्ञानमात्रसे भी बड़ी हानि, लाभ होते हैं। कैसे ?

एक आदमी रास्ता चलते-चलते बेहोश होकर गिर पड़ा। कोई भलामानुष सेठ उसे उठा लाया। अपने एयरकण्डीसण्ड सुसज्जित कमरेमें लाकर रख दिया। थोड़ी देरमें जब उसे होश हुआ तो उसने चारो ओर देखा। सोचने लगा : मैं तो मर गया था, निश्चय ही मरनेके बाद अब मैं स्वर्गमें आ गया हूँ। बड़ा प्रसन्न! फिर किसीने बताया : 'तुम मरे नहीं थे। सेठ उठा लाये। यह उन्हीं सेठका मकान है।' बताने मात्रसे वह फिर अपनी पुरानी यथार्थ दुनियामें लौट आया।

एक दूसरा आदमी था। जा रहा था। पैर पड़ गया साँप पर। लगा कि साँपने काट लिया। वह डरके मारे बेहोश हो गया। होश आनेपर लोगोंने बताया कि वह बच्चोंके खेलनेका रबड़का साँप था। बताने मात्रसे उसका भय, कम्पन सब निवृत्त हो गया।

इसी प्रकार वेदान्तवाक्यके यथार्थ कथन मात्रसे अविद्या निवृत्त होकर मोक्ष प्राप्त हो जाता है। यह वेदान्त-पक्ष है।

इसपर उपासकोंका आक्षेप यह है कि लोगोंको सुनते-सुनते

बीसों वर्ष हो गये और सुनानेवालोंके सुनाते-सुनाते दाँत पिस गये परन्तु किसीको ब्रह्मज्ञान होते नहीं देखा-सुना गया। प्रमाण ? प्रमाण यह कि—

श्रुतब्रह्मणोऽपि यथापूर्वं सुखदुःखादिसंसारिधर्मदर्शनात्।

'ब्रह्मके श्रवण करनेवाले व्यक्तिमें भी पहलेकी ही भाँति सुख, दुःख, संसारित्वकी धर्मधारा बहती रहती है।' वेदान्त सुननेवाले भी यही रोना रोते रहते हैं कि 'हम दुःखी हैं।' वेदान्त सुननेसे तुम्हें क्या मिला ? क्या लड्डू मिलने लगा या करोड़ रुपया घरमें आ गया ? सुननेमात्रसे कुछ नहीं मिलता। 'सुननेसे मिल जाता है' ऐसा कहनेवाले तुमको अपने जालमें फँसाये हुए हैं। इसलिए सुनो जरूर पर करो भी जरूर। श्रवणके अनुसार कुछ करो—कर्म या उपासना। उपनिषद् भी यही कहता है कि :

श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

श्रवण करो परन्तु उसके बाद मनन भी करो और निदिध्यासनरूप उपासना भी करो।

इसलिए यह ठीक है कि ब्रह्ममें शास्त्र प्रमाण है परन्तु वह उपासना-विधिके अंगके रूपमें ही शास्त्र प्रमाण है :

तस्मात् प्रतिपत्तिविधिविषयतयैव शास्त्रप्रमाणकम् ब्रह्माभ्युपगन्तव्यमिति।

असलमें, यह सब आक्षेप उपासक सम्प्रदायोंके आक्षेपोंका अनुवादमात्र है। वैष्णव, शैव, सौर, गाणपत्य, शाक्त उपनिषदोंका प्रमाण भी मानते हैं परन्तु यह भी मानते हैं कि उसमें ब्रह्मका वर्णन उपासनाके लिए ही है।

अब इसका उत्तरपक्ष प्रारम्भ होगा। वह भी आक्षेपकी तरह ही बहुत बड़ा है। ●

( ४.१५ )

# उत्तर पक्ष—२

## कर्मफलसे विलक्षण मोक्ष नामक अशरीरत्व नित्य है

**मूल भाष्य एवं भाष्यार्थ :**

**१. अत्र अभिधीयते—न; कर्म-ब्रह्मविद्याफलयोर्वैलक्षण्यात्। शारीरं वाचिकं मानसं च कर्म श्रुतिस्मृतिसिद्धं धर्माख्यं यद्विषया जिज्ञासा 'अथातो धर्मजिज्ञासा' ( जै० सू० १.१.१ ) इति सूचिता; अधर्मोऽपि हिंसादिः प्रतिषेधचोदनालक्षणत्वाज्जिज्ञास्यः परिहाराय। तयोश्चोदनालक्षणयोरनर्थार्थयोर्धर्माधर्मयोः फले प्रत्यक्षे सुखदुःखे शरीरवाङ्मनोभिरेवोपभुज्यमाने विषयेन्द्रियसंयोगजन्ये ब्रह्मादिषु स्थावरान्तेषु प्रसिद्धे।**

इसके उत्तरमें कहते हैं : ऐसा नहीं है। कर्मके फलमें और ब्रह्मविद्याके फलमें विलक्षणता है। श्रुतिस्मृतिमें शारीरिक, वाचिक और मानसिक कर्म, धर्म नामसे प्रसिद्ध हैं, जिसकी जिज्ञासा

जैमिनि-सूत्र 'अथातो धर्मजिज्ञासा'में वर्णित है। धर्मका लक्षण चोदना है ( यजेत, जुहोति इत्यादि विधि-वाक्य चोदना कहलाते हैं ); इसी न्यायसे परिहारके लिए वर्णित अधर्म, हिंसा आदि भी जिज्ञास्य हैं क्योंकि इनके लिए प्रतिषेध-चोदना लक्षण है ( जैसे 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' )। उन चोदना लक्षणवाले धर्म और अधर्मका फल, विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाला तथा शरीर, वाणी और मनके द्वारा भोगा जानेवाला, प्रत्यक्ष सुख और दुःख हैं जो ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त सब प्राणियोंमें प्रसिद्ध हैं।

२. मनुष्यत्वादारभ्य ब्रह्मान्तेषु देहवत्सु सुखतारतम्यमनुश्रूयते, ततश्च तद्धेतोर्धर्मस्य तारतम्यं गम्यते। धर्मतारतम्यादधिकारितारतम्यम्। प्रसिद्धं चार्थित्वसामर्थ्यादिकृतमधिकारितारतम्यम्। तथा च यागाद्यनुष्ठायिनामेव विद्यासमाधिविशेषादुत्तरेण पथा गमनम्, केवलैरिष्टापूर्तदत्तसाधनैर्धूमादिक्रमेण दक्षिणेन पथा गमनम्, तत्रापि सुखतारतम्यं तत्साधनतारतम्यं च शास्त्रात् 'यावत्सम्पातमुषित्वा ( छां० ५.१०.५ ) इत्यस्माद् गम्यते।

मनुष्यसे लेकर ब्रह्मापर्यन्त सभी देहधारियोंमें सुखका तारतम्य ( न्यूनाधिकता ) श्रुतिमें वर्णित है। उसके सुखके हेतु धर्मके तारतम्यका ज्ञान होता है। धर्मके तारतम्यसे अधिकारीके तारतम्यका ज्ञान होता है। और फलेच्छा तथा सामर्थ्य आदि कारणोंसे तो अधिकारीका तारतम्य प्रसिद्ध ही है। और इस प्रकार यागादि अनुष्ठान करनेवाले ही उपासना-रूप समाधिके बलपर उत्तर मार्गसे जाते हैं तथा केवल इष्ट, पूर्त और दत्त-रूप साधनोंसे सम्पन्न पुरुष धूमादिके क्रमसे दक्षिण मार्गसे जाते हैं। वहाँ भी सुखका तारतम्य और उसके साधनोंका तारतम्य 'यावत्सम्पातमुषित्वा' श्रुतिसे ज्ञात होता है।

३. तथा मनुष्यादिषु नारकस्थावरान्तेषु सुखलवश्चोदनालक्षणधर्मसाध्य एवेति गम्यते तारतम्येन वर्तमानः। तथोर्ध्वंगतेष्वधोगतेषु च देहवत्सु दुःखतारतम्यदर्शनात् तद्धेतोरधर्मस्य प्रतिषेधचोदनालक्षणस्य तदनुष्ठायिनां च तारतम्यं गम्यते । एवमविद्यादिदोषवतां धर्माधर्मतारतम्यनिमित्तं शरीरोपादानपूर्वकं सुखदुःखतारतम्यमनित्यं संसाररूपं श्रुतिस्मृतिन्यायप्रसिद्धम्। तथा च श्रुतिः—'न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति ( छां० ८.१२.१ ) इति यथावर्णितं संसाररूपमनुवदति। अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ( छां० ८.१२.१ ) इति प्रियाप्रियस्पर्शनप्रतिषेधाच्चोदनालक्षणधर्मकार्यत्वं मोक्षाख्यस्याशरीरत्वस्य प्रतिषिध्यत इति गम्यते। धर्मकार्यत्वे हि प्रियाप्रियस्पर्शनप्रतिषेधो नोपपद्यते। अशरीरत्वमेव धर्मकार्यमिति चेन्न; तस्य स्वाभाविकत्वात्। 'अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति। ( काठ० १.२.२१ ), अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः ( मुण्ड० २.१.२ ), असंगो ह्ययं पुरुषः ( बृहदा० ४.३.१५ ) इत्यादि श्रुतिभ्यः। अतएवानुष्ठेयकर्मफलविलक्षणं मोक्षाख्यमशरीरत्वं नित्यमिति सिद्धम्। ( क्रमशः )

इस प्रकार मनुष्यादिसे लेकर नारकीय एवं स्थावरपर्यन्त जीवोंमें न्यूनाधिकतासे वर्तन सुखलव चोदनात्मक धर्मसे उत्पन्न ही ज्ञान होता है। इसी प्रकार ऊर्ध्वगामी और अधोगामी देहधारी जीवोंमें दुःखकी न्यूनाधिकता देखनेसे उस दुःखके हेतु अधर्मका और उस अधर्मके करनेवाले जीवोंका तारतम्य ज्ञात होता है। एवं अविद्या आदि दोषवाले जीवोंके धर्म और अधर्मके तारतम्यसे शरीर-ग्रहणपूर्वक जो सुख-दुःखका तारतम्य है, वह अनित्य संसाररूप है, ऐसा श्रुति, स्मृति और न्यायमें प्रसिद्ध है। इसी प्रकारके वर्णित संसाररूपका यह श्रुति भी अनुवाद करती है :

**न ह वै०** ( निस्सन्देह उस सशरीर आत्माके सुख-दुःखका विनाश नहीं होता )। **अशरीरं वाव०** ( देहादि अभिमानरहित आत्माको मिथ्या देहसम्बन्धी सुख-दुःख स्पर्श नहीं करते )—इस श्रुतिमें सुख, दुःखके स्पर्शका प्रतिषेध होनेसे 'चोदना-लक्षण धर्मका कार्य है मोक्ष नामक अशरीर अवस्था', इसका प्रतिषेध किया गया है, ऐसा ज्ञात होता है। यदि मोक्षको धर्मका कार्य मानें तो उसमें सुख-दुःखके स्पर्शका निषेध अनुपपन्न हैं। यदि कहो कि अशरीरत्व ही धर्मका कार्य है तो ऐसा नहीं है, क्योंकि अशरीरत्व मोक्षका स्वभाव है ( धर्मका कार्य नहीं है ) जैसा इन श्रुतियोंसे प्रकट होता है :

**अशरीरं०** ( जो शरीरोंमें अशरीर है, जो अनित्योंमें नित्य है, उस महान् और विभु आत्माको जानकर विद्वान् शोक नहीं करता)।

**अप्राणो०** ( आत्मा प्राणरहित, मनरहित, शुद्ध है )।

**असंगो०** ( यह पुरुष असंग है )। इत्यादि।

अतएव यह सिद्ध हुआ कि अनुष्ठान किये जानेवाले कर्मके फलसे विलक्षण मोक्ष नामक अशरीरत्व नित्य है।

कर्मका फल और ब्रह्मविद्याका फल, इन दोनों पर पहिले विचार करो।

जैसे आप हाथसे ढेला फेंको तो एक सीमातक जायेगा और फिर धरतीपर गिर पड़ेगा। यदि वस्तु इतनी जोरसे फेंकी जाय कि वह पृथिवीकी कक्षासे बाहर चली जाय तो भी वह पृथिवीकी या किसी अन्य ग्रहकी परिक्रमा करने लगेगी और एक दिन शक्तिहीन होकर नष्ट हो जायगी। सूर्य भी एक दिन नष्ट हो जायेगा, चन्द्रमा भी एक दिन नष्ट हो जायेगा। जहाँ गति है वहाँ स्थिति अवश्य होगी और जहाँ स्थिति है वहाँ एक दिन गति जरूर होगी। कारण कार्यमें और कार्य कारणमें—यह क्रम चलता ही रहता है।

कर्मका फल तीन तरहसे होता है : हम अपने मैं-पनेको छोड़कर बड़े मैं-के साथ मिल जाते हैं; ( ऐसा अभ्यास करें कि ) हम अपने स्वरूपमें बैठ जाते हैं; हम जड़ विषयके साथ एक हो जाते हैं।

रुपयेके लिए परिश्रम हमको बाहर ले जाता है; आफिसमें, फैक्टरीमें, दुकानमें। मतलबके लिए अधिकारीके साथ हाँमें हाँ मिलानी पड़ती है, भले वह अधिकारी उस अधिकारके अतिरिक्त सब प्रकारसे हेय ही क्यों न हो। उपासना हमें देवता या ईश्वरके मैं-के साथ एक करती है और अहंग्रहोपासना, धारणा, ध्यान, समाधि हमको अपनेमें बैठाती है। ये सब कर्म उपासनाके ही फल हैं।

ब्रह्मविद्या दूसरी चीज है। उसमें न तो अपनेमें बैठना है, न बाहर इहलोक या परलोकमें विषय या इष्टके साथ बैठना है; इसमें न विषयाकार सुखवृत्ति है, न इष्टाकार सुखवृत्ति है और न समाध्याकार शान्तिवृत्ति है। सकाम उपासनाका फल लोक-परलोकमें सुख होता है; निष्काम उपासनाका फल इष्टदेवसे तादात्म्य होता है और धारणा, ध्यान, समाधि आदि जो निवर्तक कर्म हैं उसमें वृत्ति निरुद्ध होकर अपने आपमें बैठ जाती है। ये तीनों ब्रह्मविद्याके फल नहीं हैं।

द्वैतके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित एवं प्रत्यक् चैतन्यसे अभिन्न जो तत्त्व है उसको ब्रह्म कहते हैं। उस ब्रह्मको जानना ब्रह्मविद्या है। द्वैतप्रपंच अर्थात् पाँच प्रकारके भेद : जीव जीवका भेद, जीव जगत्का भेद, जीव ईश्वरका भेद, ईश्वर जगत्का भेद और जगत् जगत्का भेद। ये भेद जिसमें नहीं हैं, जो इन भेदोंका प्रकाशक है और जिसमें ये भेद अधिष्ठित दीखते हैं—ऐसा जो जगत्कारण ईश्वर और देह-देहस्थ जीवके भेदसे रहित चेतन तत्त्व है ब्रह्म, उसको ऐसा ही जानना ब्रह्मविद्या है।

'मैं पाप-पुण्यका कर्ता नहीं, सुख-दुःखका भोक्ता नहीं, लोक-परलोकमें आने-जानेवाला संसारी नहीं, मैं परिच्छिन्न नहीं। मैं साक्षात् ब्रह्म हूँ।'—इस बोधसे अविद्याकी निवृत्ति और उससे बन्धन, परतन्त्रता आदि सबकी निवृत्ति तथा स्वरूपभूत आनन्दकी प्राप्ति, यह ब्रह्मविद्याका फल है। कर्मके फलसे इसमें यह विलक्षणता है :

**कर्म-ब्रह्मविद्याफलयोर्वैलक्षण्यात्**

असलमें तुम तो वर्तमान जीवनमें सुखी होनेके लिए पहिले विषय-सुख चाहते थे। उसमें निराशा हुई तो धर्मसुख चाहने लगे (अर्थात् परलोक-सुख चाहने लगे)। जब धर्मसुखसे (परोक्ष होनेके कारण) सन्तोष नहीं हुआ तो प्रेमसुख चाहने लगे। जब प्रेमसुखसे भी सन्तोष नहीं हुआ तो समाधिसुख चाहने लगे। यह सब हुआ, परन्तु 'देह मेरा है' और 'देह मैं हूँ' यह परिच्छिन्नता टूटी नहीं। मैं परिच्छिन्नमें ही फँसा रहा। वेदान्त इसी परिच्छिन्नताको काट देता है और बता देता है कि 'तुम ब्रह्म हो; तुम्हें कहीं आना-जाना नहीं है—न विषयसुखके लिए और न इष्टसुखके लिए। तुम जहाँ हो, जब हो, जैसे हो, जो हो, वही तुम निर्बन्ध हो।' ब्रह्म-विद्याका यह फल किसी भी कर्म, उपासनाका फल नहीं होता है। इसलिए वेदान्त कर्म या उपासनाका अंग नहीं है।

पुनश्च, कर्मका फल चाहे अच्छा हो या बुरा, वह देहधारीको अवश्य होता है। जब कर्म इन्द्रियोंसे किया गया तो धर्मसे प्रिय फलकी प्राप्ति होगी और अधर्मसे अप्रिय फलकी प्राप्ति होगी; और यह प्रिय-अप्रिय फल देहको मिलेगा, इन्द्रियोंको मिलेगा, मनको मिलेगा। जहाँ बैठकर तुमने भला-बुरा किया है वहीं बैठकर उसका फल भोगना पड़ेगा, अन्यथा कृतहानि और अकृताभ्यागम दोष होगा। इसीसे राजनीतिके विचारमें देहका ही विचार किया जाता

है। क्योंकि देहसे अपराध हुआ है इसलिए देहको ही दण्ड देते हैं। अपराधके दण्डको मरनेके बादके लिए राजनीति नहीं छोड़ सकती। मनमें सुख-दुःख पहुँचना, यही कर्मका फल है। धर्मसे सुख, अधर्मसे दुःख। मनुष्य जितना शारीरिक, मानसिक कर्म करता है उससे धर्माधर्मकी उत्पत्ति होती है। यदि वह कर्म श्रुति, स्मृति-सिद्ध है तो धर्मकी उत्पत्ति होगी और यदि श्रुति, स्मृति-विरुद्ध है तो अधर्मकी उत्पत्ति होगी।

श्रुतिका अथ है कर्मका शाश्वत संविधान, और स्मृति उस संविधानकी स्मृति-सिद्ध संहिता है। इसलिए स्मृतिसे श्रुति बलवान् होती है। जैन और मध्व स्मृतिको प्रमाण मानते हैं किन्तु अन्य दर्शनकार नहीं मानते।

जिसके जीवनमें धर्म नहीं है वह तो मनुष्यके रूपमें पशु है: **मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति**। पशुमें भी धर्म होता है, परन्तु मनुष्य होकर जो मनुष्योचित धर्मका पालन नहीं करता है वही उसका पशुत्व है। इस प्रकार :

**शारीरं वाचिकं मानसं च कर्म श्रुतिस्मृतिसिद्धं धर्माख्यम्।**

श्रुति-स्मृति-सिद्ध कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म धर्म नामसे प्रसिद्ध हैं। इस धर्मका विचार जैमिनिकृत पूर्वमीमांसा शास्त्रमें किया गया है जिसका प्रथम सूत्र ही है कि :

**अथातो धर्मजिज्ञासा।**

इसी प्रकार जो श्रुति-स्मृति-सिद्ध नहीं है वह अधर्म नामसे प्रसिद्ध है। इसलिए धर्मजिज्ञासाकी पूरी व्याख्याके लिए क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए—ये दोनों ही जिज्ञास्य हैं। इसलिए विधि-पक्षमें जहाँ यज्ञ, अहिंसा आदि धर्म हैं, और जिज्ञास्य हैं, वहाँ निषेध-पक्षमें हिंसा, चोरी, व्यभिचार, प्रमाद

सभी जिज्ञास्य हैं। दोनोंमें चोदना लक्षण ( आज्ञा, आदेश, कर्म करने या न करनेको प्रेरणा ) समान है।

**स्वर्गकामो यजेत।** ( ताण्ड्य ब्रा० १६.३.३ )

**इन्द्रं यजेत।**

**अग्निमादधीत।** ( शतपथ २.१.३.५ )

इत्यादि, ये सब विधिपरक होनेसे धर्म हैं।

**मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि।**

**अक्षैर्मा दीव्यः।** ( ऋग्वेद १०.३४.१३ )

**सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्।** ( तै० उप० १.११.१ )

इत्यादि, ये सब निषेधपरक विधि होनेसे धर्म हैं।

ये धर्माधर्म ही अर्थ, अनर्थ हैं। जिसको हम चाहते हैं सो अर्थ और जिसको हम नहीं चाहते वह अनर्थ है। सबके लिए अलग-अलग अर्थ, अनर्थ होते हैं और उनके उपाय भी अलग-अलग होते हैं। जो आदेशसे प्राप्त होता है कि यह करना चाहिए और हमारे लिए यह अन्तमें श्रेयस्कर है वह अर्थ है। चोदना लक्षण भी है ( आदेश भी है ) और अर्थ भी है, वह धर्म है। जो प्रतिषिद्ध है और जिससे अन्तमें हमें अभ्युदय और निःश्रेयसकी प्राप्ति नहीं होती वह हमारे लिए अनर्थ है। अधर्म वह जिससे अनर्थ हो।

एक सज्जन थे। वे चाहते थे कि उनका बेटा ब्रह्मचारी हो परन्तु वह बेटा स्वयं पैदा हुआ था व्यभिचारसे !

अब यह जो धर्माधर्मका फल है—विषय और इन्द्रियके संयोगसे उत्पन्न सुख और दुःख, उसका भोग कोई आत्मा-वात्मा नहीं करता :

**शरीरवाङ्मनोभिरेवोपभुज्यमाने।**

शरीर, वाणी, मनसे ही धर्माधर्म किये जाते हैं और उन्हींसे

उनका फल भोगना पड़ता है। 'खुट खुट सुनारकी, एक चोट लुहार की'। तुम रोज-रोज ईश्वरके विरुद्ध, वेदके विरुद्ध करते हो, धर्मके विरुद्ध करते हो—एक दिन आयेगा कि सारा चूर-चूर हो जायेगा। उस दिन चिल्लाओगे कि ईश्वर बड़ा अन्यायी है। जिस शरीर, मन, वाणीसे तुमने दूसरेका बुरा किया है उसी शरीर, मन वाणीको दण्डित करके तुम्हारे अधर्मका फल तुम्हें भोगना पड़ेगा। यह विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे आता है और यह बात सबके लिए है, ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त।

**विषयेन्द्रियसंयोगजन्ये ब्रह्मादिषु स्थावरान्तेषु प्रसिद्धे।**

ये शरीर अलग-अलग क्यों बने जब सबका मसाला ( पञ्च-महाभूत ) एक-से थे ? मनुष्यका जो पूर्व-पूर्व कर्मभोग-संकल्प है उसीके अनुसार शरीरोंके भेद होते हैं। अच्छा काम करेंगे तो ब्रह्मा भी हो सकते हैं और बुरा करेंगे तो विष्ठाका कीड़ा भी बन सकते हैं।

सारी सृष्टिमें सुख एक ही होता है और दुःख भी एक ही होता है। सुखत्वेन सुख एक है और दुःखत्वेन दुःख एक है। परन्तु सुख और दुःख दोनोंका तारतम्य देखनेमें आता है, वह चाहे ब्रह्माका शरीर हो या मनुष्यका या कोई भी देहधारी हो। क्योंकि सुख धर्मका फल है और दुःख अधर्मका फल है, इससे प्रत्येक देहधारीके शरीरमें धर्माधर्मका तारतम्य ( कमी-बेशी, न्यूनाधिकता ) सिद्ध होता है। धर्माधर्मका तारतम्य इस बातपर निर्भर करता है कि धर्मका अधिकारी ठीक है या नहीं। यदि प्रेमी और योग्य अधिकारी होगा तो धर्म ठीक-ठीक करेगा नहीं तो यदि दुष्ट होगा तो अधर्म करेगा।

वस्तुके गुणसे धर्माधर्म नहीं होता। जनेऊसे धर्म नहीं होता।

तीर्थसे धर्म नहीं होता। चोरी करें और दान भी करें, तो भी धर्म नहीं होता।

इस प्रकार देहधारियोंमें अधिकारीका तारतम्य देखनेमें आता है। फिर कर्ता क्या चाहता है और उसमें क्या सामर्थ्य है, इससे भी धर्माधर्ममें न्यूनाधिकता होती है :

**प्रसिद्धं च अर्थित्वसामर्थ्यादिकृतम् अधिकारितारतम्यम्।**

श्रुतिमें सकाम भावसे धर्म करनेका और फल बताया है तथा निष्काम भावसे विधिपूर्वक कर्मोपासना करनेवालेको और फल बताया है। जो इष्ट, पूर्त, दत्त कर्म करता है वह सकामी पुरुष मरकर धूम्रमार्गसे जाता है और निष्काम भावसे कर्म उपासना करनेवाला उत्तममार्गसे जाते हैं। उसमें भी सुखका तारतम्य और साधनका तारतम्य देखनेमें आता है।

सारांश यह कि—

**एवम् अविद्यादि दोषवतां धर्माधर्मतारतम्यनिमित्तं शरीरोपादानपूर्वकं सुखदुःखतारतम्यम् अनित्यं संसाररूपं श्रुतिस्मृतिन्यायप्रसिद्धम्।**

मूल दोष अविद्या है अर्थात् अपने असली ब्रह्मस्वरूपका अज्ञान। उस अविद्यासे विशिष्ट जीवोंके अधिकारी तारतम्यसे धर्माधर्मका तारतम्य होता है उससे शरीर-ग्रहणपूर्वक सुख-दुःखका तारतम्य प्रत्येक शरीरमें होता है। यही अनित्य संसाररूप है। यह बात श्रुति, स्मृति और न्यायशास्त्रमें प्रसिद्ध है।

श्रुति कहती है : **न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति।**

निस्संदेह उस सशरीर आत्माके सुख-दुःखका विनाश नहीं होता। जबतक शरीरधारी रहेगा, वह चाहे मनुष्यका शरीर हो या ब्रह्माका शरीर हो, तबतक धर्माधर्म और तज्जन्य सुख-दुःखका

नाश नहीं हो सकता। आपने सुना होगा कि ब्रह्मासे भी पाप हुआ। जब पाप हुआ तो शंकरने श्राप दिया कि जाओ तुम्हारी पूजा नहीं होगी और एक शिर ब्रह्माका अपने त्रिशूलसे काट दिया। शंकरको भी भस्मासुरके कारण दुःख हुआ—यह तो प्रसिद्ध कथा है। तब विष्णुकी कृपासे संकट कटा। विष्णुको स्वयं इतना दुःख हुआ—वृन्दाके मरनेका कि धूल लपेटकर चितापर जा बैठे।

इसका अर्थ है कि जो शरीरधारी होता है उसको कभी सुख, दुःख आते ही रहते हैं। वह सब धर्माधर्मका फल होता है और उसमें भी तारतम्य ( कमी-बेशी ) होता है।

इसका अर्थ यह भी है कि जो 'अशरीर' है वह सुख-दुःखके तारतम्यसे, संसारसे परे होना चाहिए। श्रुति कहती है :

**अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ( छा० ८.१२.१ )**

'अशरीर आत्माको प्रियाप्रिय स्पर्श नहीं करते।' इसलिए मोक्ष कोई शरीरकी या शरीरधारीकी अवस्था नहीं हो सकती।

क्योंकि शरीर धर्माधर्मका कार्य है और अशरीर धर्माधर्मका कार्य नहीं है इसलिए उक्त श्रुति इस बातका निषेध करती है कि अशरीर मोक्ष चोदनात्मक धर्मका कार्य है।

**प्रश्न :** यदि मोक्षको धर्मका कार्य मान लें तो क्या हानि है ?

**उत्तर :** धर्ममें धर्माधर्म दोनोंका समावेश है। धर्मका फल है सुख और अधर्मका फल है दुःख। अतः धर्मके द्वारा सुखसे मोक्ष नहीं हो सकता और अधर्मके द्वारा दुःखसे मोक्ष नहीं हो सकता। माने धर्माधर्मरूप धर्मसे—जिज्ञासासे सुख-दुःखरहित मोक्ष उत्पन्न नहीं हो सकता।

**प्रश्न :** यदि हम मान लें कि धर्मका फल अशरीर होना है तो ?

**उत्तर :** यह भी सम्भव नहीं है। धर्माधर्म तो शरीरसे होते हैं

जो स्वयं धर्माधर्मका कार्य है। कोई भी धर्माधर्म अपने कर्ताको नहीं मार सकता।

तब अशरीरता कहाँसे आयेगी? असलमें आत्मा ही अशरीर है, अप्राण है, अमन है, शुद्ध है, असंग है। इसलिए आत्मा स्वयं मोक्ष है। तब आत्मा धर्मजिज्ञासाका विषय कैसे हो सकता है? वह तो ब्रह्मविद्याके द्वारा ही जाना जाता है।

कठोपनिषद्की श्रुति कहती है:

**अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेषु अवस्थितम्।**
**महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥** ( १.२.२२ )

'अनेक शरीरोंमें एक अशरीरीको और अनेक अनित्योंमें एक नित्यको, उस महान् विभु आत्माको जानकर धीर पुरुष शोक नहीं करता।'

शरीर अनेक हैं, उनमें द्रव्य, देश और काल हैं। परन्तु आत्मा एक है तथा उसमें न द्रव्य है, न देश है और न काल है। जिसमें शरीर इस समय है उसीमें शरीरका अत्यन्ताभाव है। कालमें शरीर बनते-बिगड़ते रहते हैं, आत्मा एक रहता है। देशमें शरीर आते-जाते रहते हैं और आत्मा एक रहता है। द्रव्यमें शरीरोंके भेद बनते रहते हैं और आत्मा एक रहता है। आत्मा एक अखण्ड अविनाशी परिपूर्ण अद्वय चिद्वस्तु है। उसमें शरीर-शरीरीभाव तभीतक है जबतक अज्ञान है।

मुण्डकोपनिषद्की श्रुति कहती है: **अप्राणो ह्यमनः शुभ्रः** ( २ १.२ ) आत्मा प्राणरहित, मनरहित और शुद्ध है।'

**अप्राण:** कहनेका तात्पर्य है कि आत्मा मरने-जीनेवाला नहीं है। प्राण जन्म-मृत्युका लक्षण है। शरीर सप्राण और निष्प्राण होता है परन्तु अशरीर जो सच्चिदानन्द आत्मा है वह प्राण, स्पन्द नहीं है, वह तो निःस्पन्द ही है। अप्राण = क्रिया शक्तिसे रहित

अथवा विलक्षण। इसलिए आत्मा पाप-पुण्यसे असम्बद्ध है (क्योंकि पाप-पुण्यमें प्राण ही हेतु है)। अप्राण कहनेसे आत्मामें जन्म-मरण, पाप-पुण्य, देहकी अवस्थाएँ सबका निषेध हो गया।

आत्माको **अमन** कहनेका मतलब है कि आत्मामें सुख-दुःख, संकल्प-विकल्प, राग-द्वेष, इष्ट-अनिष्ट, महात्मा-दुरात्मा कुछ नहीं है।

आत्माको शुभ कहनेका मतलब है कि आत्मामें अविद्या, माया, प्रपञ्च, कार्य-कारण कुछ नहीं है। अवधूत-गीतामें कहा गया है :

**मायाऽमाया कथं तात छायाऽछाया न विद्यते (१.४३)**

असलमें माया जिसमें जिसको भास रही है उसको तुम नहीं देख रहे हो, इसीलिए माया माया है। उदाहरणार्थ यह सामने जो 'लाउडस्पीकर' है वह आँखकी उपाधिवालेको दीख रहा है और मठोपाधिक आकाशमें दीख रहा है। परन्तु नहीं, मठसहित आकाश और लाउडस्पीकर जब दीखता है तब मनमें ही दीखते हैं। इस प्रकार मनको उपाधिसे ही देखनेवाला और मनमें ही दीखनेवाला लाउडस्पीकर और उसका आश्रय मठाकाश है। तब मन ही इन सबके सहित माया है जो अपनेमें अपनेको ही दिखायो दे रहा है। 'तत्' और 'त्वम्'में जो भेद है वह अन्तःकरण (मन)की उपाधिके कारण ही प्रतीत होता है। असलमें तो एकमात्र परमात्मा ही है, परमात्माके अतिरिक्त कुछ नहीं है। ब्रह्ममें माया-काया क्या, मायाकी छायातक भी नहीं है।

प्राणोंको रोकनेसे आत्मा अप्राण नहीं होता। मनके निरुद्ध करनेसे आत्मा अमन नहीं होगा और शरीर, मन, प्राण जब नहीं रहेगा तब आत्मा शुभ्र नहीं होगा। तुम आत्मा इसी समय, इसी शरीरमें बिलकुल अप्राण, अमन, शुभ्र, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव हो। चलते हुए, बोलते हुए, सुनते हुए, बैठे हुए अद्वितीय ब्रह्म ही

हो ! यह वेदान्तका उद्घोष है। इसमें व्यवहारका लोप नहीं है। जबकि और जितने साधन हैं वे सब व्यवहारके विरोधी हैं। स्वर्गकी प्राप्ति इस शरीर और व्यवहारके लोप होनेपर होती है। गोलोक, साकेतकी प्राप्ति भी मृत्युलोकका शरीर और कामनाके लोप होनेसे होती है। समाधि मनके निरोध होनेसे प्राप्त होती है और द्रष्टापना विवेक करनेसे सिद्ध होता है। परन्तु यह जो ब्रह्मत्व है वह तो नित्य प्राप्त है। उसमें अप्राप्तिका जो भ्रम हो रहा है उसकी निवृत्तिमात्र वेदान्त-विद्याका फल है।

इसलिए कर्म करके जो फलरूपकी प्राप्ति होती है वह वेदान्तका सिद्धान्त नहीं है। यह अशरीरता-रूप जो आत्माका मोक्ष स्वरूप है वह वेदान्त-सिद्धान्त है और वह केवल ब्रह्मविद्यासे ही जाना जा सकता है।

कर्मविद्या आत्माको धर्माधर्मका कर्ता बताती है। उपासना विद्या आत्माको भोक्ता बताती है। फलविद्या आत्माको संसारी बताती है और सांसारिक विद्याएँ आत्माका परिच्छिन्न बताती हैं। परन्तु ब्रह्मविद्या आत्माको अकर्ता, अभोक्ता, असंसारी अपरिच्छिन्न एवं अशरीर बताती है।

ब्रह्मविद्याके अतिरिक्त जितनी और विद्याएँ हैं उनमें आत्माको जानकर कुछ करना, भोगना, शेष रह जाता है। परन्तु करनेसे कर्तापन नहीं छूटता, भोगनेसे भोक्तापन नहीं छूटता और छोड़नेसे परिच्छिन्नता नहीं छूटती। धर्म कराता है, उपासना भुगवाती है और सांख्ययोग छुड़वाते हैं। परन्तु यह जो ब्रह्मविद्या है महाराज, वह तो एक झटकेमें ही अनादि कालसे प्रवर्तित अविद्याजन्य कर्तृत्व, भोक्तृत्व, संसारित्व, परिच्छिन्नत्वकी भ्रान्तिको काट फेंकती है और सम्पूर्ण दुःखोंकी निवृत्ति होकर परम स्वातन्त्र्यरूप मोक्ष एवं परमानन्दका भोग होता है।

( ४-१६ )

# उत्तर पक्ष-२

## नित्यताका विवेक

**मूलभाष्यः—**

तत्र किंचित् परिणामिनित्यं यस्मिन् बिक्रियमाणेऽपि तदेवेदमिति बुद्धिर्न विहन्यते; यथा पृथिव्यादिजगन्नित्यत्ववादिनाम्। यथा च सांख्यानां गुणाः। इदं तु पारमार्थिकं, कूटस्थनित्यं व्योमवत्सर्वव्यापि सर्वविक्रियारहितं, नित्यतृप्तं निरवयवं स्वयञ्ज्योतिः स्वभावम्। ( क्रमशः )

**भाष्यार्थ**—वहाँ परिणामी नित्य वह है जिसमें विकृति होनेपर भी 'वही यह है' ऐसी बुद्धिका नाश नहीं होता। जैसे जगत्को नित्यमाननेवालोंके मतमें पृथिवी आदि ( परिणामी नित्य ) है। और ( जैसे ) सांख्योंके मतमें गुण हैं। परन्तु यह ( ब्रह्म तो ) पारमार्थिक है, कूटस्थ नित्य है, आकाशके समान सर्वव्यापक है, सब विक्रियाओंसे रहित है, नित्य-तृप्त है, निरवयव है और स्वरूपसे स्वयं प्रकाश है।

यह बात सिद्ध हो चुकी कि मोक्ष नाम अशरीरी आत्माका है और वह अशरीरत्व—नित्य है। यह नित्यता कैसी है, अब इसको समझाते हैं।

अशरीरतारूप-मोक्ष पैदा करनेकी चीज नहीं है। यह बात देखनेमें आती है कि आप कहीं-न-कहींसे मोक्ष जरूर चाहते हैं। मोक्ष अर्थात् छुटकारा। गरीबीसे छुटकारा, दुश्मनसे छुटकारा, मौतसे अथवा मौतके भयसे छुटकारा! कोई व्यक्ति ऐसा नहीं है जो किसी-न-किसीसे छुटकारा न चाहता हो। जैसे हम जीवनमें सुख चाहते हैं और सुखके लिए धन चाहते, विषयभोग चाहते हैं और अपने लिए नहीं तो दूसरोंके लिए धर्म भी चाहते हैं—धर्म अर्थात् कर्म, वाणी एवं भोगमें संयम, वैसे ही जीवनमें सुखके लिए हम किसी-न-किसीसे मोक्ष ( छुटकारा ) भी चाहते हैं। छुटकारासे भी सुख मिलता है। [वैसे भी स्वातन्त्र्य सब चाहते हैं, कोई भी अपने कर्म, भोग, वाणी, विचारपर अंकुश या परतन्त्रता नहीं चाहता। यहाँ तक कि प्रत्येक खगोलीय पिण्ड भी दूसरे पिण्डके नियन्त्रक क्षेत्रसे बाहर जानेका निरन्तर प्रयत्न करता रहता है]। इसलिए मोक्ष एवं मोक्ष-सुख सब चाहते हैं।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्षसे मिलनेवाला सुख सब चाहते है। परन्तु सुख जीवनका प्रयोजन तभी होगा जब वह अपने साथ रहेगा।

**ज्ञाते सति आत्मनि इष्येत।**

जान लेनेके बाद कि यह सुख है फिर हम चाहते हैं कि यह हमारे अन्दर ही रहे। इसका नाम प्रयोजन है। धन, भोग, धर्म—इनको जो चाहते हैं वे इनको अपने इर्द-गिर्द ही रखना चाहते हैं। धनको तिजोरीमें रखते है, स्त्रीको या पुरुषको साथमें रखते हैं, धर्मको शरीरमें या मनमें रखते है। अर्थकी अपेक्षा काम अन्तरंग

है और कामकी अपेक्षा धर्म अन्तरंग है। और धर्मकी अपेक्षा अन्तरंग है मोक्ष, उस मोक्षको कहाँ रखोगे ?

वेदान्तमें मोक्ष कोई लड्डू खाना नहीं माना जाता। बेवकूफी ( अज्ञान ) जिसके कारण यह सब चक्कर है, दुःखका, जन्मका, मरणका, उस बेवकूफीका छूट जाना ही मोक्ष है। अज्ञानकी निवृत्ति मोक्ष है। अज्ञान-निवृत्तिके बाद जो शेष रहता है, वह अपना आपा ही मोक्ष है। दूसरे शब्दोंमें अज्ञान-निवृत्तिसे उपलक्षित अपना आत्मा ही मोक्ष है।

मोक्षका निवास न बद्रीनाथमें है और न पार्श्वनाथमें, न समाधिमें है और न वैकुण्ठमें है। अविद्या-हृदयक ग्रन्थि-भेदका नाम मोक्ष है। अज्ञानके कारण हमने अपनेको मनके साथ उलझा लिया है। मनके अनुसार हो तो सुख, विपरीत हो तो दुःख! माने हम हो गये पत्नी और मन हो गया हमारा पति। और महाराज मन ऐसा पति है कि घरमें रहे तो नींदमें रहे और जागे तो बाहर चला जाय! ऐसे पतिसे कौन पत्नी सुखी होगी—जो पत्नीकी तरफ देखे ही नहीं!

**यज्जाग्रतो दूरमुदेति** ( यजुः माध्य० ३४.१ )

ऐसे मनकी मुट्ठीमें अपने आपको दे देना बेवकूफीके सिवा कुछ नहीं है। मोक्षका अर्थ है इस नासमझीसे छूट जाना। असलमें छूटता कुछ नहीं है, बेवकूफी ही छूटती है। अब अगर इसमें भी आपको दुःख लगता है तो फिर तो 'खुदा हाफिज' (ईश्वर आपकी रक्षा करे ) ही बोलना पड़ेगा।

अज्ञान किसीका पुरुषार्थ नहीं है। ज्ञान और सुख ही सबका पुरुषार्थ है और वह आत्मा ही है।

यदि मोक्षका सम्बन्ध मनसे हो तो मन रहनेपर मोक्ष रहेगा और मन न रहनेपर नहीं रहेगा। परन्तु ब्रह्मविद्या ऐसी विद्या

बताती है कि मन रहे या न रहे, परन्तु मोक्ष आपका साथ नहीं छोड़ सकता; धर्म, उपासना, वृत्ति, द्रष्टा रहे या न रहे, परन्तु मोक्ष आपको नहीं छोड़ सकता। मोक्ष यदि उधारी चीज होगी ता बह नहीं रहेगी। श्रुतिने वर्णन किया: **नास्त्यकृतः कृतेन** ( मुण्डक १.२.१२ ) अर्थात् कर्मके द्वारा अकृत मोक्ष उत्पन्न नहीं किया जा सकता।

वेदान्त कहता है कि मोक्ष आपकी आत्माका स्वरूप है और वह नित्य है। यदि अपना स्वरूप नित्य नहीं होगा तो मोक्ष भी नित्य नहीं होगा, और मोक्ष यदि नित्य नहीं होगा तो हम भी नित्य मुक्त नहीं रहेंगे। इसलिए यह जाननेकी आवश्यकता है कि मोक्ष अशरीर आत्माका ही स्वरूप है।

अब भगवान् भाष्यकार नित्यताको बुद्धिमें आरूढ़ करते हैं।

नित्यता दो तरहकी होती :—१. परिणामी नित्य, और २. कूटस्थ नित्य। पहिले परिणामी नित्यताका लक्षण करते हैं:

**यस्मिन् विक्रियमाणेऽपि तदेवेदमिति बुद्धिर्न विहन्यते।**

जिसमें विकृति तो हो परन्तु 'वह ही यह है' इस बुद्धिका नाश न हो, ऐसा पदार्थ परिणामी नित्य कहलाता है।

बचपनमें हमलोग माटीसे खेलते थे। पोखरमें गये और मिट्टी निकाल लाये। उसका एक हाथी बनाया, एक गधा बनाया और एक लड्डू बनाया। यह सब बननेपर भी यह मिट्टी है, यह बुद्धि मिटती नहीं थी, कभी यह भ्रम नहीं होता था कि यह हाथी सोनेका है। आकृति, नाम, रूप बदलनेपर मिट्टी-बुद्धि नहीं बदलती थी। इस प्रकार माटी परिणामी नित्य है।

अब आप लोग शायद मिट्टीके दृष्टान्तसे न समझें। तो सोनेके दृष्टान्तसे समझिये। आप सोनेके कंगन, हार, अंगूठी नाना प्रकारके

आभूषण बनाते हैं, परन्तु उन सबमें सोना-बुद्धिका नाश नहीं होता। इसलिए सोना परिणामी नित्य होता है।

तत्त्व एक रस रहता है, नाम, रूप बदलते रहते हैं। अनारोपिताकारं तत्त्वम्।

परिणामी वह जो चारों ओरसे नमा दिया गया हो। परि= चारों ओरसे, नमन्=नमा दिया गया हो। जो बदल जाय सो परिणामी। सोना बदलकर हार बना, हार बदलकर कुण्डल बना, फिर बदलकर अंगूठी बना। हार कुण्डल नहीं है और कुण्डल अँगूठी नहीं है, परन्तु प्रत्येक सोना है—इस बुद्धिका नाश नहीं होता।

प्रश्न यह है कि सोना बदलकर हार बनता है या हारसे बदलकर कुण्डल बनता है तो क्या सोना बदलता है? जो कुछ सोना है यदि वह समूचा बदल जाय तो सोनेकी तात्त्विकता क्या रहेगी? और फिर सोना तो पूरा ज्यों-का-त्यों हारमें भी है और कुण्डलमें भी है। यदि कहो कि सोना परमाणुके रूपमें नहीं बदलता और कार्यरूपसे बदल जाता है तो यह बताना चाहिए कि 'परमाणु' और 'कार्य' में क्या सम्बन्ध है? वे एक हैं या अलग-अलग हैं? तो, असलमें सोना, हार और कुण्डल और अंगूठी सबमें अनुगत है। सोना सोनाके रूपमें सच्चा है। हार, कुण्डल, अंगूठीका सोनेसे अलग न वजन है, न स्थान है और न काल है, यद्यपि हारका देश-काल कुण्डलके देश-कालसे और कुण्डलका देश-काल अँगूठीके देश-कालसे भिन्न है। हार-कुण्डलादि काल-परिच्छिन्न हैं और सोनेके एक देशमें हार है और एक देशमें कुण्डल है। परन्तु अलग-अलग देशमें, अलग-अलग कालमें, अलग-अलग रूपमें भासता हुआ सोना बिल्कुल एक है। भेद आकृतिमें है और अभेद उपादानमें है।

जबतक यह समझमें नहीं आयेगा कि सोना ज्यों-का-त्यों नित्य

है और उसमें हार, कुण्डलादि केवल व्यावहारिक हैं, तबतक सोनेका तत्त्वज्ञान नहीं होगा।

जिस धातुसे यह सृष्टि बनी है वह सोनाकी तरह है, और इसमें मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि हार, कुण्डलकी तरह। वह जो स्वर्ण-स्थानीय धातु है वह सन्मात्र, चिन्मात्र वस्तु है। अनेक सत् मिलकर सत्ता बनती है: सत्+सत्+सत्+···=सत्ता। अनेकताके निषेधपूर्वक जो सत्ता है वही 'सन्मात्र' है। व्यावहारिक सत्में पृथक्त्व है। व्यावहारिक एकतामें सत्ता है। किन्तु परमार्थ सत् अनैक्य और ऐक्यसे विलक्षण अद्वितीय वस्तु है।

परमार्थ सत्ता है सन्मात्र, चिन्मात्र। जो कार्य कारण हैं वे व्यावहारिक सत्तामें हैं। कारण स्वर्ण है और कार्य हार-कुण्डलादि हैं—ये दोनों व्यावहारिक सत्तामें हैं। सन्मात्रमें कारण सोना भी कल्पित है। सन्मात्र तो दूर, पञ्चभूतोंमें ही सोना कल्पित है। तैजस तत्त्वसे न्यारा तो कुछ है ही नहीं।

आत्मा कैसा सत् है? यहाँ स्त्री और पुरुष दोनों मनुष्य हैं, परन्तु उनमें लिङ्ग-भेद है। मनुष्य और पशुमें जाति-भेद है। हिन्दू और मुसलमानमें सम्प्रदाय-भेद है। परन्तु ये सब नाम, रूपके भेद हैं। पञ्चभूत सबके शरीरोंमें हैं। पञ्चभूत पाँच हैं परन्तु सत्ता एक है। वह एक सत्ता अपने प्रकाशक चिन्मात्रसे न्यारी नहीं है। प्रकाशक चिन्मात्र स्वरूप है। इसलिए आत्मा और सत्ता न्यारी चीज नहीं है। इसका अर्थ है कि एक अखण्ड ब्रह्म ही नित्य है।

आत्मदेव कूटस्थ नित्य हैं। जैसे बनारस शहर तो वही हैं जो सैकड़ों वर्ष पहले था। परन्तु अब गली-मुहल्लोंके नाम बदल गये! इसी प्रकार आकाश वही है परन्तु उसकी उपाधियाँ बदल गयीं!

वेदान्त-मतमें आकाशको कूटस्थ नित्य नहीं मानते, परिणामी नित्य ही मानते हैं। क्योंकि आकाश भी कार्य है। जैसे स्वप्नका

आकाश व्यष्टि मनका कार्य है, वैसे ही जाग्रत्का आकाश समष्टि मनका कार्य है। जब आप समष्टि मनसे एक हो जाओगे तो मालूम पड़ेगा कि यह आकाश भी नित्य-वित्य नहीं है, मनका कार्य है।

यह आत्मदेव परिणामी नित्य है या कूटस्थ नित्य है, इसपर बड़े-बड़े शास्त्रार्थ हैं। असलमें वेदान्तमें परिणामका जिक्र नहीं होता। घट मिट्टीका परिणाम नहीं है, मिट्टी और घट दोनों पञ्चमहाभूतोंकी विकृतियाँ हैं। दही दूधका परिणाम नहीं है, दूध और दही दोनों पञ्चमहाभूतोंके विकार हैं। पञ्चभूतोंके विकार भी कहना नहीं बनता, पञ्चभूत ही है। दोनों पञ्चभूतोंके विवर्त हैं।

सुन्दरताकी वृत्ति ( बोध ) नित्य है, परन्तु वह तेल लगानेसे या तेल न लगानेसे होती है इसमें अन्तर होता है। सुन्दरताका बोध नित्य है परन्तु उसकी अभिव्यक्तिकी प्रक्रिया परिणामी है, बदलनेवाली है। परिणामी नित्य अनिर्वचनीय होता है, क्योंकि वहाँ परिणाम भी है और 'वही है' इस बुद्धिका अपरिणाम भी है। परिणाम, अपरिणाम दो विरोधी ज्ञानोंका आश्रयभूत पदार्थ परिणामी नित्य है।

न्याय शास्त्रमें, पृथिवीके परमाणु नित्य माने जाते हैं जबकि कार्यरूप पृथिवी अनित्य मानी जाती है। इसी प्रकार जल, अग्नि और वायुके परमाणु नित्य माने जाते हैं और कार्यरूप जल, अग्नि, वायु अनित्य माने जाते हैं। आकाशके परमाणु नहीं मानते परन्तु आकाशको नित्य मानते हैं।

सांख्य शास्त्रमें सत्, रजः, तमः ये तीन गुण मानते हैं। इनका परिणाम होता रहता है, महत्तत्त्वमें, अहंकारमें, महाभूतोंमें और अनेक नामरूपोंमें, परन्तु ज्ञान, क्रिया और जड़ताके द्वारा 'यह सत्' है अथवा 'यह रज है' अथवा 'यह तम है' इस प्रकार बोध बना रहता है।

इस प्रकार पृथिवी आदिके परमाणु एवं सांख्योंके गुण—ये परिणामी नित्यके शास्त्रीय उदाहरण भगवान् शंकराचार्यने यहाँ दिये।

अब यह जो परिणामी नित्य है वह एक दृष्टिसे परिणामी होता है और दूसरी दृष्टिसे परिणामी नहीं होता है। भूतकी आदि और भविष्यका अन्त बुद्धि नहीं समझ सकती, उसकी केवल कल्पना ही करनी पड़ेगी। बुद्धिको बनानेवालेकी बुद्धिमें क्या था, इसको हमारी बुद्धि कैसे जान सकती है? इसलिए तुम अपनी बुद्धिको 'अव्यापारेषु व्यापारम्'में मत लगाओ। जिसका ज्ञात होना शक्य नहीं है, उसके सोचनेसे भी प्रयोजन? तुम हो, इस समय तुम हो, इसलिए विचारणीय विषय तो यह है कि तुम जो इस समय हो वह क्या हो? तुम्हारे पास जाननेकी शक्ति है और तुम अपने प्रिय भी हो, इसलिए तुम विचार कर सकते हो कि तुम क्या हो?

जब तुम अपने स्वरूपका विचार करोगे तो देखोगे कि न तुम्हारा जन्म है न मरण, तुम न हिन्दू हो न मुसलमान, तुम न ब्राह्मण हो न क्षत्रिय, न मनुष्य हो न पशु; तुम न पापी हो न पुण्यात्मा, न सुखी हो न दुःखी। तुम्हारा न आना है न जाना है। तुम ऐसे अविनाशी हो कि तुममें यह सृष्टि चमके, चमककर मिट जाती है। तुम वह परिपूर्ण वस्तु हो कि जिसमें सृष्टिकी कहीं एक चिन्गारी दिखी और लुप्त हो गयी! तुम वह तत्त्व हो जिसमें किसी दूसरी चीजका होना शक्य नहीं है।

मनुष्यके मनमें दुःखको मिटानेकी इच्छा स्वाभाविक है, परन्तु उसको मिटानेके साधन अनेक हैं। जिस-जिस निमित्तसे दुःख आयेगा, उस-उस निमित्तसे उसे दूर करना पड़ेगा। दुःखी भी परिणामी नित्य है और उसका उपाय भी परिणामी नित्य है। दुःखको दूर करना तो नित्य है परन्तु दुःखको दूर करनेके उपाय एवं क्रिया अनित्य होते हैं। इसीसे धर्म भी परिणामी नित्य है।

सनातन-धर्मी लोगोंकी मान्यता है कि धर्म नित्य है और उसके फल सुख-दुःख अनित्य हैं। परन्तु धर्म है परिणामी-नित्य ही। कूटस्थ नित्य तो अपना आत्मा ही है। यही कारण है कि धर्मकी अभिव्यक्तिमें देश-देशका भेद होता है, काल-कालका भेद हो जाता है, आचार्य-आचार्यका भेद हो जाता है। संस्कृतियाँ जो हैं उनकी हमेशा आवश्यकता रहती है क्योंकि धर्मकी हमेशा आवश्यकता रहती है। धर्म नित्य है और प्रयोजनके अनुसार उसका रूप बदलता रहता है।

उपासना भी परिणामी नित्य है। उपास्य नित्य है, उपासनाकी आवश्यकता नित्य है। परन्तु वासनाके अनुसार उपासनाका प्रकार अनित्य है।

योगाभ्यासका फल, द्रष्टाका स्वरूपावस्थान नित्य है, उसकी आवश्यकता नित्य है, परन्तु विक्षेपकी प्रकृतिके अनुसार योगकी प्रक्रिया अलग-अलग होगी। इसलिए योग भी परिणामी नित्य है।

इस प्रकार धर्म, उपासना, योग परिणामी नित्य हैं। यह सम्पूर्ण प्रपञ्च भी परिणामी नित्य है, और अन्तःकरण भी परिणामी नित्य है। अभीष्ट परिणामके जो उपाय हैं वे भी अनित्य हैं और अनभीष्ट परिणामके निवारणकी जो युक्ति है वह भी अनित्य है।

परिणामी नित्य पदार्थ सदसत्से विलक्षण अनिर्वचनीय होता है।

अब कूटस्थ नित्यकी चर्चा करते हैं। कूट कहते हैं उस 'आयरन'को, जिसको निहायी बोलते हैं। निहायीपर अनेक जेवर गढ़े जाते हैं परन्तु वह ज्यों-की-त्यों रहती है। इसलिए अपरिणामी एकरसताके अर्थमें कूटस्थ शब्दका व्यवहार होता है। आत्मा कूटस्थ है। निहायीके समान इसके ऊपर भी अन्तःकरणकी वासनाके अनुसार अनेकों शक्ल-सूरत गढ़ी जाती हैं, उसीके अनुसार अनेक शरीर बनते, बदलते, बिगड़ते हैं, परन्तु आत्मा ज्यों-का-त्यों एकरस

अपरिणामी रहता है। ईश्वर मानो सुनार है, वासना आकृतिका हेतु है, उपादान सोना है, कूट आत्मा है। कर्मके अनुसार ईश्वर गढ़-गढ़कर अनेक अन्तःकरण, शरीर आदिकी रचना करता है।

आत्मा गुणके समान बदलता हुआ नित्य नहीं है, पृथिवी आदिके समान बदलता हुआ नित्य नहीं है, बल्कि यह पारमार्थिक है। परिणामी नित्य व्यावहारिक नित्य होता है और आत्मा पारमार्थिक नित्य है। **मृत्तिकेत्येव सत्यम्**। केवल मिट्टी ही सत्य है, घड़ा, सकोरा इत्यादि सत्य नहीं हैं।

'कूट' पहाड़की चोटीको भी कहते हैं जैसे -चित्रकूट। चित्रकूट = वह पर्वत जिसकी चोटियाँ चित्र-विचित्र हों। त्रिकूट = तीन शिखर-वाला पर्वत, जो लंकामें था। जैसे शिखरपर गर्मी, सर्दी, बरसातका कुछ असर नहीं होता, ऐसी ही आत्मा भी कूटवत् एक रस रहता है, सुखमें, दुःखमें, उपेक्षामें, अपेक्षामें, हर परिस्थितिमें।

कूटस्थ नित्यका व्यावहारिक स्वरूप मैंने श्री उड़ियाबाबाजी महाराजके जीवनमें देखा। बाबा जहाँ रहते वहाँ लोग खूब झाँझ बजाकर कीर्तन करते, स्त्रियाँ भी ओंकारका उच्चारण करती थीं और सभी वेद-मन्त्र भी बोलते थे। बाबासे कोई कहता : आप वेदान्तनिष्ठ समाधिनिष्ठ महात्मा इन अवैदिक व्यवहारोंको क्यों नहीं रोकते ? बाबा जवाब देते : 'हम स्वयं झाँझ बजाते नहीं, दूसरोंको झाँझ बजानेसे रोकते नहीं।' यही कूटस्थ नित्यका व्याव-हारिक स्वरूप है।

अब महाराज, बाबा गये एक सभामें। साथमें भक्तलोग भी थे। वहाँ एक दण्डीस्वामी बाबापर बरसे : तुम भ्रष्ट हो, मूर्ख हो, अवैदिक हो, पतित हो ! जो उनके मनमें आया कहते गये। बाबा बैठे चुप-चाप। लोगोंमें श्रद्धा बढ़ी। भक्तोंमें काना-फूसी हुई कि दण्डीस्वामीको जवाब दिया जाय ! बाबाने कहा कि यदि

किसीने प्रत्युत्तर दिया तो वे इस देशसे ऐसे चले जायेंगे कि फिर नहीं लौटेंगे। लोग चुप हो गये। बादमें जब वह दण्डी स्वामी मरने लगे तो उन्होंने बाबाको बुलाने आदमी भेजा कि 'बाबाका हमने अपमान किया था, उसकी क्षमा माँग लें।' बाबा गये भी, परन्तु उनके पहुँचनेसे पहलेसे ही वे दण्डी स्वामी मर गये। वैसे बाबा किसीके शवके साथ नहीं जाते थे परन्तु उनके शवके साथ गये। नावमें खूब कीर्तन हुआ। कांसकुटोंने खूब काँसे बजाये।

जैसे आत्मा सम्पूर्ण प्रपञ्चको सहन करता है वैसे ही जो महात्मा प्रशंसा एवं गाली दोनोंको सहन कर लेता है वह भी कूटस्थ नित्य ही है।

कूटका एक अर्थ 'झूठ' भी होता है जैसे झूठा गवाहके लिए कूट साक्षी कहा जाता है। इसलिए 'कूटस्थ'का अर्थ है कि जो झूठमें रहकर भी बिल्कुल सत्य हो।

**कूटेषु तिष्ठति इति कूटस्थः। कूटेषु मिथ्यात्वेन प्रतीयमानेषु तिष्ठति इति कूटस्थः।**

चारों ओर जिसके कूट घिरा हो सो कूटस्थ। रामचन्द्र कहाँ रहते हैं? बानरोंमें! शिवजी कहाँ रहते हैं? भूत-प्रेतोंमें। इसी तरह ब्रह्म कहाँ रहता है? मरनेवाले प्रपञ्चमें जो अमर रहता है, बदलनेवाली दुनियामें जो अपरिवर्तनशील रहता है, अनित्यमें जो नित्य रहता है, परिच्छिन्नमें जो परिपूर्ण रहता है, जड़में जो चेतन है, सद्वयमें जो अद्वय है। यही तो ब्रह्मकी विशेषता है।

कूटस्थ नित्य पदार्थमें पाँच बातें नहीं होतीं :

१. कूटस्थ नित्य 'उत्पाद्य' नहीं होता; अर्थात् घटकी तरह वह बनानेका नहीं होता।

२. कूटस्थ नित्य 'आप्य' नहीं होता। अर्थात् वह किसीसे माँगकर नहीं लाया जा सकता कि ब्रह्म हमारे पास नहीं है तो

चलो किसी महात्मासे माँग ले आयें। यह जो लोग शक्तिपातसे ब्रह्म-साक्षात्कारकी चर्चा करते हैं उसका वेदान्तके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। वह तो मायाजाल है, तन्त्रजाल है, जादू-टोना है, उधारी माल है। ब्रह्म आकाशवत् सर्वव्यापी है।

ठाकुर प्रसिद्ध नारायण सिंह उत्तर प्रदेशमें बड़े प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। वे हमारे पितामहके शिष्य थे। जब मैं दर्जा एकमें लघुकौमुदी पढ़ता था तो एक दिन उनके साथ जा रहा था। उन्होंने हमसे पूछा : 'बाबाजी, जब हम ऐसे हाथ हिलाते हैं तो यह जो पोल है वह हट जाती है या नहीं? घड़ेके चलनेसे क्या घड़ाका आकाश चलता है? या कि घट चलता है और पोल सब जगह रहती है?' मैंने कहा : 'घड़ेमें जो आकाश बन्द है वह तो घड़ेके साथ चलता ही है जैसे घड़ेमें बन्द पानी घड़ेके साथ चलता है।' तब उन्होंने बताया : 'नहीं बाबाजी, यह बात नहीं है। घड़ा ही चलता है, पोल सब जगह है, पोल नहीं चलती।'

इसी प्रकार आपका शरीर तो चलता है, विलायत जाये या और कहीं जाये; शरीर अन्तःकरण सहित तो चलता है, वह चाहे स्वर्गमें जाये या नरकमें, परन्तु यह आत्मदेव तो सर्वव्यापी आकाशवत् कूटस्थ हैं। वे कहीं आते जाते नहीं।

वैसे आकाशका दृष्टान्त वेदान्तमतसे नहीं है। श्रुतिने कहा—

आकाशवत् सर्वगतः च नित्यः।[1]

'आकाश जैसे सबमें है और नित्य है, ऐसे ही आत्मा सबमें है और नित्य है।' परन्तु श्रुतिने यह बात व्यावहारिक दृष्टिसे ही कही है। वेदान्तमतमें न आकाश सर्वगत है और न तो आकाश नित्य है। आकाश परिणामी है, यह बात श्रुतिने ही कही है :

१. शङ्कराचार्य प्रभृति आचार्योंके द्वारा उद्धृत मत श्रुति प्रचलित उपनिषदों-आरण्यकोंमें नहीं मिलता है। [ सम्पादक ]।

आकाशाद्वा वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः ( तै० उप० २.१.१ )

'आकाशसे वायु हुआ, वायुसे अग्नि और अग्निसे जल हुआ' इत्यादि। और आकाश सुषुप्तिमें नहीं रहता, समाधिमें नहीं रहता। मन जबतक जागता है तबतक आकाश दीखता है, जब नहीं जागता तो आकाश भी नहीं दीखता। अतः मनसे आकाशकी उत्पत्ति हुई है।

एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः ( तै० उप० २.१.१ )

यह श्रुति है। लोक व्यवहारकी दृष्टिसे 'आत्मा नित्य है और सर्वगत है' यह बात समझायी जाती है।

३. कूटस्थ नित्य विकारी ( विकार्य ) नहीं होता। जैसे घड़ा नमकसे गल जाता है। जन्म, मृत्यु, बढ़ना, घटना, बदलना और नाश हो जाना—ये सब विकार हैं। 'अयं घटः अस्ति'की तरह 'अयं आत्मा अस्ति' ऐसे यह अस्ति क्रियाका विषय नहीं होता क्योंकि वह साक्षी है। यह नियम है कि जो जिसको जानता है वह उससे अलग होता है। ज्ञेयसे ज्ञाता अलग होता है परन्तु ज्ञातासे ज्ञेय अलग नहीं होता! सभी भेद जाने जाते हैं इसलिए भेदका ज्ञाता आत्मा, साक्षी-भेदसे अलग है। विकारोंका साक्षी विकारोंसे अलग है।

४. कूटस्थ नित्य पदार्थ संस्कार्य नहीं होता। अर्थात् घड़ाकी तरह उसे पवित्र या सुसज्जित नहीं किया जा सकता। कारण कि आत्मामें अवयव ही नहीं है। निरवयवमें लेप कहाँ जो संस्कारकी आवश्यकता हो।

५. कूटस्थ नित्य पदार्थकी उपयोगिता नहीं होती। वह अपनेमें ही नित्यतृप्त होता है। यह आत्मदेव किसी काम नहीं आते—न रोजीके, न व्यापारके। आत्मा साकार होतो उसे चूम लें, चाट लें, छातीसे चिपका लें। समाधिरूप हो तो भी एक विशेष

आनन्दका अनुभव हो। धनरूप हो तो खाने—पीनेके काम आवे। कूटस्थ तो नित्य परम पुरुषार्थ है। आत्मासे अतिरिक्त जहाँ-जहाँ तृप्तिकी मान्यता है उसका निषेध कर देनेपर आत्मतृप्ति अनुभूत होती है।

ऐसा जो पारमार्थिक सत्य ( कूटस्थ नित्य ) आकाशवत् सर्वव्यापी, सर्वविक्रियारहित, निरवयव और नित्यतृप्त आत्म-पदार्थ है वह स्वरूपमें स्वयंप्रकाश है। केवल अविद्याके कारण ही वह नहीं दिख रहा है, अविद्या हटते ही उसकी प्रकाशमानता स्पष्ट हो जाती है।

**इदं तु पारमार्थिकं कूटस्थनित्यं व्योमवत्सर्वव्यापि, सर्वविक्रिया-रहितम्, नित्यतृप्तम्, निरवयवम् स्वयंज्योतिः स्वभावम्।**

वेद-वेदान्तमें जो ब्रह्मका वर्णन है वह वस्तु-स्थितिका वर्णन है, अर्थात् जगत्का मूलतत्त्व जैसा है वैसा ही उसका वर्णन है और जैसा उसका वर्णन किया है वैसा ही है। इस ज्ञानका फल यह होगा कि नहुयेमें जो तुम्हारी सत्य-बुद्धि भ्रान्तिके कारण हो गयी है और उसके कारण जो तुम्हें दुःख हो रहा है वह बुद्धि कट जायेगी, और दुःख मिट जायेगा।

ब्रह्मको जानकर यह बिलकुल नहीं होता कि आठो पहर मन-बुद्धि उसीमें लगे रहेंगे। इष्ट देवता जो हैं उनको यदि पहचान जाओ तो तुम्हारी मन-बुद्धिको बाँध लेंगे कि हमारे ध्यानमें बैठो। समाधिकी आदत पड़ जाय तो बार-बार समाधि लगाओगे, लगाये बिना रहा ही नहीं जायेगा। धर्म-कर्ममें रुचि हो जाय तो उसके किये बिना सुख नहीं मिलेगा। दुनियामें जो भी अभ्यास पड़ जाता है उसमें अभ्यास मुख्य हो जाता है और असलीयतका मजा चला जाता है। तुम जो बदलती हुई चीजोंको नित्य समझते हो क ये बनी रहेंगी और इनमें फँसे हुए हो तो ये सब परिणामी

नित्य हैं अर्थात् बदलते हुए नित्य हैं। उपयोगी होनेसे सर्वथा असत् नहीं है और यथार्थ सत्यमें न होनेके कारण ये सत् नहीं हैं। इसलिए ये सदसत्-विलक्षण अनिर्वचनीय व्यावहारिक सत् हैं।

इन बदलनेवाली चीजोंमें जो न बदलनेवाला तत्त्व है, जो इन्द्रियोंसे न मालूम पड़नेपर भी है, मनसे ध्येय न होनेपर भी जो है, बुद्धिका विषय न होनेपर भी जो है, ऐसी जो चिन्मात्र वस्तु है वही आत्मा है और वही सारी सृष्टि है। इसमें कहीं भी शोक, मोह, राग-द्वेष करनेका नहीं है। निर्द्वन्द्व जीवन्मुक्त भावसे विचरण करना चाहिए। हमारे पास कल कौन-कौन आये थे, यह देखनेमें भी तकलीफ होती है और कल कौन-कौन आयेगा यह तो मालूम है ही नहीं। इसलिए वर्तमानका मजा लेते हुए यह जीवन-नौका जैसे चल रही है, चलती रहने दो। गंगाजीके शुभ्र पावन प्रवाहमें अपनी नौका बहती जारही है, मार्गमें किनारेपर कहीं गन्दा नाला गंगाजीमें गिरता हुआ दिखायी देता है तो कहीं यमुनाका संगम होता है! यह दृश्य बदलते रहेंगे। इन बदलते दृश्योंको आप कूटस्थ साक्षी देख रहे हैं। दिक्के संकोच-विस्तारको और कालके क्षण और कल्पको और द्रव्यके कार्य-कारण-रूपको देखने-वाला आप जो कूटस्थ साक्षी है वही सबसे महान् हैं।

बचपनमें हमारे गुरुजीने हमें एक श्लोक रटाया था। श्लोक तो योगवासिष्ठका है—

ईश्वरात्सिद्धिनिर्णेता त्वं ततोऽपि महेश्वरः।
गुरोर्गुरुत्वनिर्णेता त्वं ततोऽसि गुरुर्गुरुः॥

'ईश्वर है या नहीं है, इसकी सिद्धि कौन करता है? आप। फिर तो आप ही महेश्वर हो। यह गुरु हमारे योग्य है कि नहीं है, इसका निर्णय कौन करता है? आप। फिर तो आप ही गुरुओंके गुरु हो।'

तो, यह जो आत्मा है वह 'इदं तु पारमार्थिकं कूटस्थनित्यम्'

है। वह 'अनवस्थेषु अवस्थितम्' है। दुनियाकी चीजें बदलती जा रही हैं, अवस्थाहीन हैं, और आत्मदेव कूटस्थ नित्य हैं—आकाशसे भी विशाल, कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों एवं उनके देवताओंसे भी महान्! इस आत्माको जानकर मनुष्य हीनभावसे मुक्त हो जाता है, सारा अभाव, सारा दारिद्र्य, सबसे मुक्ति! राजाके शरीरमें, इन्द्रके शरीरमें, जो कुछ भोग भोगे जा रहे हैं, वे सब हमारे ही ऐश्वर्यकी एक कणिका है!

**इन्द्र राजादिदेहेषु नानाभक्ष्यानि भक्षयन्।**

**यक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा वयस्यैर्वा योनेर्वा नोपजानाय स्मरन्निदम् शरीरम्।**

इन्द्र जो स्वर्गमें अमृत पी रहा है वह हमारे मनका एक कण अमृत पी रहा है। वह अमृत हमारे आनन्दकी एक कणिका है और वह इन्द्र हमारे मनोराज्यका एक पुरुष है। ये बड़े-बड़े विद्वान्, बड़े-बड़े तपस्वी, बड़े-बड़े महात्मा, जो कभी जाग्रत्में, कभी स्वप्नमें और कभी-कभी आँख बन्द होनेपर जाग्रत्में ही दिखायी पड़ते हैं, वे सब हमारे मनकी कणिकाएँ हैं! इतने महान् हम कूटस्थ-नित्य पारमार्थिक स्वरूप आत्मा!

'यह पाप लग गया रे, यह पुण्य हो गया रे, यह मर गया रे, यह विछुड़ गया रे, अरे हम नर्क स्वर्गमें जायेंगे रे, अरे, हम सुखी, हम दुःखी, हम शरीर भरमें'—ये सब अविद्याका विलास उस कूटस्थ आत्माको जाननेसे और जानने मात्रसे कट जाता है। हीनता, दीनता, संकीर्णता, राग-द्वेष, मोह, अस्मिता, अज्ञान सब कट जाते हैं और आत्माकी नित्य मोक्षरूपता प्रकट हो जाती है।

यह आत्मा **व्योमवत् सर्वव्यापी** है, माने निःस्पन्दरूप है। जैसे बीज है उसमें-से अंकुर निकलता है, फिर उसमें-से बीज निकलता है। यह बीज-वृक्षका व्यापार धारा परिणामी या प्रवाही

परिणामी है। परन्तु जैसे यह हाथ हिलता है तो कहाँ हिलता है? दिक्में हिलता है। इस हिलनेमें, कम्पनमें, जो पहले पीछेका क्रम है उसीका नाम काल है। तो काल परिस्पन्दी परिणामी है। पुनः मिट्टीसे घड़ा और घड़ेसे पुनः मिट्टी और पुनः सकोरा—यह उत्पादक परिणाम है। परन्तु आचार्यश्री कहते हैं कि यह जो आत्मा है, कूटस्थ नित्य, वह न तो बीज वृक्षके समान प्रवाही परिणामी है, न कालके समान परिस्पन्दी परिणामी है और न द्रव्यके समान उत्पादक परिणामी है, वह तो **आकाशवत् सर्वव्यापी** होनेसे सर्वविक्रियारहित है।

अभी हम पूना गये थे। वहाँ स्वामी शरणानन्दजी महाराज सीमित अहम् और असीमित अहम्की चर्चा करते थे। वे बोले: "जिसको मैं सीमित अहम् बोलता हूँ उसको आप यह मत समझ लेना कि मैं इस शरीरमें जो अहम्-अहम् हो रहा है उसको बोलता हूँ! तब किसको बोलता हूँ? उसको बोलता हूँ जो कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयको अपनी समझता है, उस समष्टि अहम्को मैं सीमित अहम् बोलता हूँ, क्योंकि वह सृष्टि देशमें, सृष्टि कालमें और सृष्टि द्रव्यमें सीमित है।" दूसरे शब्दोंमें, वेदान्तियोंके एक जीवको (हिरण्यगर्भको) वे सीमित अहम् बोलते हैं। यही उपासकोंका ईश्वर भी है। तब 'असीमित अहम्'का अर्थ यह है कि सृष्टि, स्थिति, प्रलयके साथ जिसका कोई सम्बन्ध नहीं है वही असीमित अहम् है। माने 'सीमित अहम्' तो हुआ 'ईश्वर' और 'असीमित अहम्' हुआ 'ब्रह्म'। और जिसको तुम 'जीव' बोलते हो वह न तो सीमित अहम् है न असीमित अहम् है, वह तो कुछ है ही नहीं; वह तो द्रव्य ही नहीं है।

यह जो हम अपनेको विकारावर्ती मानते हैं—कि हम बदल जाते हैं, हममें काम आता है, क्रोध आता है, लोभ आता है;

बचपन, जवानी, बुढ़ापा, जन्म, मरण आता है—तो ये सब विकार देहमें, मनमें आते हैं जैसे सृष्टिके किसी भी प्राणी-शरीरमें आते हैं, वे आप कूटस्थ आत्माको छूते तक नहीं हैं। आप तो सर्वविक्रिया-रहित हैं। परन्तु यदि आप देहमें अहम् करोगे तो विकार आपको लगेंगे।

छोड़ दो अपने देहको—उस समष्टि अहं ( ईश्वर )के आश्रित जो माताके पेटमें बच्चेका पालन-पोषण करता है और पेटसे बाहर आनेपर माताके स्तनोंमें दूध तैयार रखता है !

सन् १९४७ में मैरिनड्राइव, बम्बईमें स्वामी करपात्रीजी महाराजने यज्ञ कराया था। मैं उसमें सम्मिलित होनेके लिए वृन्दावनसे बम्बई आ रहा था। रास्तेमें खँडवापर हमारे भक्त लोग खूब सारा भोजन लेकर आये। भोजन कोई दस-बारह आदमियोंके लिए पर्याप्त था और हम थे कुल तीन-चार व्यक्ति। इसलिए शेष भोजन डिब्बेके सब यात्रियोंमें वितरित कर दिया। वहीं एक पंजाबी सज्जनने हमको एक सच्ची कथा सुनायी। वह कथा इस प्रकार थी :

किसी जंगलमें एक साधु थे। उनकी छोटी उम्र थी। अपने गुरुजीके साथ रहते थे। रोटी गुरुजी खिलाते थे। जब गुरुजी मर गये तो एक बुढ़िया उन्हें रोटी खिलाने लगी। फिर बुढ़िया भी मर गयी। तब उसकी जवान बेटी उसको रोटी देने आयी। उस युवक साधुने अभीतक कोई जवान स्त्री नहीं देखी थी। इसलिए उसके उन्नत वक्षःस्थलको देखकर उन्होंने पूछा कि यह क्या है ? लड़कीने बताया कि यह 'दूधी' है। जब मेरा बच्चा होगा तो इनका दूध वह पीयेगा। साधूने पूछा : क्या तेरे बच्चा है ? वह बोली : अभी नहीं है। अभी तो मेरा विवाह भी नहीं हुआ।

साधुका दिमाग घूम गया। सोचने लगा : जो बच्चा अभी

पैदा भी नहीं हुआ उसके लिए जिसने पहलेसे ही दूधकी व्यवस्था कर रखी है, वह क्या मेरे लिए इस जंगलमें रोटी नहीं देगा ? साधुने लड़कीको प्रणाम किया और उठकर—यह कहते चल दिया—'तुम जाओ, अब हमको ईश्वर ही रोटी देगा।'

स्त्रीकी नाभिसे बच्चेकी नाभिको जोड़ देना, यह कोई मामूली काम है ?

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ( ब्रह्मसूत्र २.२.१ )

जैसी रचना देखनेमें आती है उसको देखकर यह कहना बिलकुल गलत है कि अपने आप सब कुछ हो जाता है। जान-बूझकर गणितकी रीतिसे कोई करनेवाला ईश्वर अवश्य है ! मशीनको चलती देखकर यह कहना कि मशीन अपने आप चल रही है, गलत है। मशीनको चलानेवाला कोई चालक अवश्य है ! जब गर्भमें थे तब जिसने भोजन दिया, जब बच्चे थे तब जिसने भोजन दिया, वही जब बुड्ढे हो जाओगे तब भी देगा और वही अब भी दे रहा है !

यह मनमें जो मोह आता है उसके कारण परायेको तकलीफ देकर भी अपनेको सुख देना चाहते हैं ! लोभके कारण संग्रह करते हैं, कामके कारण अनाचार करते हैं, क्रोधके कारण हिंसा करते हैं। अरे भाई, कुछ सत्संगसे सीखो, कुछ लाभ उठाओ। जानो कि आत्मा सर्वविक्रियारहित है, निर्विकार है। जब ऐसा जानो तो जीवनमें निर्द्वन्द्व जीवन्मुक्तिका आनन्द आयेगा।

आत्मा नित्यतृप्त है। इसका अर्थ है कि आत्मा निरपेक्ष है। जो निरपेक्ष होता है वही नित्यतृप्त होता है। अपेक्षावानको ही शोक होता है। अपगतः इक्षा अपेक्षा=दर्शनशक्तिके लोपका नाम 'अपेक्षा' है। जिसकी नजर कमजोर हो जाती है उसको अपेक्षा होती है कि कोई हाथ पकड़कर ले चले, कोई रास्ता बतावे, कोई

खाना दे। जिसको सच्ची दृष्टि—समदर्शनको दृष्टि—प्राप्त नहीं है उसको दुनियाभरकी अपेक्षा रहती है। परन्तु जिसके पास यह दृष्टि है वह सबकी उपेक्षा (उप+इक्षा) कर देता है। जैसे भूखकी निवृत्ति होकर अपने आपमें तृप्तिकी अनुभूति होती है, उसी प्रकार अज्ञानके कारण जो इस सृष्टिके पदार्थोंके भावाभावमें बिखरा पड़ा मालूम पड़ रहा है वह अज्ञान-निवृत्तिके पश्चात् आत्मामें ही केन्द्रित अनुभूत होता है। नित्यतृप्तम्।

परमानन्द-स्वरूप तू नहिं तोमें दुःख लेश।

आत्मसुख किसी पुरुषार्थका अंग नहीं है। ध्यान उसको करना होता है जिसको विक्षेप मिटाना होता है। उपासना उसको करनी होती है जिसको इष्टको पाना हो या इष्टसे कुछ पाना हो। धर्म उसको करना होता है जिसको अधर्म मिटाना हो या स्वर्ग-प्राप्तिकी इच्छा हो। ये सब पुरुषार्थ अज्ञानके हो रहे हैं। यदि एक बार अज्ञान ही मिट जाय तो उसके बाद कोई कर्त्तव्य-भोक्तव्यका बोझ नहीं रह जायेगा।

क्रिया कर्ताके द्वारा होती है और उससे पाप और पुण्य दोनों होता है। विक्रिया कर्ता ( पुरुष )के बिना होती है। विक्रियामें पाप-पुण्य नहीं होता। जैसे बचपनसे जवानी, जवानीसे बुढ़ापा—यह विक्रिया है, सांस चलना, पसीना आना, ये विक्रिया हैं।

अपना आत्मा नित्य तृप्त है। इसमें न क्रिया है और न विक्रिया। कूटस्थ नित्य है यह। यह कोई अप्राप्त मोक्षकी प्राप्तिके लिए नहीं है। कुछ पानेके लिए आत्माको कुछ नहीं करना है, यह नित्य तृप्त है।

**निरवयवम्** : यह आत्मा अवयव रहित है, इसलिए इसमें कोई परिणाम नहीं है; देश कालकी व्याप्ति इसमें नहीं है।

अच्छा, तो ऐसे आत्माको जाननेके लिए ही कुछ क्रिया करें! बोले : नहीं। यह **'स्वयं ज्योतिस्वभावः'** है। असलमें सिर्फ पर्दा ही हटाना है, आत्मा तो स्वयं प्रकाश है ही। बुद्धिस्थ अज्ञानको वेदान्त-ज्ञानसे मिटा दो, आत्मा तो स्वयं प्रकाश है।

कालमें भूतकाल अप्रकाश है और वह स्मरणका विषय है। भविष्यत् काल भी अप्रकाश है क्योंकि वह कल्पनाका विषय है। केवल वर्तमान ही प्रकाशित होता है।

देशमें पूर्व, पश्चिम आदि तो प्रकाशित होता है परन्तु इनकी कल्पनाका जो अधिष्ठान है, पूर्ण देश, दिक् तत्त्व, वह प्रकाशित नहीं होता है। उसमें भी बुद्धिका आवरण काटना है।

सत्तामात्रमें जो अनेकता भास रही है वह सन्मात्रको न देखनेके कारण भास रही है। इस अज्ञानको भी काट दो।

देखो, तुम्हारा अपना आप जो है वह ब्रह्म है। परन्तु जब मालूम ही नहीं तो क्या बनना है। उसका ज्ञान होना चाहिए न! सिवाय अज्ञानके उसको ढकनेवाली और कोई चीज नहीं है। न वस्तु ढकती है, न कर्म, न वासना, न विक्षेप, न दुनिया। नाच-नाचकर तो लोग सुखी होते हैं विक्षेपमें। दुःख कहाँसे देगा विक्षेप? निर्बुद्धितामें यदि दुःख होता तो पागल हँसते क्या? बच्चे हँसते क्या? असलमें आप स्वयं सुखस्वरूप हैं। आप जिसको देख लें वह सुख हो जाय, जिसको छू लें वह सुख हो जाय! आप नित्य तृप्त और स्वयंप्रकाश हैं। केवल एक अज्ञानका पर्दा है। वह अज्ञान न ब्रह्ममें है, न ईश्वरमें और न आत्मामें है। यह जो जीवनमें सब कामोंको करनेवाली अक्ल है इसमें जो अपने ब्रह्मपनेका अज्ञान है वह दुःख दे रहा है। उस अज्ञानको मिटा दो बस! ●

( ४.१७ )

## उत्तर पक्ष-३

# कूटस्थ नित्य आत्मा अशरीर मोक्ष है

**मूलभाष्य :**

**यत्र धर्माधर्मौ सह कार्येण कालत्रयञ्च नोपावर्तेते। तदेतदशरीरत्वं मोक्षाख्यम्। 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्यात् कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च' ( कठ० १.२.१४ ) इत्यादि श्रुतिभ्यः।** ( क्रमशः )

**भाष्यार्थ :** ( ऐसे कूटस्थ नित्य ) जिस परमात्मामें धर्म और अधर्म अपने कार्य सुख और दुःखके साथ तीनों कालोंमें भी सम्बन्ध नहीं रखते, उस इस अशरीर आत्माको मोक्ष कहते हैं। 'धर्मसे अन्य, अधर्मसे अन्य, कृत ( कार्य )से अन्य और अकृत ( कारण )से अन्य, भूतसे अन्य और भविष्यसे अन्य' इत्यादि श्रुतियोंसे यह मोक्षका स्वरूप सिद्ध है।

यह जो 'पारमार्थिक, कूटस्थ नित्य, व्योमवत्सर्वव्यापी, सर्वविक्रियारहित, नित्यतृप्त, निरवयव, स्वञ्ज्योतिःस्वभाव' आत्मा है उसमें धर्म और अधर्म अर्थात् पुण्य और पापका कोई सम्बन्ध नहीं है और धर्मका फल सुख तथा अधर्मका फल दुःखका भी कोई सम्बन्ध नहीं है।

जिसके मनमें भाव दूषित आ जाता है वह यदि अच्छा काम भी करे तो उससे पापकी उत्पत्ति होती है। मनुस्मृतिमें कहा है:

**न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ( २.९७ )**

चाहे दान करो या यज्ञ करो अथवा कुँआ, बावली बनवाओ, भाव शुद्ध चाहिए। किसी आदमीने कुँआ बनवाया वहाँ जहाँसे लोग निकलते थे। कुँआ बनवानेका काम तो अच्छा किया, परन्तु उसका मन्तव्य यह था कि उसका दुश्मन जो अन्धा था वह जब उधरसे निकलेगा तो कुँआमें गिर जायेगा! इसलिए भाव दूषित होनेसे वह धर्म-कार्य नहीं रहा, अधर्म हो गया।

शास्त्रमें तो यहाँ तक निर्णय किया हुआ है कि :

**यं क्रियमाणं तु आर्याः प्रशंसन्ति स धर्म इति**

**( आपस्तम्ब धर्मसूत्र १.७.२० )**

धर्मकी पहिचान है कि जिसको करते समय श्रेष्ठ पुरुष प्रशंसा कर दें। श्रेष्ठ पुरुष माने नेता लोग नहीं; जो लोगोंका श्रेय चाहते हैं वे श्रेष्ठ हैं।

मनुस्मृतिका कहना है कि जिसमें धर्म न हो उस अर्थ और कामका भी परित्याग कर देना चाहिए और जिस धर्मानुष्ठानसे दुःख होता हो और लोकमें जिसकी निन्दा होती हो उसका नाम धर्म भी हो तो भी नहीं करना चाहिए ( ४.१७६ )। वर्तमानमें लोकनिन्दित और परिणाममें दुःखदायी धर्म भी नहीं करना चाहिए। कभी धर्म भी दुःखका हेतु हो जाता है और कभी अधर्म भी सुखका हेतु हो जाता है परन्तु ये जो आत्मदेव हैं वह धर्माधर्म तथा सुख-दुःखसे बिलकुल न्यारे हैं।

**यत्रधर्माधर्मौ सह कार्येण कालत्रयञ्च नोपावर्तेते।**

यहाँ आचार्यने 'कालत्रयञ्च नोपावर्तेत' कहकर आत्मामें जन्म-

मृत्यु काट दिया। 'धर्माधर्म' काटनेसे आत्मामें कर्ता, कर्म और कर्मफल काट दिया। अर्थात् धर्माधर्मौ आत्मानं न स्पृशतः = धर्माधर्म आत्माको नहीं छूते हैं। इस प्रकार इस कथनमें-से यह बात निकली कि कर्ता, कर्म, कर्मफल ( सुख-दुःख ) और सुख-दुःखका भोगायतन शरीर ( अपने जन्म-मरण सहित )—ये कोई मौलिक या तात्त्विक वस्तु नहीं हैं, वे केवल नाम-रूप हैं। इसीसे जब आत्माके विज्ञानका प्रश्न आता है तो ऐसे पूछते हैं :

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् ।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥
( कठ० १.२.१४ )

'( नचिकेताने पूछा ) जो धर्मसे पृथक्, अधर्मसे पृथक् तथा इस कृत-अकृत रूप प्रपंचसे पृथक् है और जो भूत और भविष्यसे भी अन्य है—ऐसा आप जिसे देखते हैं वही मुझसे कहिये।'

हमारे प्राचीन महापुरुष सबको वेदान्त सुनानेकी चीज नहीं मानते थे। देखो, कर्म तो करते हैं भोगकी प्राप्तिके लिए और शरीर तथा परिवारके पोषणके लिए; प्रेय है अपने शरीर और परिवारमें, और 'मैं' भी बुद्धिसे सोच-विचार करके भी किसी विपर्ययमें ही बैठा हुआ है। धन कमानेमें, भोगकी वस्तुएँ इकट्ठा करनेमें, स्त्री-पुत्रमें बुद्धि लगी है और प्यार लगा है संसारमें क्योंकि सारा कर्म उसीके लिए होता है। थोड़ी देरके लिए वेदान्तकी बहुत ऊँची बात सुन लेते हैं तो वह भीतर प्रवेश नहीं करती। इसीसे पहले महात्मा लोगोंने मर्यादा रखी थी कि सामान्य धर्मकी मर्यादा तो सबको पालन करनी चाहिए और भगवान्‌की भक्ति भी सबको करनी चाहिए। जो विशेष प्रकारके व्यक्ति हों उन्हें विशेष धर्मका पालन करना चाहिए और योगका अनुष्ठान करना चाहिए। परन्तु जबसे वैराग्य हो मनमें, तब ब्रह्मजिज्ञासा

सच्ची होती है। नहीं तो महाराज, रास्ता चलते पूछ बैठते हैं कि स्वामीजी, जरा तत्त्वकी बात सुना दो। हमलोग भी कह देते हैं कि भाई, तुम्हीं तत्त्व हो। इसमें उनको भी संतोष हो जाता है और हम लोगोंको भी। हो गया 'असि भी ब्रह्म तुसी भी ब्रह्म।' इसमें कोई वस्तुका साक्षात्कार हो जाता हो सो बात नहीं है। जब धर्म, अर्थ, काम, उपासना और उसका फल तथा योगाभ्यास और उसके फलसे भी वैराग्य हो जाता है तब ब्रह्मजिज्ञासा सच्ची होती है। नींदमें जो प्रत्यक्ष अज्ञान है उसको तो समझते नहीं हैं, उसीके कुछ बच्चे-कच्चे सपनेमें रहते हैं और कुछ जाग्रत्में रहते हैं। ऊँघते-ऊँघते ही सृष्टि देख रहे हैं। इसलिए जब वेदान्तकी बहुत ऊँची बात सुननेको मिलती है तो धारण नहीं होती। परन्तु जब आप वेदान्त सुनानेकी कहोगे तो वह तो ईमानदारीसे ही सुनाना पड़ेगा, भले वह किसीको धारण होता हो या न होता हो।

धर्म होता है इन्द्रियोंसे मनकी भावना जोड़कर और उसमें कर्म और वस्तु लगती है और वह अनेकरूप होता है इसलिए उसका फल भी अनेकरूप होता है। उपासना एक इष्टदेवकी होती है इसलिए उसमें इष्टकी प्राप्तिरूप फल एक होता है। तत्त्व न एक है और न अनेक; वह तो अद्वय है और वह अपनी आत्मासे अभिन्न है। इसलिए तत्त्वसाक्षात्कारके लिए ज्ञानकी आवश्यकता होती है।

ब्रह्म नित्यतृप्त है और परमानन्द स्वरूप है। यदि परमानन्द-स्वरूप न हो तो ब्रह्मको प्राप्त करना पुरुषार्थ न हो। ऐसे ब्रह्मको ढूँढने जानेकी जरूरत नहीं है, क्योंकि वह सबकी आत्मा है।

मोक्ष किसी ग्राम या वनमें नहीं रहता। अविद्याके कारण हृदयमें जो चिजज्ड़-ग्रन्थि बन गयी है उसका छूट जाना ही मोक्ष है। असलमें यह भी मोक्ष नहीं है। अविद्यानिवृत्तिसे उपलक्षित

आत्मा मोक्षस्वरूप है। उसे न धर्म करके पाना है, न उपासना करके प्रसन्न करना है, न योगाभ्यास करके उसमें बैठना है, न उसके लिए कुछ द्रष्टा-स्रष्टा होना है। वह तो केवल अज्ञानके कारण अज्ञात-अप्राप्त मालूम पड़ता है; इसलिए वह वास्तवमें अप्राप्त नहीं है। ज्ञानसे अज्ञान मिटा तो नित्यतृप्त परमानन्दस्वरूप अपना आत्मा ही है।

ठीक है, परमानन्द ही पुरुषार्थ है और आत्मा ही परमानन्द है। परन्तु विद्यमान वस्तु भी यदि प्रतीयमान न हो तो वह पुरुषार्थ नहीं हो सकती। अतः यदि अपना आत्मा ही परमानन्द है तो उसे भी मालूम तो पड़ना ही चाहिए, तभी वह पुरुषार्थ हो सकता है!

पहले महात्मा लोग प्रचारक नहीं होते थे। नगर-नगरमें जाकर सत्संग-भवन बनाकर, लोगोंको पर्चे बाँटकर बुलाकर 'तुम ब्रह्म हो' यह उनके कानमें नहीं ठूँसा करते थे। वे लोग तो पहाड़ों-पर, जंगलोंमें, गंगा-किनारे रहते थे। जब कोई एक-दो वर्ष उनके पास जाकर रहता था, खुशामद करता था, तब कहीं कुछ बताते थे। वे किसीका धर्म, उपासना या योगका साधन छुड़ानेके लिए शहरमें नहीं आते थे। जो उन साधनोंको करके भी ठनठन गोपाल रह जाता था वह उनके पास जाता था और कहता था 'बाबा, अभी तो कुछ मिला ही नहीं, जो सच्ची चीज है उसको तो बताओ!'

तो यह जो नित्यतृप्त निरवयव आत्मा है उसमें धर्माधर्मकी पहुँच नहीं है। अधर्म तो किसीका पुरुषार्थ है ही नहीं। भगवान्‌ने अधर्मको बनाया ही इसलिए था कि लोगोंको संसारसे वैराग्य हो। और धर्मका अर्थ होता है संयम—कर्म, भोग, वाणी और संग्रहमें संयम। अधर्मका घड़ा जब भर जाता है तब वह असंयमके रूपमें

प्रकट होने लगता है। जिसका जोवन नियन्त्रित नहीं है वह बहुत दुःख पायेगा। असंयम उसके भावी दुःखका संकेत है। धर्म सुखका हेतु है। अच्छा करो, लोग भी अच्छा समझेंगे, विश्वास करेंगे। धर्म क्रियाके रूपमें होता है तो वह सार्वजनिकरूपसे देखा जा सकता है। धर्म अपने जीवनमें रहना चाहिए और लोगोंको मालूम भी पड़ना चाहिए कि हम धर्मात्मा हैं। श्रुति है :

**लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति** ( महानारायण २२.१ )

जब लोगोंको विश्वास होता है कि यह धर्मात्मा है तो वे उसके पास आते हैं, उसका विश्वास करते हैं, उसको शरण लेते हैं। इसलिए अधर्मका त्याग और धर्मका अनुष्ठान जीवनमें बहुत जरूरी है। पर जो धर्मका फल सुख है वह उतना ही मिलेगा जितना तुमने धर्म किया है। अर्थात् धर्मका फल सीमित होता है। इसलिए धर्म करो परन्तु धर्मका फल मत चाहो।

धर्ममें निष्कामता आवेगी तब क्या होगा? असलमें धर्मका फल लड्डू पाना या स्वर्गमें अप्सरा और सोमरस पाना नहीं होता। निष्कामता ही धर्मका फल है—माने अन्तःकरणका वासनारहित होना। तब अमृतत्वके साथ इसका विनियोग हो जायेगा।

धर्मका फल मोक्ष नहीं है। धर्मका फल सीमित, अनुष्ठानसाध्य, अनेक इन्द्रियोंसे किया जानेवाला, अनेक क्रियारूप; फिर इसका फल नित्य कैसे हो सकता है? फल नहीं चाहोगे तो निष्कामतारूप एक फल होगा, और यदि फल चाहोगे तो इससे मोक्षरूप फलकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

यदि मोक्ष पाना है तो धर्मका कर्ता जो जीवात्मा है उससे भी अलग होना पड़ेगा। माने धर्मकी क्रिया और धर्मका सुख-भोगरूप फल इनसे तो अलग होना ही पड़ेगा, धर्मका निष्कामता-

रूपी फल जिस अन्त:करणमें होता है उससे भी जुदा होना पड़ेगा। **अन्यत्रधर्मात् अन्यत्राधर्मात्** ( कठ० उप० १.२.१४ )

अन्त:करणमें क्रिया भावनारूप जो धर्म है उसकी धारा बहने दो; और भाव तथा इष्टदेवके रूपमें उपासनाकी धारा बहने दो; योगाभ्यासके द्वारा अन्त:करणको विक्षेपसे मुक्त करके समाधिस्थ होने दो। अन्त:करणकी धाराको ही छोड़ दो और अन्त:करणका जो साक्षी है उसको पकड़ो। वह धर्म; अधर्म, धर्माधर्मका कर्ता, क्रिया और कर्मसे अलग है, वह अन्त:करणसे ही अलग है। यह बात तो तुम युक्तिसे ही समझ जाओगे। परन्तु 'वह साक्षी मैं ब्रह्म हूँ' यह बात बिना वेदान्तके समझमें नहीं आयेगी। **तत्त्वमसि = त्वं साक्षी तद् ब्रह्म असि।**

**श्रद्धास्नेहः शेमुषीपात्रमेषा वृत्तिर्वर्त्तिः ज्योतिरात्मा प्ररूढः।**
**ध्वान्तो विद्याः तद्विमुक्तिर्विमुक्तिः साक्षी ब्रह्मेत्येव वेदान्ततत्त्वम् ॥**

वेदान्तका सार इतना ही है कि : श्रद्धा तेल है, बुद्धि पात्र है, ब्रह्माकारवृत्ति उस दीपककी बाती है, वृत्त्यारूढ़ आत्मा ज्योति है, वह ब्रह्मविद्या अविद्यान्धकारको नष्ट करनेवाली है और अविद्यान्धकारनिवृत्तिसे उपलक्षित इन सबका साक्षी आत्मा ब्रह्म है।

तो अनेक क्रियाकारक-फलरूप धर्म है; एकाकार वृत्तिरूप उपासना है; निर्वृत्तिकयोग है; एक अन्त:करणका साक्षी द्रष्टा है। तथा साक्षी स्वयं अद्वितीय ब्रह्म है। इसमें सब कुछ बिना हुए ही भास रहा है।

बहिरंग धर्म है, अन्तरंग उपासना है और परम अन्तरंग योग है। परन्तु ये तीनों धर्म ही हैं क्योंकि ये कर्ताके द्वारा साध्य हैं। जो किया जाता है सो धर्म होता है, परन्तु इसका फल विनाशी होता है। और यह जो मोक्ष है वह अविनाशी है : **कालत्रयञ्च नोपावर्तेत।**

बौद्ध लोग एक क्षण वस्तुकी स्थिति मानते हैं। नैयायिक दो क्षण मानते हैं (इसीसे उनको अर्धवैनाशिक बोला जाता है)। किसी-किसी वस्तुकी तीन क्षण भी स्थिति मानते हैं। काल वर्तमान है और सत् विद्यमान है। इसलिए जो मोक्षस्वरूप आत्मा है वह वर्तता हुआ—भूत, भविष्य, वर्तमान होता हुआ, कार्य-कारणरूप होता हुआ, नहीं है। वह तीनों कालमें एकरस विद्यमान रहता है : **कालत्रयञ्च नोपावर्तेत।**

यदि आप सन्मात्रको जानते हैं तो आप किसीके विरोधी नहीं हो सकते। सत्का जीवन अविरोधी जीवन है, चित्का जीवन अविरोधी जीवन है, आकाश अविरोधी है, वह न घटको बनानेकी आज्ञा देता है, न रखनेका अनुरोध करता है, न फोड़नेका विरोध करता है। चित् प्रकाशक है, रोशनी है, वस्तुको ज्यों-का-त्यों प्रकाशित करना एकमात्र काम है उसका। भंजन कर्ताका काम है, वह न सत्का काम है न चित्का काम है। ये जो समाज-भंजन, राष्ट्र-भंजन, लोक-भंजन, धर्म-भंजन, शासन-भंजन करनेवाले हैं उनका जीवन विरोधों और संघर्षोंसे भरा है।

आत्मामें न वर्तन है, न उपवर्तन है। देशमें वर्तमानता भी है और विद्यमानता भी है। देशमें पूर्व-पश्चिम होना वर्तनमानता है और देशकी विद्यमानता सन्मात्रसे एक है, अपने अधिष्ठानसे एक है क्योंकि उसका विस्तार ब्रह्ममें कल्पित है। इसी प्रकार कालमें आज-कल-परसों, भूत-भविष्य-वर्तमान, वर्तमानता है और यह द्रव्यकी अपेक्षासे कल्पित है; और कालकी विद्यमानता अपने आधारभूत सन्मात्रसे एक है।

इसलिए देश-काल और द्रव्य आत्माको स्पर्श नहीं कर सकते। यह जोड़ना और तोड़ना अपूर्ण बुद्धिका लक्षण है। जो जोड़-तोड़

रहा है वह विद्यमान नहीं है, वह वर्तमान है। वह सत् नहीं है, असत् मिश्रित सत् है।

यह ब्रह्म जो है प्रकाशमात्र देता है। विद्याको भी प्रकाशित करता है और अविद्याको भी। साक्षी प्रकाशमात्र है, ब्रह्म अधिष्ठान-मात्र है। तोड़ता-फोड़ता हुआ काल दौड़ता है। यह ब्रह्मका काम नहीं है। देश अपने आप ही कहीं बाइबिल, कहीं कुरान, कहीं वेदको बिठा देता है। काल कभी किसी शास्त्रकी महिमाको बढ़ा देता है कभी किसीकी।

'आगम' का अर्थ ही है आने-जानेवाला। काल शास्त्रकी व्यवस्था करता है। परमात्मदेव अखण्ड हैं। जो उससे एक हो गया उसके लिए :

मुझे वेद पुरान कुरान से क्या मुझे सत्य का पाठ पढ़ा दे कोई।
मुझे मन्दिर मस्जिद जाना नहीं मुझे प्रेम का रंग चढ़ा दे कोई॥
जहाँ ऊँच या नीच का भेद जहाँ जात या पाँत की बात नहीं।
न हो मन्दिर मस्जिद चर्च जहाँ न हो पूजा नमाज़ में भेद कहीं॥
जहाँ सत्य ही सार हो जीवनका रिधवार सिंगार हो त्याग जहाँ।
जहाँ प्रेम ही प्रेमकी सृष्टि मिले चलो नावको ले चलें खेके वहीं॥

रस ही रस, प्रेम ही प्रेम, आनन्द ही आनन्द !

जहाँ ज्ञानको टुकड़े-टुकड़े करनेवाला देश है, जहाँ ज्ञानके टुकड़े-टुकड़े करनेवाला काल है और जहाँ ज्ञानके टुकड़े-टुकड़े विषय हैं, वहाँ असली ज्ञान नहीं है। ये टुकड़े करनेवाले अपना काम कर रहे हैं, उनको ब्रह्मके साथ मत जोड़ो।

तदेतदशरीरत्वं मोक्षाख्यम्।

यह जो अशरीर ब्रह्म है, असलमें उसीका नाम मोक्ष है।

बनारसमें संस्कृत विश्वविद्यालयके डायरेक्टरने हमसे प्रश्न

किया कि महाराज, भक्ति और मुक्ति दोनों कहाँ तक साथ-साथ चल सकती हैं। मैंने कहा : "भक्ति अन्तःकरणमें भगवदाकार वृत्तिकी धारा है, उसकी व्यावहारिक या प्रातिभाषिक सत्ता है। और मुक्ति जो है वह अविद्या निवृत्तिसे उपलक्षित आत्माका स्वरूप है, और वह परमार्थ सत्से एक है न्यारी नहीं है। एक सत्तामें जब दो वस्तु होती हैं तब उनका विरोध होता है, परन्तु जब वे दो सत्तामें हैं तब उनमें विरोध कहाँ? सपनेकी बाढ़से जाग्रत्‌का मकान नहीं डूबता और जाग्रत्‌के अन्नसे सपनेकी भूख नहीं मिटती। भक्ति व्यक्तिगत अन्तःकरणमें बहती हुई रसमयी, मधुमयी, लास्यमयी धारा है; वह हमारे अन्तःकरणकी एक रसमयी सम्पत्ति हैं; मुक्ति, आत्मा और ब्रह्मकी एकताके ज्ञानसे अविद्यानिवृत्ति हो जानेपर अपना स्वरूप है! दोनों अलग-अलग सत्ताओंमें होनेसे निर्विरोध हैं :

**आपसमें सम सत्ता जिनकी। लखि साधक बाधकता तिनकी॥**

जैसे भूख प्यासकी धारा और भोजनकी धारा हमारे व्यक्तिगत शारीरिक जीवनमें चलती है और उससे हमारे नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं पड़ता, इसी प्रकार हमारे अन्तःकरणकी धारामें भक्ति और रस रहता है और उससे हमारे मुक्त स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं पड़ता।"

अशरीर आत्माका नाम ही मोक्ष है। वह नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त एक रस है।

आत्माकी अशरीरता क्या है? स्थूल, सूक्ष्म, कारण—तीन शरीरोंका विवेक करो। स्थूल शरीर माने, हड्डी चाम, मांसका बना यह दिखायी देनेवाला शरीर। सूक्ष्म शरीर अर्थात् मनोवृत्तियोंसे बना शरीर। कारण शरीर किसी भौतिक उपादानका बना नहीं होता। असलमें अज्ञानका नाम ही कारण शरीर है।

योगी लोग कहते हैं कि 'अब हम कारण शरीरमें स्थित हो गये हैं।' वे तो कारणके भी बहुत भेद बताते हैं—कारण, महा-कारण, परिकारण, अतिकारण। ऐसे ही मोक्षके भी कई भेद बता दिये : निर्वाण, महानिर्वाण, परिनिर्वाण, अतिनिर्वाण। माने दीया बुझना ( निर्वाण ) भी चार तरहका! हे भगवान्! जब दीया बुझना होगा तो बुझ ही जायेगा, उसमें 'तरह' क्या?

पहले विवेक कर लो कि शरीर क्या और अशरीर क्या? बिना समझे आँख बन्द करके कहोगे कि 'मैं अशरीर हूँ' तो अशरीर शब्दका ही ध्यान होगा, अशरीर वस्तुका ध्यान नहीं होगा, क्योंकि शरीर, अशरीर वस्तुका विवेचन तो तुमने किया ही नहीं।

असलमें अपना आत्मा जो है वह दो शरीरी ( स्थूल, सूक्ष्म )-से रहित है, परन्तु इन्हीं दो शरीरोंके साथ जो संसर्गाध्यास और अर्थाध्यास है ( शरीरको मेरा मानना संसर्गाध्यास है और मेरे शब्दवाच्य शरीर सच्चे हैं, यह मानना अर्थाध्यास है ) तथा इनसे उत्पन्न जो ज्ञानाध्यासरूपी भ्रम प्रमा है कि 'यह शरीर मैं हूँ'—ये तीनों अध्यास जिस अविद्याके कारण हैं उस अविद्याका नाम ही कारण शरीर है।

आत्माको ब्रह्म न जानना अविद्या है और अपनेको परिच्छिन्न वस्तु मान लेना यह ज्ञानाध्यास है। परिच्छिन्न वस्तुको अपनी मानना संसर्गाध्यास है और सच्ची मानना अर्थाध्यास है। केवल न जानना ही कारण शरीर है। कारण शरीर नामका कोई पदार्थ नहीं है।

तब अपनी अशरीरताको जानना क्या हुआ? न मैं यह हड्डी, मांस, चामका शरीर हूँ न यह मेरा है। न मैं धर्माधर्मरूप मनो-वृत्तिका बहता हुआ सूक्ष्मदेह हूँ, न यह मेरा है। न तो ये देह सच्चे हैं, न मेरे हैं और न मैं हूँ।

पहले यह देह सच्चे नहीं हैं यह जान लें तब इनमें मैं-मेरापन छोड़ेंगे, ऐसा नहीं। मिथ्या जान लेनेपर छोड़ना ही क्या रहेगा? असलमें साधन है इनमें मैं-मेरापनको छोड़ देना। इसका फल होगा इनमें सच्चाई छोड़ देना।

शरीरका अर्थ है किसी कालमें पैदा होना, किसी कालमें मरना, किसी स्थानमें होना, कोई वस्तु होना (पंचभूतका संघात) वासनाके अनुसार उसकी आकृति होना और प्रारब्धके अनुसार उसमें सुख-दुःख होना। अपना आत्मा जो अशरीर है वह सन्मात्र है, चिन्मात्र है, आनन्दमात्र है। अपनी अशरीरताको जानना ही मोक्ष है—इसका अर्थ है कि इस आत्मामें न कभी बन्धन हुआ है और न कभी बन्धन होगा। इसलिए मोक्ष भी न कभी उत्पन्न होता है, न कभी है और न कभी होगा—माने आत्मा मोक्ष स्वरूप ही है। नचिकेताने यही बात पूछी थी—

अन्यत्रधर्मात् अन्यत्राधर्मात् अन्यत्रास्मात् कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद॥
(कठ० उप० १.२.१४)

'जो धर्मसे, अधर्मसे, कार्यसे, कारणसे, भूतसे भविष्यसे अन्य एवं परे है उसको आप मेरे लिए कहिये।'

थोड़ेमें सन्तोष कर लेनेसे अज्ञानके बन्धन कटते नहीं हैं। क्या ऐसे लोग दुनियामें नहीं हैं जो एक लोटा पानी शंकर जी पर चढ़ाकर आते हैं और समझते हैं हम बड़े धर्मात्मा हैं? क्या भूत भैरवकी उपासना करके सन्तुष्ट होनेवाले लोग नहीं हैं? क्या थोड़ा-सा आसन-प्राणायाम करके बाजारमें मञ्चपर दिखानेवाले योगिराज दुनियामें नहीं हैं? क्या थोड़ी-सी सिद्धि-विद्धि हिप्नोटिज्म करके जीविका चलानेवाले लोग दुनियामें नहीं हैं?

यदि अपनी आत्माकी अद्वितीयताको साक्षात् किये बिना किसी छोटी-मोटी उपलब्धिमें ही सन्तुष्ट हो गये तो तुम ठगे गये हो। धर्म करो, पर धर्मसे जो परे है उसे देखो। अधर्म मत करो परन्तु अधर्मसे भी जो परे है, सुखसे दुःखसे भी जो परे है उसे देखो। जगत् कार्य है, प्रकृति या प्रकृत्यावच्छिन्न चैतन्य इसका कारण है। परन्तु तुम तो कार्य और कारणके प्रकाशकको देखो! भूत, भविष्य, वर्तमानकी धारामें जो बह रहा है उसको बह जाने दो। कूटस्थ अधिष्ठान है, जो स्वयंप्रकाश आत्मा है, उसको देखो! उसी ब्रह्मकी जिज्ञासा यहाँ 'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा'के द्वारा प्रस्तुत की गयी है :

अतस्तद्ब्रह्म यस्येयं जिज्ञासा प्रस्तुता।

यह जो ब्रह्म है वह न धर्माधर्मका कर्ता है, न फल है और न धर्माधर्म कर्म है। वह न कारण है जो कार्यके रूपमें फूटता है और न कार्य है। ऐसे ब्रह्मकी जिज्ञासा है यह।

विवरण प्रस्थान मानते हैं कि 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'में यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते०''''तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म—जो जगत्का मायासे विवर्ती अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है, उस ब्रह्मकी जिज्ञासा है। माने 'तत्' पदार्थकी जिज्ञासासे ब्रह्मसूत्र प्रारम्भ हुआ।

भामती प्रस्थान मानते हैं कि 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः०''''में जिस त्वं-पदार्थका स्वरूप है, उसकी जिज्ञासा प्रस्तुत है।

अब देखो दोनों शंकर भगवान्के चेले और लड गये न? बोले : नहीं, लड़ें नहीं, दोनों 'तत्' और 'त्वम्'की एकताकी सिद्धिमें जुट गये। जब आत्मा ब्रह्म है और ब्रह्म आत्मा है यह बात प्रारम्भ हो गयी तो चाहे 'तत्'की जिज्ञासा करो चाहे 'त्वम्'की बात एक ही हो गयी। ●

( ४.१८ )

# उत्तर पक्ष—४

## कर्माङ्ग मोक्षोपदेश अयुक्त है

**मूलभाष्य :**

**अतस्तद् ब्रह्म यस्येयं जिज्ञासा प्रस्तुता, तद्यदि कर्त्तव्यशेषत्वेनोपदिश्येत, तेन च कर्त्तव्येन साध्यश्चेन्मोक्षोऽभ्युपगम्येत, अनित्य एव स्यात् ।**

**तत्रैवं सति यथोक्तकर्मफलेष्वेव तारतम्यावस्थितेष्वनित्येषु कश्चिदतिशयो मोक्ष इति प्रसज्येत । नित्यश्च मोक्षः सर्वैर्मोक्षवादिभिरभ्युपगम्यते, अतो न कर्त्तव्यशेषत्वेन ब्रह्मोपदेशो युक्तः ।**

( क्रमशः )

**भाष्यार्थ :** इसलिए ( कर्मफलसे विलक्षण होनेके कारण ) वह ( अशरीर मोक्ष ) ब्रह्म है जिसकी यह जिज्ञासा प्रस्तुत है। यदि उस ब्रह्मका कर्मके अंगरूपसे उपदेश किया जाय और उस कर्मसे मोक्ष-साध्य स्वीकृत किया जाय तो वह मोक्ष अनित्य ही होगा। उस दशामें वर्तमान यथोक्त अनित्य कर्मफलोंमें-से कोई अतिशय मोक्ष है, ऐसा मानना पड़ेगा। परन्तु सब मोक्षवादी यह स्वीकार

करते हैं कि मोक्ष नित्य है। अतः कर्मके अङ्गरूपसे ब्रह्मका उपदेश युक्त नहीं है।

यह जो कैवल्य मोक्ष है वह ब्रह्म ही है और उसी ब्रह्मकी जिज्ञासा यहाँ वेदान्तशास्त्रमें 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्रसे प्रस्तुत की गयी है। श्री शंकरचार्य जी महाराजके मतमें यह विशेष बात है कि : अविचारेण यत्किंचित् प्रतिपद्यमानो मूढ़ः। अर्थात् 'अविचार-पूर्वक जो कुछ भी प्रतिपादन किया जाय अथवा स्वीकार कर लिया जाय' यह मूर्खताका लक्षण है। ऐसा कोई युक्तिवादी नहीं है जो मुक्तिको नित्य स्वीकार न करता हो। मोक्षको सब मोक्ष-वादी नित्य स्वीकार करते हैं।

चार्वाक मतमें जीवन्मुक्ति है मौजसे जीना और विदेह मुक्ति है शरीर छूट जाना। पुनर्जन्म उनके मतमें है ही नहीं। इसलिए शरीर छूटनेके साथ उनकी मुक्ति हमेशाके लिए ही है।

जैन मानते हैं कि शुद्धान्तःकरण वीतराग महापुरुष उज्ज्वल निर्मल अणु आत्माके रूपमें मुक्त हो जाता है। फिर उसका पुन-र्जन्म नहीं होता।

बौद्ध कहते हैं कि विज्ञान आत्मा है जिसको यह सब मालूम पड़ रहा है। मालूम पड़ता जारहा है, मालूम पड़ता जारहा है— जैसे घड़ीमें सेकेण्डकी सुई चलती है वैसे यह विज्ञानकी धारा बह रही है, और इसमें वासना बढ़ती जा रही है। जहाँ वासना बन्द हुई कि वहाँ एक आत्मा होनेका जो प्रत्यय है वह कट जायेगा और विज्ञान क्षणिक है ही। इसलिए आत्मा नामकी कोई चीज नहीं है। यह जो आत्मोच्छेद है ( माने आत्माके न होनेका ज्ञान ) वही उनके मतमें मुक्ति है। ये लोग ज्ञानसे मुक्ति मानते हैं परन्तु ज्ञान मानते हैं आत्मा-अनात्मा-शून्य। इनके यहाँ शून्यताका साक्षात्कार हो जानेपर भी महात्माका विहार रहता है। आत्मा

और अनात्मा दोनों प्रतीत्यसमुत्पाद्य हैं; इनका मूल कोई नहीं है, निर्मूल ही हैं ये।

सभी आस्तिक दर्शन मोक्ष मानते हैं और मोक्षको नित्य मानते हैं परन्तु मोक्षके साधनोंमें अन्तर है। न्याय वैशेषिक संसारके जितने पदार्थ हैं उनके ज्ञानसे मोक्ष मानते हैं। सांख्य असंग द्रष्टाके स्वरूप ज्ञानसे मोक्ष मानता है। योग दर्शन द्रष्टाके स्वरूपमें अवस्थानसे मोक्ष मानता है। मीमांसक प्रपञ्च सम्बन्धके विलयसे मोक्ष मानते हैं। वैष्णव लोग मरनेके बाद इष्टदेवके लोकमें जानेसे और वहाँ इष्टके समीप रहनेसे, उसका सारूप धारण करनेसे या उससे जुड़ जानेसे या उस जैसी सृष्टि सामर्थ्य प्राप्त करनेसे मोक्ष मानते हैं।

अद्वैत वेदान्तकी मुक्ति बड़ी विलक्षण है। लोग बिना विचारके कुछ भी मानने लगते हैं। अष्टावक्र गीतामें कहा है :

यस्याभिमानो मोक्षेऽपि देहेऽपि ममता तथा।
न च ज्ञानी न वा योगी केवलं दुःखभागसौ ॥ (१६.१०)

"जिसका अभिमान तो है कि 'मैं मुक्त हूँ' परन्तु जो समझता है देहको मैं-मेरा। वह न ज्ञानी है और न मुक्त है। वह केवल दुःखी है।"

देहमें मैं है, इन्द्रियोंमें मैं है, मनमें मैं है, इनके नातेदार-रिश्तेदारोंमें 'मैं'का घेरा है। विज्ञानमें मैं है, आनन्दमें मैं है, अज्ञानमें मैं है, और बोलते हैं कि 'मैं मुक्त हूँ।' वे लोग मूर्ख हैं।

संस्कृतमें मूर्खके लिए बहुत बढ़िया शब्द है : देवानां प्रियः। देवताओंके प्रिय अर्थात् मूर्ख। जब हम गीताप्रेसमें 'कल्याण'-परिवारमें थे तो हम लोगोंने भी ऐसे बहुत-से कोड-शब्द बना रखे थे। जैसे कोई आता और कहना होता कि आप मूर्ख हैं तो कहते : आप बहुत भावुक पुरुष हैं!

पहले विचार कर लो कि आपका 'मैं' क्या है? देह है कि इन्द्रिय है, कि मन-बुद्धि, आनन्द, जीव है, कि अणु मध्यम परिमाण है या विभु है, कि एक है कि अनेक है? तदुपरान्त अपनेको कुछ मानना। आँख बन्द करके पीठकी रीढ़ सीधी करके बैठे और बोले कि मैं ध्यानातीत, भावातीत हूँ! वह तुम्हारा देह ही ध्याना-तीत, भावातीत होगा। बोले कि 'मैं द्रष्टा हूँ', तो तुम्हारा देह ही जिसमें तुम्हारा मैं है कल्पित द्रष्टा होगा! तुम जानते ही नहीं कि द्रष्टा इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, कर्म-भाव सबसे निराला होता है, कर्ता, भोक्तासे विलक्षण होता है, बोद्धासे और प्रमातासे विलक्षण होता है!

इसलिए वेदान्तमें ब्रह्मकी जिज्ञासा माने ब्रह्मकी इच्छा नहीं है ब्रह्मका विचार प्रस्तुत किया गया है कि विचारपूर्वक तुम अपने ब्रह्मस्वरूपको जान सको, अपने मोक्षका निर्णय कर सको।

बोले : ठीक है, ब्रह्मकी जिज्ञासा है, वह ब्रह्म ही अशरीर मोक्ष है। परन्तु वह ब्रह्म या मोक्ष कर्त्तव्य-शेष अर्थात् कर्मके अंगके रूपमें वर्णित है। कोई-न-कोई कर्म करके ही वह मोक्ष साध्य होना चाहिए। किंच ब्रह्मकी प्राप्ति भी किसी न किसी कर्म या भोग या स्थितिकी सिद्धिके लिए होना चाहिए। उदाहरणार्थ ब्रह्मका ध्यान करनेसे ब्रह्म प्राप्त होगा। अथवा ब्रह्मज्ञान प्राप्त करेंगे तो खूब सुखसुविधा प्राप्त होगी। इसमें तो सुखसुविधा तो हो गयी मुख्य और ब्रह्म होगया गौण। फिर तो ब्रह्मज्ञान कभी होगा ही नहीं। कोई कहते हैं कि ब्रह्मज्ञानके बाद सब कुछ करनेकी सुविधा हो जाती है, इसलिए वे ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं। इस प्रकार कोई ब्रह्मको कर्मशेष बनाना चाहते हैं तो कोई भोगशेष और कोई अर्थशेष। इस प्रकारका ब्रह्मज्ञान किसी कामका नहीं है।

कहते हैं कि अगर ब्रह्मको कर्मका शेष मान भी लो तो क्या हर्ज है? हर्ज यह है कि पहले ब्रह्मको जानेंगे, फिर कर्म करेंगे, उपासना करेंगे और फिर उपासनासे मोक्ष मिलेगा—यदि ऐसा मानोगे तो इसमें मोक्ष साध्य हो जायेगा, और साध्य होगा तो वह अनित्य होगा। जो चीज पैदा होती है वह मरती है: यज्जन्यं तदनित्यम्। यद् दृष्टं तन्नष्टम्।

बात क्या है कि अपना आत्मा नित्यमुक्त है, परन्तु अविचारसे बद्ध मान लिया है। विचार करो कि ज्ञानका विषय बद्ध पराधीन होता है, परन्तु जो ज्ञानस्वरूप होता है वह कभी बद्ध नहीं होता। जो ज्ञानस्वरूप होता है वह कभी प्राप्य नहीं होता। जो ज्ञान-स्वरूप होता है वह कभी कृत नहीं होता।

पूछते हैं कि अज्ञान आत्माको है या ब्रह्मको है? जिसको जानते ही नहीं उसका ज्ञान अज्ञानसे क्या मतलब? यह जो मनुष्य है उसकी बुद्धिमें अज्ञान है। वह अपने आपको ब्रह्म नहीं जानता, मनुष्य जानता है। उसीको अज्ञान है। यदि अपनेको ब्रह्म जान लो तो बन्धनकी कल्पना मिट जायेगी।

जो (मोक्ष) आज नहीं वह नित्य कहाँसे? जो सृष्टिके पहले नहीं था वह नित्य कहाँसे? जो सृष्टिके बाद नहीं रहेगा वह नित्य कहाँसे? मोक्ष यदि मिलेगा तो बिछुड़ भी जायेगा। ज्ञानसे भी मोक्ष मिलता नहीं, अनमिलेकी भ्रान्ति दूर होती है।

क्या ईश्वर मोक्ष दे सकता है? हाँ, दे सकता है, परन्तु उसकी भी मोक्ष देनेकी प्रक्रिया ज्ञानकी है। ईश्वर किसीको मोक्षकी भेंट नहीं देता, वह तुम्हारी अविद्या-भ्रान्तिको तोड़नेके लिए ज्ञान देता है कि देख ले, तू मुक्त ही है।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयामि आत्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥
(गीता १०.१०.११)

पहलेसे ही मुक्ति जो अपना स्वरूप है उसीको ईश्वर जाहिर करता है। ज्ञानके द्वारा अज्ञान मिट जाता है, अपनी आत्मा तो मुक्त ही है। अतः ईश्वर ज्ञानके द्वारा मुक्ति देता है, ऐसा मानो।

मोक्षको कर्म, उपासनाका फल मानें तो ?

**तत्रैवं सति यथोक्तकर्मफलेष्वेव तारतम्यावस्थितेष्वनित्येषु कश्चिदतिशयो मोक्ष इति प्रसज्येत।**

जैसे हम प्रवृत्तिको कर्म मानते हैं वैसे ही निवृत्तिको भी कर्म मानते हैं ! हाथको हिलाना या रोकना, दोनों कर्म हैं। वृत्तियोंके साथ मिलना भी कर्म है और वृत्तियोंके पीछे बैठना भी कर्म है, क्योंकि ये सब कर्ताके अधीन हैं। भगवान्ने कहा है : **कर्मण्यकर्म यः पश्येत् अकर्मणि च कर्म यः** (गीता ४.१८)। ब्याह और संन्यास दोनों कर्म हैं।

यदि कर्मसे मोक्षकी प्राप्ति होगी तो कर्ममें तो तारतम्य होता है, न्यूनाधिकता होती है, कमी-बेशी होती है। तब तो फिर मोक्ष भी बड़ा-छोटा होगा। ज्यादा कर्मवालेको बड़ा मोक्ष मिलेगा और छोटे कर्मवालेको छोटा मोक्ष मिलेगा। इसी प्रकार उपासना, समाधि इत्यादिके तारतम्यसे मोक्षमें भी न्यूनाधिकता होगी।

हम कर्म, उपासना या योगपर आक्षेप नहीं कर रहे हैं, मोक्षपर भी आक्षेप नहीं कर रहे हैं। हम केवल यह कह रहे हैं कि ब्रह्म-ज्ञानमें अविद्याकी निवृत्ति होती है और मोक्ष अपना स्वरूप है। मोक्ष ज्ञानसे भी पैदा नहीं होता। ज्ञानसे भ्रान्ति-निवृत्ति होती है। कर्म, उपासना, योग सफल हैं अन्तःकरणकी शुद्धिमें। हम तो इनके फलके बारेमें जो भ्रम हैं उनको काट रहे हैं। मोक्ष अपना

स्वरूप है, वह अविद्यानिवृत्तिसे उपलक्षित अपना स्वरूप है। अविद्यानिवृत्तिके बाद जो रह जाता है, वही मोक्ष है! कौन रहता है? हम रहते हैं। इसलिए हम जब जहाँ जो हैं मुक्त हैं।

नित्यश्च मोक्षः सर्वैर्मोक्षवादिभिरभ्युपगम्यते,
अतो न कर्त्तव्यशेषत्वेन ब्रह्मोपदेशो युक्तः।

सब मोक्षवादी यह स्वीकार करते हैं कि मोक्ष नित्य है। मोक्ष निषेधात्मक शब्द है। मोक्ष माने छुटकारा, छुटकारा उससे जिसमें फँस गये हो। कर्म सश्रम कारावास है, उपासना ए-क्लासका कारावास है, योग एकान्त कारावास है, ज्ञान मुक्ति है और भ्रम जेलखाना है। इसलिए मोक्षको जहाँ नित्य कह दिया गया वहाँ वह आत्मासे न्यारा हो ही नहीं सकता।

उपासना और भक्ति अलग-अलग है। उपासना विधिसाध्य है और भक्ति प्रेमसाध्य है। भक्त भी मोक्षको नित्य ही मानते हैं। ऐसे ही श्रीरामानुज, श्रीनिम्बार्क, श्रीमध्व, श्रीवल्लभाचार्य सब जिम्मेवार आचार्य ज्ञानसे ही मोक्ष मानते हैं और मुक्तिको नित्य मानते हैं। भक्तिमें मुक्ति अपने पुरुषार्थसे नहीं मिलती। वह तो भगवान् अपनेमें कृपा करके मिला देते हैं हमेशाके लिए। सायुज्य होगा। इसलिए तुम जैसे हो, जहाँ हो भगवान्‌से एक हो, जलमें बिन्दुकी तरह।

भक्ति और ज्ञानमें मोक्ष एक है? नहीं। सगुण ईश्वरकी भक्तिमें जो मोक्ष है वह न्यारा है आत्मासे और सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य और सार्ष्टिरूप है। योगमें कैवल्य मुक्ति है असंग द्रष्टारूप! योगकी मुक्ति आत्मा (त्वं-पदार्थ)की प्रधानतासे है और भक्तिकी मुक्ति परमेश्वर (तत्-पदार्थ)की प्रधानतासे है। वेदान्तकी मुक्ति 'यह', 'वह' की उपाधिको खतम करके आत्मा-परमात्मामें जो अखण्ड एकरस तत्त्व है, उसके बोधसे होती है। •

( ४.१९ )

## उत्तर पक्ष—५

## ब्रह्मज्ञान और मोक्षके मध्यमें कार्यान्तरका निषेध

**मूलभाष्य :**

**अपि च 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'** ( मुण्डक ३.२.९ ), **'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे'** ( मुण्डक २.२.८ ) **'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन'** ( तैत्ति० २.९ ), **'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि'** ( बृहदा० ४.२.४ )। **'तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात् तत्सर्वमभवत्'** ( बृहदा० १.४.१० ), **'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'** ( ईशावास्य० ७ ) **इत्येवमाद्याः श्रुतयो ब्रह्मविद्यानन्तरं मोक्षं दर्शयन्त्यो मध्ये कार्यान्तरं वारयन्ति।**

( क्रमशः )

**भाष्यार्थ :** और भी, 'ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म हो जाता है', 'उस परावर ब्रह्मका साक्षात् कर लेनेपर इसके कर्म क्षीण हो जाते हैं', 'ब्रह्मके आनन्दको जाननेवाला विद्वान् किसीसे भयभीत नहीं होता', 'हे जनक, तू निश्चय अभयको प्राप्त हो गया है', 'उस समय उसने अपने आपको 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा जाना, अतः वह सर्व हो गया', 'उस समय एकत्वका अनुभव करनेवालेको क्या शोक और क्या मोह हो सकता है !' इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्मज्ञानके अनन्तर मोक्ष दिखलाती हुई ब्रह्मज्ञान और मोक्षके बीच किसी कार्यान्तरका निषेध करती हैं। ●

## २. ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति

श्रवण तबतक पूरा नहीं होता जबतक 'सम्पूर्ण श्रुतियोंका तात्पर्य ब्रह्मात्मैक्यमें है' यह समझमें नहीं आ जाता। श्रवण माने क्या ? वेदान्तमें 'श्रवण' एक पारिभाषिक शब्द है। इसकी परिभाषा है—

**वेदान्तानामशेषाणामादिमध्यावसानतः ।**
**ब्रह्मात्मन्येव तात्पर्यमितिधीः श्रवणं भवेत् ॥**

**( पञ्चदशी ७.१०१ )**

सारी उपनिषदोंका आदि, मध्य, अन्त विचार करनेपर 'आत्मा ही ब्रह्म है' यह जो उनका तात्पर्य-निश्चय है, इसको श्रवण कहते हैं। श्रोतृ-शष्कुली द्वारा वेदान्त-श्रवण करनेका नाम श्रवण नहीं है। श्रवण एक ब्रह्मात्मैक्य-निश्चयवाली बुद्धि है। इसलिए श्रुतिविचार करते समय श्रुतिकी पृष्ठभूमि आदिका विचार भी करना चाहिए।

**ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति** ( मुण्डक० ३.२.९ )

'ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म हो जाता है।'

विचार-चन्द्रोदय, पञ्चदशी, विचार-सागर पढ़नेवालोंको यह नियम ध्यानमें होगा कि जैसे घटका द्रष्टा घटसे पृथक् होता है वैसे तीन देहको जाननेवाला देहसे पृथक् है। इसी न्यायसे यह भी होना चाहिए कि ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्मसे अलग होता है। यह श्रुति इस नियमको काट रही है।

परिच्छिन्न वस्तुके ज्ञानका नियम दूसरा है और अपरिच्छिन्न वस्तुके ज्ञानका नियम दूसरा है :—

**ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति**

ब्रह्म ( अपरिच्छिन्न वस्तु ) को जाना और ब्रह्म ही हो गया। जाना कुछ, हुआ कुछ, जानते ही जाननेवाला बदल गया। ऐसा कोई जादू, चमत्कार या कोई अदृष्ट उत्पन्न हो गया क्या कि जानते ही जाननेवाला बदल गया? ब्रह्मको जाना और तुरन्त जीवसे ब्रह्म हो गया! बोले : ऐसा नहीं है। ज्ञानमें बदलनेका सामर्थ्य नहीं होता। सामने यह खम्भा है; इस खम्भेको खम्भा जानना न तो खम्भाको बदलना है और न खम्भा हो जाना है; न ज्ञाता बदलता है, न ज्ञेय। बीचमें-से अज्ञान मर जाता है, बस! यह नियम है। इसलिए ब्रह्मको जाना तो न तो ब्रह्म बदला और न हम ( जाननेवाला ) बदले। दोनों ज्यों-के-त्यों। परन्तु जानते ही दोनों एक हो गये। इसका अर्थ है? दोनों एक ही थे। हममें और ब्रह्ममें जो फर्क है वह कहाँसे हुआ? अज्ञानसे और वह अज्ञान ज्ञानसे मिट गया। अज्ञानसे जो फर्क आता है वह झूठा होता है और जो ज्ञानसे भासता है वह भी झूठा होता है। उदाहरणार्थ, रज्जुके अज्ञानसे उत्पन्न सर्प भी सच्चा नहीं है और रज्जुके ज्ञानसे मिटनेवाला सर्प भी सच्चा नहीं होता। इसी प्रकार आत्माको ब्रह्म न जाननेसे उत्पन्न आत्मा और ब्रह्मका अलगाव भी सच्चा नहीं है और आत्माको ब्रह्म जाननेसे अलगावका मिट

जाना भी सच्चा नहीं है। वस्तुतः अलगाव है ही नहीं, एक अखण्ड ब्रह्म ही है, यही ब्रह्मज्ञान है : **ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।**

'ज्ञान' और 'ज्ञानमें वासना'का विवेक करो। 'ज्ञान' और 'ज्ञानमें विषय'का विवेक नहीं करोगे, अर्थात् यदि विवेक, वैराग्य नहीं करोगे तो शुद्ध ज्ञानका स्वरूप नहीं समझ सकोगे। निर्विषय और निर्वासिन होकर वेदान्तका श्रवण करना चाहिए तब समझमें आयेगा।

एक आदमी था अपने घरमें! उसने भांग पी ली। अब उसे भ्रम हो गया कि मैं घरसे बाहर हूँ। ऐसे नशेमें था कि लोगोंने उसका नाम ही बदल दिया। अब वह बड़बड़ाता 'अरे, मैं तो अमुक हूँ, कोई मुझे अपने घर पहुँचा दो।' अब उसको सामान्य करनेके लिए क्या करना चाहिए? न तो उसे मोटरमें बिठाकर घर पहुँचाना है और न उसे दूसरा नाम रटाना है। बस; उसका नशा उतार दो, सब ठीक हो जायेगा।

इसी प्रकार, हम हैं तो ब्रह्म लेकिन अज्ञानके कारण अपनेको जीव मानते हैं; हैं तो अपरिच्छिन्न वस्तु परन्तु मानते हैं अणु या देह-परिमाण अथवा देह या इन्द्रियाँ या मन या बुद्धि। हैं तो सच्चिदानन्द परन्तु मानते हैं सुखी-दुःखी, ज्ञानी-अज्ञानी! जब अपनेको अपरिच्छिन्न, परिपूर्ण, अद्वय, सर्वाधिष्ठान, स्वयं प्रकाश जानेंगे, तो होगा यह कि नशा उतर जायेगा। असलमें तो तुम ब्रह्म ही हो। न ब्रह्मको पकड़ना पड़ा और न छोड़ना पड़ा। इसलिए हमारे और ब्रह्मके बीचमें सिवाय अज्ञानके न कोई मल है न विक्षेप, न शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ हैं, न वासना है। यदि बीचमें वासना होती तो केवल उपासनासे वह दूर हो जाती और हम ब्रह्म हो जाते! यदि केवल दुश्चरित्र बीचमें होता तो धर्मसे ब्रह्मत्व प्राप्त हो जाता। यदि विक्षेप बीचमें होता या कहीं दूसरेमें

बैठे होते तो योगसे ब्रह्मत्व सिद्ध हो जाता। यदि बीचमें वे सभी होते तब तो ब्रह्मत्वकी आशा ही दुराशा हो जाती और मार्ग भी खिचड़ी-मार्ग हो जाता। वेदान्तका कहना है कि हमारे और ब्रह्मके बीचमें केवल अन्धेरा ही है। हम अपनेको सिद्ध ब्रह्म न जानकर, अपनी अद्वितीयताको भूल गये हैं। इस भूल और अन्धेरेको मिटानेके लिए केवल ज्ञान पर्याप्त है :

**तमेव वेदित्वातिमृत्युमेति** ( श्वेताश्व० ३.८ ) = उसको जानकर ही मृत्युका अतिक्रमण कर जाता है।

**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः** = ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं होती।

**ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति** = ब्रह्मको जानते ही ब्रह्म ही हो जाता है।

पृष्ठभूमि श्रुतिकी यह है कि कोई कहते हैं : कर्म करो। कोई कहते हैं : उपासना करो; और कोई कहते हैं : योग करो। महेश योगी जी महाराजका नाम आज सब लोग जानते हैं। ये स्वामी ब्रह्मानन्दजी सरस्वती ( हमारे संन्यास-गुरु )के यहाँ सेक्रेटरी थे। तब यह एम० ए० पास करके आये थे और मैं संन्यासी हो चुका था। हमसे बड़ा प्रेम मानते हैं। एक बार आये। ये कहते थे : स्वामीजी, हम विदेश जाते हैं, वहाँ तो जैसे ऊसर भूमि पड़ी है, कोई खेती करनेवाला नहीं हैं। वहाँके लोगोंको कुछ जानकारी नहीं है, न ईश्वर, ब्रह्मके बारेमें और न वेदान्त, योग, समाधिके बारेमें। भारतमें इन विषयोंके जानकारोंकी कमी नहीं है। हम तो परती जमीन जोत रहे हैं।'

ध्यान-धारणाकी युक्ति दूसरी है। अपने स्वरूपमें बैठना यह भी एक क्रिया ही है ( ज्ञान नहीं है )। वेदान्त कहता है कि लोग दुश्चरित्र दूर करना चाहते हैं उन्हें धर्म करना चाहिए। जिन्हें अपनी वासनाको बदलना है उन्हें उपासना करनी चाहिए।

जो निरन्तर देहसे ही तादात्म्यापन्न रहते हैं वे तादात्म्य छोड़कर द्रष्टाके स्वरूपमें बैठें। ये सब अलग-अलग साधनाएँ हैं। परन्तु वेदान्त इन सबसे निराली चीज बताता है।

हमारे और ब्रह्मके बीचमें जहाँ ब्रह्मज्ञान है वहाँ 'ब्रह्म' तत्-पदार्थ हो जाता है और 'अहम्' त्वं-पदार्थ। जब अज्ञान मिट जाता है तब 'तत्' और 'त्वम्'-पदार्थ और उनके अर्थका भेद बिलकुल मिट जाता है। तब 'तत्' माने 'त्वम्' और 'त्वम्' माने 'तत्'।

इसलिए 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'का अर्थ है—

**अज्ञानान्तरितं यद् ब्रह्म तत्सर्वाधिष्ठानं ब्रह्म अहमस्मि प्रत्यक्तया यो वेद स ब्रह्मैव भवति।**

अज्ञानसे अलग मालूम पड़ता है ब्रह्म—सर्वाधिष्ठान परमेश्वर रूप। उसी ब्रह्मको जब ज्ञानका विषय बनाया कि वह ब्रह्म मैं हूँ तो देखा कि वही ब्रह्म हूँ मैं। अर्थात् जो अज्ञानका विषय था वही अन्ततः अज्ञानका आश्रय भी है। इसलिए अज्ञानके आश्रय-विषयकी एकतासे अज्ञान नष्ट हो जाता है और ज्ञानस्वरूप ब्रह्म तो है ही।

मधईपुरके बाबा थे। उन्होंने बारह वर्ष तक समाधि लगायी थी। उतने समय तक गुफासे बाहर ही नहीं निकले। सारे काम भीतर ही करते थे। काशीमें हम उनके दर्शनके लिए जाते थे। सुबह छःसे दस बजे तक लोगोंसे मिलते थे। फिर डेढ़ छटांक चावल खाकर समाधिमें चले जाते थे। किसीने उनसे पूछा: ध्यान कैसे लगे?

बाबा: ध्यान मत लगाओ, विचार करो। चित्तकी एकाग्रता वेदान्तके लिए उतनी भर ही अपेक्षित है जितनेसे विचारकी धारा

बैठे होते तो योगसे ब्रह्मत्व सिद्ध हो जाता। यदि बीचमें वे सभी होते तब तो ब्रह्मत्वकी आशा ही दुराशा हो जाती और मार्ग भी खिचड़ी-मार्ग हो जाता। वेदान्तका कहना है कि हमारे और ब्रह्मके बीचमें केवल अन्धेरा ही है। हम अपनेको सिद्ध ब्रह्म न जानकर, अपनी अद्वितीयताको भूल गये हैं। इस भूल और अन्धेरेको मिटानेके लिए केवल ज्ञान पर्याप्त है :

**तमेव वेदित्वातिमृत्युमेति** ( श्वेताश्व० ३.८ ) = उसको जानकर ही मृत्युका अतिक्रमण कर जाता है।

**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः** = ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं होती।

**ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति** = ब्रह्मको जानते ही ब्रह्म ही हो जाता है।

पृष्ठभूमि श्रुतिकी यह है कि कोई कहते हैं : कर्म करो। कोई कहते हैं : उपासना करो; और कोई कहते हैं : योग करो। महेश योगी जी महाराजका नाम आज सब लोग जानते हैं। ये स्वामी ब्रह्मानन्दजी सरस्वती ( हमारे संन्यास-गुरु )के यहाँ सेक्रेटरी थे। तब यह एम० ए० पास करके आये थे और मैं संन्यासी हो चुका था। हमसे बड़ा प्रेम मानते हैं। एक बार आये। ये कहते थे : स्वामीजी, हम विदेश जाते हैं, वहाँ तो जैसे ऊसर भूमि पड़ी है, कोई खेती करनेवाला नहीं हैं। वहाँके लोगोंको कुछ जानकारी नहीं है, न ईश्वर, ब्रह्मके बारेमें और न वेदान्त, योग, समाधिके बारेमें। भारतमें इन विषयोंके जानकारोंकी कमी नहीं है। हम तो परती जमीन जोत रहे हैं।'

ध्यान-धारणाकी युक्ति दूसरी है। अपने स्वरूपमें बैठना यह भी एक क्रिया ही है ( ज्ञान नहीं है )। वेदान्त कहता है कि लोग दुश्चरित्र दूर करना चाहते हैं उन्हें धर्म करना चाहिए। जिन्हें अपनी वासनाको बदलना है उन्हें उपासना करनी चाहिए।

जो निरन्तर देहसे ही तादात्म्यापन्न रहते हैं वे तादात्म्य छोड़कर द्रष्टाके स्वरूपमें बैठें। ये सब अलग-अलग साधनाएँ हैं। परन्तु वेदान्त इन सबसे निराली चीज बताता है।

हमारे और ब्रह्मके बीचमें जहाँ ब्रह्मज्ञान है वहाँ 'ब्रह्म' तत्-पदार्थ हो जाता है और 'अहम्' त्वं-पदार्थ। जब अज्ञान मिट जाता है तब 'तत्' और 'त्वम्'-पदार्थ और उनके अर्थका भेद बिलकुल मिट जाता है। तब 'तत्' माने 'त्वम्' और 'त्वम्' माने 'तत्'।

इसलिए 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'का अर्थ है—

**अज्ञानान्तरितं यद् ब्रह्म तत्सर्वाधिष्ठानं ब्रह्म अहमस्मि प्रत्यक्तया यो वेद स ब्रह्मैव भवति।**

अज्ञानसे अलग मालूम पड़ता है ब्रह्म—सर्वाधिष्ठान परमेश्वर रूप। उसी ब्रह्मको जब ज्ञानका विषय बनाया कि वह ब्रह्म मैं हूँ तो देखा कि वही ब्रह्म हूँ मैं। अर्थात् जो अज्ञानका विषय था वही अन्ततः अज्ञानका आश्रय भी है। इसलिए अज्ञानके आश्रय-विषयकी एकतासे अज्ञान नष्ट हो जाता है और ज्ञानस्वरूप ब्रह्म तो है ही।

मधईपुरके बाबा थे। उन्होंने बारह वर्ष तक समाधि लगायी थी। उतने समय तक गुफासे बाहर ही नहीं निकले। सारे काम भीतर ही करते थे। काशीमें हम उनके दर्शनके लिए जाते थे। सुबह छःसे दस बजे तक लोगोंसे मिलते थे। फिर डेढ़ छटाँक चावल खाकर समाधिमें चले जाते थे। किसीने उनसे पूछा : ध्यान कैसे लगे?

बाबा : ध्यान मत लगाओ, विचार करो। चित्तकी एकाग्रता वेदान्तके लिए उतनी भर ही अपेक्षित है जितनेसे विचारकी धारा

ब्रह्मोन्मुख हो जाय और वाक्यार्थका ज्ञान हो जाय। वेदान्तमें समाधि इष्ट नहीं है।

एक महात्माके पास हम गये। जब मैं गृहस्थ था। महात्मा कहने लगे : एक ब्राह्मण सद्‌गृहस्थ है, बड़ा विद्वान् है, साधन-भजन खूब करता है। सुनकर मनमें श्रद्धा हुई। पूछा : कौन है वह ? वे बोले : वह तुम्हीं हो।

वह ब्राह्मण केवल अज्ञानतया परोक्ष था, और ज्ञान होते ही साक्षात् अपरोक्ष हो गया, अपरोक्ष तो था ही। इसी प्रकार शास्त्र जिस अभिन्ननिमित्तोपादान ब्रह्मका वर्णन करता है कि वह सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान सर्वकर्ता सर्वभर्ता और सर्वहर्ता है तो वह कौन है ? अज्ञानतया वह ब्रह्म है और ज्ञानतया प्रत्यक्‌चैतन्य आत्मा ही है। अज्ञाननिवृत्त होते ही आत्माका ब्रह्मत्व प्रकाशित हो जाता है। अज्ञाननिवृत्ति-उपलक्षित आत्माका नाम मोक्ष है। इसलिए 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इस श्रुतिसे ब्रह्मज्ञान और मोक्षके बीचमें कोई देश, काल, द्रव्य या अन्य कोई कार्यान्तर नहीं है। इधर ब्रह्मज्ञान हुआ कि मोक्ष उपपन्न ! ●

## २. क्षीयन्ते चास्य कर्माणि

**भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।**
**क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥**

( मुण्डक० २.२.८ )

'उस परावर ब्रह्मका साक्षात्कार कर लेनेपर हृदयकी ग्रन्थिका भेदन हो जाता है, सर्वसंशयोंका छेदन होता है और समस्त कर्मोंका क्षय हो जाता है।'

मुण्डकोपनिषद्‌की यह श्रुति भागवतमें कई तरहसे कई बार आयी है।

क्षीयन्ने चास्य कर्माणि दृष्ट एवाखिलात्मनि ॥
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे ॥ ( १.२.२१ )

वेदमें भी आया है : तस्मिन् दृष्टे परावरे ।

भागवत जो है वह श्रुतिका भाष्य ही है।

श्री चैतन्य महाप्रभुजीसे लोगोंने प्रस्थानत्रयी ( उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र ) पर भाष्य लिखनेके लिए कहा। उन्होंने उत्तर दिया : 'तीनोंका भाष्य भागवत है। भागवत पढ़ लो, समझ लो हमारा भी भाष्य पढ़ लिया।'

'तस्मिन् दृष्टे परावरे' और 'दृष्टे एव अखिलात्मनि'। इसलिए 'परावर'का अर्थ है अखिलात्मा, सम्पूर्ण विकल्पोंका अधिष्ठान। रज्जुके अज्ञानमें रज्जुदेशमें सर्प है, माला है, भू-छिद्र है, डण्डा है, सब है, परन्तु रज्जुके ज्ञानमें केवल रस्सी ही है। इसी प्रकार यह जो तुमको स्त्री, पुरुष, लता, वृक्ष, पशु, पक्षी, पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाशके रूपमें प्रपञ्च अलग-अलग दीख रहा है, मैं, तू, वह, मेरा, तेराके रूपमें स्फुरित हो रहा है, वह सब वही एक तत्त्व है, अखिलकी आत्मा, परावर ब्रह्म; बस उसे पहिचाननेकी बात है। ये सारी कल्पनाएँ उसीमें उसीके लिए हो रही हैं। ये सारे प्रत्यय और उनके विषय और उनका आश्रय सब वही है।

'तस्मिन् दृष्टे परावरे' और 'दृष्टे एवात्मनीश्वरे'। इसलिए 'परावर'के देखनेका अर्थ है : आत्मनि ईश्वरे ईश्वरत्वेन दृष्टे एव। अर्थात् जहाँ तुम 'त्वं'-पदार्थको 'तत्'-पदार्थसे ( ईश्वरसे ) अभिन्न-रूपसे पहिचान जाओगे, वह परावरको देखना है।

परावर=परञ्च अवरं च। पर=कारण; अवर=कार्य। इसलिए 'परावर' माने कारण और कार्य, मिट्टी और घड़ा, ईश्वर

और जीव, समष्टि और व्यष्टि। जब दोनोंको प्रत्यक् चैतन्याभिन्न समझ लोगे तब कर्मोंका क्षय हो जायेगा।

बौद्धोंका यह आक्षेप है कि कार्य और कारणका ज्ञान, यह दो-पनेका ज्ञान परस्पर आक्षेप है। जिसने कभी मिट्टीसे घड़ा बनता नहीं देखा है वह घड़ेको देखकर उसके कारण मिट्टीका और मिट्टीको देखकर उसके कार्य घड़ेका ख्याल नहीं कर सकता। इसलिए परस्पर सापेक्ष ज्ञान होनेके कारण आत्मा, अनात्मा, कारण-कार्य, समष्टि-व्यष्टि ये सब प्रतीत्यसमुत्पाद्य हैं। ये पहिले मालूम पड़ जाते हैं और फिर उत्पन्न होते हैं। इस सापेक्षताको जानकर, प्रपञ्चशून्य है—यह ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है क्योंकि इसमें निर्वासनता है, माने ज्ञानमें रखनेको कुछ नहीं रहता। जब कभी ज्ञानमें रखनेको होगा तो वासना होगी। यदि ज्ञानका विषय बनाकर ब्रह्मको भी रखना है तब तो वह भी वासनारूप ही होगा! वह द्विधा ( समष्टि-व्यष्टि, कारण-कार्य इत्यादि ) ज्ञानमें बिल्कुल वासना है। 'मैं अजर, अमर, अपरिच्छिन्न हूँ, कार्य-कारण-शून्य हूँ' इत्यादि, ये सब वासना हैं। असलमें शून्य ही तत्त्व है।

वेदान्ती कहते हैं : ठीक है यह, परन्तु इसमें 'दशमस्त्वमसि' भूल गया है। नौके साथ दसवाँ नहीं डूबा और वह तुम हो। शून्यता साक्षीभाष्य है कि नहीं? ज्ञान क्षण-क्षणमें नष्ट हो रहा है तो क्षण-क्षण ज्ञात है कि नहीं? इसका अर्थ है कि ज्ञानमें कालकी वासना है और जब कालकी वासना निवृत्त होगी तो ज्ञान तुम्हारा आत्मा है और वह अखण्ड है। अपने आपके अभावके ज्ञानके अभावका तुम अनुभव नहीं कर सकते। यह ज्ञान ही ब्रह्म है।

जो कुछ कार्य-कारणके भासके रूपमें भास रहा है वह भावात्मक आत्मा या भावात्मक ब्रह्म ही है। पर = कारण और अवर = कार्य, दोनों अध्यास हैं; व्यष्टि-समष्टि दोनों अध्यास हैं;

जीव-ईश्वर दोनों अध्यास हैं। परन्तु इनका प्रकाशक जो अखण्ड ज्ञान है, तुम्हारा परमार्थस्वरूप, वह क्षण-क्षणमें नष्ट होनेवाला और पैदा होनेवाला नहीं है।

इस स्वयं प्रकाश ब्रह्मतत्त्वका अनुभव होनेपर हृदय-ग्रन्थिका भेदन हो जाता है। एक अन्तःकरणमें जो तुम मैं करके बैठे हुए हो, अनादि अनन्त अपरिच्छिन्न अद्वितीय एवं परिपूर्ण ब्रह्म होने पर भी; हृदयावच्छिन्न चैतन्यके साथ जो हृदयवर्तिनी वृत्तियोंकी ग्रन्थि पड़ गयी है, वह अपनेको अपरिच्छिन्न ब्रह्म जाननेसे कट जायेगी। हृदय-ग्रन्थि = भ्रान्ति, अध्यास, चिज्जड़ ग्रन्थि। ब्रह्म-ज्ञानसे इस ग्रन्थिका भेदन हो जाता है। **भिद्यते हृदयग्रन्थिः।**

**छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।** संशय सब उभयकोट्यावगाही होते हैं। ऐसा है कि ऐसा है? यहाँ जाना कि वहाँ जाना? यह संशयका स्वरूप है। संशय अज्ञानमूलक होता है और दोनों तटोंका स्पर्श करता है। 'संशेते जनः अस्मिन्' या 'सम्यक् शयन अज्ञानमें जहाँ हो सो संशय अद्वैत है कि द्वैत है? आत्मा, अनात्मा दो हैं कि एक हैं? मुक्ति कर्मसे होती है या ज्ञानसे? ज्ञानसे मुक्ति होती भी है कि नहीं? लोक, परलोक हैं या नहीं? आत्मा ब्रह्म है या नहीं? ये सब संशय ज्ञानसे कट जायेंगे, फिर कोई संशय रहेगा ही नहीं।

**क्षीयन्ते चास्य कर्माणि।** कर्मका फल शरीर है। सबके शरीर पाञ्चभौतिक हैं, इनमें आकृति, स्वभावका भेद कैसे? वासनाके अतिरिक्त आकृतिका भेदक और कोई पदार्थ नहीं हो सकता। वासनासे कर्म और कर्मसे पुनः वासना। यह चक्र है। इस चक्रके चलते रहनेके पीछे मूल अज्ञान है। ब्रह्मज्ञान होते ही कर्ता, कारक और फलकी भ्रान्तिका समूलोच्छेद हो जाता है। अतः इवर

ब्रह्मज्ञान हुआ और उधर कर्मक्षीण होकर, हृदयग्रन्थि टूटकर, संशयछेदन होकर मोक्ष उत्पन्न हुआ :

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।

## ३. आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन (तैत्ति० २.९)

ब्रह्मके आनन्दको जाननेवाला विद्वान् किसीसे भयभीत नहीं होता।

अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' (बृहदा० ४.२.४)

हे जनक ! तू निश्चय ही अभयको प्राप्त हो गया है।

भेद जड़में है, चैतन्यमें भेद नहीं हो सकता। यदि चैतन्यमें भेद होगा तो वह भी दृश्य होगा। इसलिए चैतन्यमें भेद नहीं है। अतः **ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति**=ब्रह्मको जाना और जानते ही ब्रह्म हो गया (क्योंकि पहलेसे ब्रह्म ही था, केवल अज्ञानसे अब्रह्म होनेका भ्रम था।)

शुक्लयजुर्वेद-संहिता अध्याय ३४का मन्त्र है : **तदपश्यत् तदभवत् तदासीत्**। सारी पृथिवीको देख लिया, सारा द्युलोक छान डाला, क्या मिला ? ब्रह्मका दर्शन ! **तदपश्यत्**=उसको देखा, माने ब्रह्मको देखा। फिर ? **तदभवत्**=वही हो गया। अर्थात् ब्रह्मको देखा, ब्रह्म ही हो गया। कैसे हुआ यह ? तो कहा, **तदासीत्**=वही था। अर्थात् ब्रह्म ही था, भ्रमसे अलग मान रहा था। इसलिए साक्षात्कार होते ही भ्रम टूट गया।

ब्रह्म ज्ञानका फल है—हृदय-ग्रन्थिका भेदन, सर्वसंशयोंकी निवृत्ति और सर्व कर्मोंका क्षय ! **भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥** (मुण्डक

२.२.८ ) ब्रह्मज्ञानका फल है धातु-विज्ञान, डिजाइन-विज्ञान नहीं। सृष्टिकी मूल धातु क्या है ? जब नाम, रूप नहीं था तब क्या था ? जब नाम, रूप नहीं रहेगा, तब क्या रहेगा ?

बच्चे बढ़िया नाम और बढ़िया पैंकिग ( रूप )पर रीझते हैं। विद्वान् इनपर नहीं रीझते। वे देखते हैं कि असलमें धातु क्या है ? महात्माओंने जाँच की कि कर्मसे परे, आकृतिसे परे, रूपसे परे, नामसे परे, असलमें स्वरूप क्या है ? उन्होंने देखा कि यह तो ऐसी चीज है जो शस्त्रसे कटती नहीं, आगमें जलाये जलती नहीं, पानीसे गीली नहीं होती, हवासे उड़ती-सूखती नहीं, उसीसे 'मैं' बना उसीसे 'तुम' बने, उसीसे सृष्टि बनी। यह जो आता-जाता है, मरता-जीता है, बिछुड़ता-मिलता है, वह तो केवल नाम और रूप हैं। तत्त्व तो आकाशका भी आधार है।

**तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः।** ( तैत्ति० २.१ )

वह तो आकाशका भी कारण आकाशमें भरपूर है, वही आत्माका स्वरूप है। जहाँ उस परावरके अधिष्ठान, परावरके प्रकाशक स्वयंप्रकाश वस्तु-तत्त्वका साक्षात् हुआ कि कर्म झड़ गये ! लोहे-पर जंग बहुत, पर आगमें डाला तो जंग भस्म और लोहा रह गया। सोनेमें मैल बहुत, पर आगमें डाला तो मैल भस्म और शुद्ध सोना रह गया। इसी प्रकार जीवमें मैल बहुत, जंग बहुत, अज्ञान बहुत; परन्तु ज्ञानाग्निमें डाला तो मैल-मक्कड़ सब भस्म, आत्मा ज्यों-का-त्यों अवशेष ! जैसे आगसे आग नहीं ( बुझती ) जलती वैसे ज्ञानाग्निमें ज्ञानस्वरूप आत्मा नहीं जलता; अज्ञान और उसका परिवार सब जलकर भस्म हो जाता है : **ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा** ( गीता ४.३७ )।

मुख्य बात यहाँ यह बतानी है कि ब्रह्मज्ञान और मोक्षके बीचमें कोई कार्यान्तर नहीं है। ब्रह्मज्ञानके द्वारा अविद्याकी

निवृत्ति और मोक्ष! अर्थात् अविद्या निवृत्तिसे उपलक्षित अपना आत्मा ही मोक्ष स्वरूप है। इसी बातको अब तैत्तिरीय श्रुति समझाती है:

**आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन ( २.९ )।**

यह तैत्तिरीय श्रुति ऐसी है महाराज कि कोई तित्तिरि ऋषि थे उनकी बोली हुई श्रुति है। जैसे मण्डूकसे माण्डूक्य है। ऋग्वेदमें मण्डूक सूक्त ही है ( ७.१०३ )। वहींसे यह अथर्ववेदमें आया और वहाँसे फिर माण्डूक्य उपनिषद् निकली। इसके मूल मन्त्र ऋग्वेदमें भी हैं और अथर्ववेदमें भी हैं।[1]

**मण्डूको कथम्? यतो मज्जूकाः भवन्ति** ( द्र० निरुक्त ९.१ पाद )।

मण्डूकको मण्डूक क्यों कहते हैं? क्योंकि ये पानीमें डूबते हैं। वही जो ब्रह्म मज्जूक है वही ब्रह्म मण्डूक है। जो ब्रह्मरसमें, ब्रह्मानन्दमें, निमज्जन करे वह ब्रह्म मण्डूक है।

तैत्तिरीय और माण्डूक्यकी तुलनापर ध्यान देना। किसीने मण्डूकसे पूछा—ब्रह्म क्या है? तो मण्डूक बोले: **अयमात्मा ब्रह्म।** "यह जो 'अहम्-अहम्'से उपलक्षित शुद्ध चेतन है वह एक शरीरमें आबद्ध नहीं है वह ब्रह्म है।" और **सोयमात्मा चतुष्पात्**=वह आत्मा ( ब्रह्म ) चार पाँववाला है: जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय।

अब महाराज, मण्डूकजीके चार पाँव थे तो उन्होंने ब्रह्मके भी चार पाद बता दिये। मानो कहते हो 'क्या पूछते हो ब्रह्म-ब्रह्म; हमारे एक पैरका नाम ब्रह्म है।'

---

१. मुण्डक ३.१ मन्त्र ( द्वा सुपर्णा… ) ऋग्वेदमें ( १.१६४.२० ) तथा अथर्ववेद ९.९.२० में है। [ सम्पादक ]

मेंढक बोलता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ।' मनुष्यको तो फिर शरम हो आनी चाहिए।

मण्डूकने चार पाँव बताये ब्रह्मके और फिर तुरीयको ब्रह्म बताया—

तुरीय जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिसे न्यारा नहीं होता। भोग हो रहा है (जाग्रत्में) और आत्मा ब्रह्म है।

कल्पना हो रही है (स्वप्नमें) और आत्मा ब्रह्म है। सोना हो रहा है (सुषुप्तिमें) और आत्मा ब्रह्म है।

ऐसे ही तीतर महाराजसे भी पूछा: बताओ ब्रह्म क्या है?

असलमें तत्तद् रूपमें स्वयं भगवान् ही बोलते हैं: मण्डूकके रूपसे माण्डूक्योपनिषद्, तीतरके रूपसे तैत्तिरीयोपनिषद्, बराहके रूपमें वराहोपनिषद्, श्वेताश्वतर (खच्चर)के रूपमें श्वेताश्वतरोपनिषत्, नृसिंहके रूपमें नृसिंहोपनिषत्, इत्यादि। सर्वरूपमें परमात्मा ही प्रकट होकर बताता है कि मैं परमात्मा हूँ।

कहते हैं कि वैशम्पायन ऋषिके आदेशसे याज्ञवल्क्यने अपनी पढ़ी हुई वेदकी शाखाका छर्दन कर दिया जिसको तित्तिरि पक्षीने ग्रहण कर लिया। वही फिर तैत्तिरीय उपनिषद्के रूपमें प्रकट हुआ।

अब तीतर महाराज ब्रह्मका ऐसा विलक्षण वर्णन करते हैं जो अन्य उपनिषदोंमें नहीं है। आप यह तो बहुत सुनते होंगे कि **'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्ति अभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्म।** (तैत्ति० ३.१) 'जिससे ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, जिसके द्वारा उत्पन्न होकर ये जीवित रहते हैं, जिसकी ओर ये सब जा रहे हैं और जिसमें ये सब प्रवेश कर जाते हैं; उसकी जिज्ञासा करो वह ब्रह्म है।' वहीं यह भी बताया कि वह ब्रह्म आनन्द है।

**आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्ति, अभिसंविशन्ति। ( ३.६ )**

'आनन्द ही ब्रह्म है ऐसा जाना। सचमुच आनन्दसे ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, आनन्दसे ही उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं, आनन्दकी ओर ही ये जा रहे हैं और आनन्दमें ही सब अन्ततः प्रवेश कर जाते हैं।'

यह तीतर महाराज बड़े रसिक हैं। किसीने पूछा : आपने याज्ञवल्क्यकी उगली हुई वेदराशिको ग्रहण किया ? बोले : मैं पहिचानता हूँ।

**रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति ( २.७.१ )**

वह तो रसरूप है। इस रसको पाकर आनन्दित होता है।

इस प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद्ने बताया कि ब्रह्म वह जिससे सृष्टि हुई 'जन्माद्यस्य यतः' यह तटस्थ लक्षण है। और फिर यह भी बताया कि उसका स्वरूप लक्षण आनन्द है।

जैसे मण्डूकने अपने एक पादको ब्रह्म बताया था, वैसे ही तीतरने अपनी पूँछको ब्रह्म बताया :

**ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा ( २.५ )**

क्या ब्रह्म-ब्रह्म बोलते हो ? मेरी पूँछका नाम ब्रह्म है।

तैत्तिरीय उपनिषद् यजुर्वेदीय है, इसलिए उन्होंने पक्षका वर्णन किया। उन्होंने अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोषोंका वर्णन किया। यजुरेव शिरः ( २.३ ) = यजुर्वेद शिर है; मोद-प्रमोद आदि वृत्तियोंको अपना दक्षिण-उत्तर पक्ष बताया। और कहा कि मैं जो दो पाँव, दो पाँख, एक पूँछवाला पक्षी हूँ, वह नहीं हूँ, मैं ब्रह्म हूँ।

मनुष्यके भी दो हाथ, दो पाँव, एक शिर और पञ्चकोष होते हैं, फिर वह ब्रह्म है इसमें क्या आश्चर्य !

एक बात ध्यान देनेकी यह है कि तैत्तिरीयमें मनोमय कोषके अन्तर्गत वेदको तित्तिरि पक्षीका शिर बताया है—यह बड़ी भारी बात है।

अब वही तीतर महाराज बोलते हैं कि : आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन ( २.४ ) 'ब्रह्मके आनन्दको जाननेवाला विद्वान् किसीसे भय नहीं करता।'

यहाँ ब्रह्मणः आनन्दम् = ब्रह्मका आनन्द कहा गया है। 'ब्रह्मणः'में षष्ठी विभक्ति है। मालूम पड़ता है कि ब्रह्म और चीज है और उसका आनन्द और चीज है। जैसे राज्ञः पुरुषः = राजाका आदमीमें राजा अलग है और उसका आदमी अलग है। पहिले ही भेदकी सिद्धि हो गयी। उसपर भी विद्वान् कहकर एक और भेद निकाला। ब्रह्म, उसका आनन्द और उसका जाननेवाला—तीन चीजें हो गयीं ! इसलिए ब्रह्मज्ञानका स्वरूप अद्वैत ज्ञान नहीं है, ऐसा मालूम पड़ता है। अब इसपर विचार करो।

वेदमें इस ढंगका बहुत विचार मिलता है, खास करके ऋग्वेद और यजुर्वेदमें।

तव हा अग्ने अहमस्मि = हे अग्निदेव, तुम हमारे हो।
त्वं वा मे स्यसि = तुम मेरे हो।

वेदमें अग्नि नाम परमात्माका है। तो इसका अर्थ हुआ कि मैं परमात्माका हूँ और परमात्मा मेरा है। बड़ा मधुर सम्बन्ध हुआ भाई ! लेकिन वेदमें ऐसा वर्णन आता है :

त्वं वा भगवो अहमस्मि[1] अर्थात् 'हे भगवान् ! तुम मैं हूँ और मैं

---

१. यह जाबाल श्रुति है। ऐसा विष्णुसहस्रनामके शांकरभाष्यमें कहा गया है, पर अब इस ग्रन्थमें नहीं मिलता। ( सम्पादक )

तुम हूँ। प्रेमी लोग कहते हैं कि यह प्रेमका आधिक्य है जो 'मैं तुम और तुम मैं'का एकत्व बताया जा रहा है। ज्ञानी लोग कहते हैं कि वास्तवमें 'तुम और मैं' एक ही हैं, केवल शरीरका भेद है।

अब जब 'ब्रह्मणः आनन्दम्' कहा तो ब्रह्म आनन्द है कि नहीं? बोले: है, क्योंकि श्रुतिने ही कहा कि **आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्**। तब **आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्**में षष्ठी सम्बन्ध क्या हुआ?

तैत्तिरीय उपनिषद्में ही आनन्दकी गणना की गयी है। वल्ली २ अनुवाद ८ में **सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति**, यहाँसे यह प्रसंग प्रारम्भ होता है। **युवा स्यात् साधुयुवाध्यापक आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठस्तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः।**

युवक हो, श्रेष्ठ आचरणवाला हो, विद्वान् हो, अनुशासित हो, शरीरसे दृढ़ एवं बलवान हो और उसे धनसे परिपूर्ण सारी पृथिवी प्राप्त हो जाय तो वह मनुष्य-लोकका एक आनन्द है।

इससे १०० गुना आनन्द मनुष्य-गन्धर्वका है। उससे १०० गुना आनन्द देव-गन्धर्वका है। उससे भी १०० गुना आनन्द पितरोंका है। इससे १०० गुना आनन्द अजानज देवताओंका है और उससे भी सौ-सौ गुना करते हुए कर्मदेव, देवता, इन्द्र, वृहस्पति, प्रजापति और अन्तमें ब्रह्मा या हिरण्यगर्भका आनन्द बताया गया है। इस प्रकार हिरण्यगर्भका आनन्द मनुष्यके आनन्दका १००००००००००००००००००००० गुना है; और अन्तमें कहा कि यह आनन्द **श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य** उसको जो कामना शून्य ब्रह्मज्ञ है सहज ही प्राप्त है।

इसका अर्थ ही यह है कि आत्मा आनन्दस्वरूप है और वह वासनाशून्य श्रोत्रियको ही अनुभव होता है। यदि आप अज्ञानी नहीं हैं और आपके हृदयमें कोई वासना नहीं है तो मनुष्यके

अलभ्य आनन्दका अनन्तगुना आनन्द आपको अपनी आत्माके रूपमें सहज ही प्राप्त अनुभव होगा। वह आनन्दस्वरूप आप ही हैं। इसी प्रसंगमें अन्तमें प्रस्तुत श्रुति है कि—**आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।** ब्रह्मके आनन्दको जाननेवाला किसी-से भयभीत नहीं होता।

इसलिए 'ब्रह्मणः आनन्दम्'में षष्ठी विकल्पमात्र है। यहाँ ब्रह्म और उसके आनन्दके अभेदमें ही षष्ठी है। जैसे **राहोः शिरः** ( राहुका शिर ) या **पुरुषस्य चैतनम्** ( पुरुषकी चेतनता ) या **ब्राह्मणस्य शरीरम्** ( ब्राह्मणका शरीर ) ये प्रयोग हैं, ऐसे ही **आनन्दम् ब्रह्मणः**का प्रयोग है। शिर ही राहु है, चेतन ही पुरुष है, शरीर ही ब्राह्मण है। ऐसे ही आनन्द ही ब्रह्म है। ब्रह्म परमानन्द-स्वरूप है।

यदि आनन्दस्वरूप ब्रह्मको और ब्रह्मस्वरूप आनन्दको तुम जान लो तो क्या होगा ? तुम निर्भय हो जाओगे।

मनुष्यके जीवनमें जितने दोष, दुर्गुण हैं वे सब मूलतः भयसे ही उत्पन्न होते हैं। सेठ लोग बैंकोंमें, तिजोरियोंमें, आसनोंके नीचे रुपया क्यों रखते हैं ? भयके कारण। हिंसा परगामिनी है और भय आत्मगामी है। हिंसासे दूसरोंको दुःख पहुँचाते हैं और भयसे अपनेको। हिंसाके मूलमें भी भय है। दूसरेको दुःख देने-वाला स्वस्थ व्यक्ति नहीं है।

किसीके कपड़ेमें लगी आग। उसने कपड़ा फाड़-फाड़कर फेंका। दूसरोंके घर जल गये। भय होता है अपने आश्रयमें। वही फिर हिंसा बनकर दूसरोंको विषय करती है। विषयप्रधान हिंसा है और आश्रयप्रधान भय है।

जान लिया ब्रह्मको आनन्द, और हो गये हम निर्भय ! इसका अर्थ ही है कि स्वयं हम आनन्दस्वरूप निर्भय ब्रह्म हैं। ब्रह्मको

आनन्दस्वरूप जानना माने अपनेको ही आनन्दस्वरूप ब्रह्म जानना। जैसे हिंसा भयकी चिन्गारी है, वैसे निर्भयता आनन्द-कणिका है।

प्रियता सदैव अपनी ओर रहती है। गुरु भी प्यारा इसीलिए है कि भक्ति, मुक्ति, ज्ञान सब कुछ दे देगा। आनन्द ही प्रिय होता है। अपना आत्मा यदि परमानन्द न होता तो आनन्द भी प्रिय न होता। अरे तू तो परमानन्द-स्वरूप है, परन्तु इस बातको न जाननेके कारण अपनेमें अभाव देखता है। अपनेमें अभाव भ्रान्ति-बोध नहीं है, विपर्यय है।

जिस सुखको स्त्रीमें मानकर, पैसेमें मानकर, मकानमें मानकर, मरनेवाली छोटी-छोटी चीजोंमें मानकर, सेठकी सेवामें मानकर, राजाकी नौकरीमें मानकर, पराधीनतामें मानकर, विषयमें मानकर, स्वर्गमें मानकर, परलोकमें मानकर, अन्यमें मानकर, तुम अभावग्रस्त हो रहे हो, वह सुख तुम्हारे ही अन्दर है और वह तुम्हारा स्वरूप है।

जब तुम जानोगे कि परमानन्द ब्रह्म है और ब्रह्म तुम्हारी आत्मा है, तब क्या होगा कि—

**तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वनियमः**

तुमसे अभिन्न आनन्द है। माने तुम स्वयं परमानन्द स्वरूप हो।

ऐसा जाननेसे भय कूच कर जायेगा। भय क्या है? कुछ आवे वह चला न जाय। जो है वह बना रहे। इसके विपरीत कुछ न हो इसीका भय है।

बम्बईकी ही बात सुनाते हैं। ऐसे लोग मेरे पास छः, आठ वर्षसे आते हैं जो रोज अपना कोई-न-कोई दुःख सुनाते हैं। जब आते हैं तब दुःख ही सुनाते हैं। कह देते हैं: 'भाई, आठ

वर्ष हो गया ईश्वरकी शिकायत करते। पर रोज तुम्हें पलंग, रोटी, स्वास्थ्य, बच्चोंका ब्याह, सभी कुछ तो मिल रहा है। तुम्हारी शिकायत क्यों नहीं छूटती ?'

असलमें लोगोंको शिकायत करनेकी आदत पड़ जाती है। फिर सुननेवालोंको भी अविश्वास हो जाता है।

आखिर तुम डरते किससे हो ? तुम्हारा आत्मा मर जायेगा ? नहीं। अबतक कभी मरा है ? शास्त्रके हिसाबसे बार-बार जन्मे और मरे हैं, ठीक है, परन्तु देह ही मरा होगा। जब अभीतक नहीं मरे तो आगे मर जाओगे, यह ख्याल क्यों ? कितनी बार पैसा आया-गया ! कितनी बार रोग आया-गया ! निर्भय हो जाओ। जब तुम स्वयं परमानन्द हो तो भय किस बातका ?

अभयं वै ब्रह्म ( बृहदा० ४.४.२५ )

श्रुति कहती है कि ब्रह्मका स्वरूप अभय है। न बिभेति कुतश्चन ( किसीसे भय नहीं करता ) इसका अर्थ भी यही है कि ब्रह्म अभयस्वरूप है। 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्'से कहा कि तुम आनन्द हो, और 'न बिभेति कुतश्चन'से बताया कि तुम अभयस्वरूप अद्वितीय ब्रह्म हो !

ब्रह्म माने यह मत समझ लेना कि भोजन नहीं होगा, चलना नहीं होगा। अद्वैतवादियोंका यह सिद्धान्त है कि 'मिथ्या' शब्द प्रपञ्चका अपह्नव अर्थमें ( मिटानेके अर्थमें ) नहीं है, वह 'अनिर्वचनीयतावचनः' है, अर्थात् वह अनिर्वचनीयताका वाचक है। परब्रह्म परमात्माकी अनन्ततामें यह सृष्टि डूब जाती है इसलिए इसको अलगसे सत् नहीं बोल सकते। और जब ब्रह्मपर दृष्टि नहीं जाती तो बिलकुल सच्ची दिखती है इसलिए इसको असत् भी नहीं बोल सकते। तब ? अनिर्वचनीय सृष्टि-व्यवहार चल रहा है। तत्त्वरूपसे यह ब्रह्म है और व्यवहारतः अनिर्वचनीय है।

ब्रह्मज्ञानमें योगियोंकी तरह समाधि लगानेकी जरूरत नहीं है और भक्तोंकी तरह बैकुण्ठ जानेकी भी बात नहीं है। धर्मात्माकी तरह यज्ञशालामें भी बैठनेकी जरूरत नहीं है। अपने यथोचित व्यवहार तुम करते रहो। अन्वय-व्यतिरेककी दृष्टिसे वह हितकारी होना चाहिए, अहितकारी नहीं। विहित जितना है वह सब कोई कर सके इसका दावा हम नहीं करते। सब तो सब कर ही नहीं सकते। अतः केवल निषिद्धसे बचो और सारे विहित करनेका आग्रह मत रखो। वासना आते ही कर्म मत करो। समयकी प्रतीक्षा करो, वासनाका वेग शान्त हो जायेगा।

ब्रह्मके आनन्दको जानो। आगे भी ब्रह्म, पीछे भी ब्रह्म। दक्षिण ब्रह्म, उत्तर ब्रह्म। ऊपर ब्रह्म और नीचे ब्रह्म। यह सब विश्व ब्रह्म है :

**ब्रह्मैवेद अमृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चात् दक्षिणश्च उत्तरेण।**
**अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतम् ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥**

(मुण्डक २.२.११)

इसी प्रकार **स एवेदम मृतं पुरस्ताद्।** इत्यादि, **आत्मैवेदम-मृतं पुरस्तात्।** इत्यादि, **अहमेवेदममृतं पुरस्तात्।** इत्यादि। निष्कर्ष यह कि सर्वत्र 'अहम्'-वाच्य चित्स्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही सर्वरूप है। जहाँ ब्रह्म है वहीं उसका आनन्द है। इसलिए सर्वत्र सर्वदा आनन्द ही आनन्द है। तब फिर किससे डरोगे? **न बिभेति कुतश्चन।**

भामतीकारने कहा: **स्मितमेतस्य चराचरम्** (मंगलाचरण श्लोक)। यह जगत् ब्रह्मकी मुस्कान है। ब्रह्मकी चिदात्मक मुस्कानकी जो रश्मियाँ हैं वही प्रपञ्चके रूपमें दिखायी पड़ रही हैं। यहाँ पर्दा भी ब्रह्म है, रोशनी भी ब्रह्म है और उसकी मुस्कान भी ब्रह्म है। फिर भय कहाँ?

महात्मा गांधी गये काशी। साथमें सरदार पटेल भी थे। पटेलसे उन्होंने कहा : गावो। पटेलजीने गाया : **अब हम अमर भये न मरेंगे।** मैंने पहिले-पहिल उन्हींके मुखसे यह भजन सुना था।

**कुतश्चन न बिभेति** = किसीसे भयभीत नहीं होता। दूसरा कोई हो तब न डरे! भय आत्मगामी होता है, हिंसा परगामिनी होती है, और अहिंसा उभयगामिनी है। जैनी लोग हिंसा दो तरहकी मानते हैं : द्रव्यहिंसा → दूसरोंको मारना या कष्ट पहुँचाना; भावहिंसा → अन्तःकरणमें विकार एवं दुःखीपना होना। अहिंसा अपनेको भी निर्भय कर देती है और दूसरोंको भी निर्भय कर देती है।

**द्वितीयाद्वै भयं भवति** ( बृहदा० १.४.२ ) = दूसरेसे भय होता है। ब्रह्मज्ञानने क्या किया कि जिसको तुम दूसरा समझते हो वह तुम ही तुम हो, दूसरा कोई है ही नहीं, ऐसा बोध उत्पन्न कराया। फिर भय कहाँ रहा?

एक बार हम भगे चित्रकूटके लिए। रास्तेमें एक मित्रने पूछा : 'साथमें कोई नहीं है, अकेले ही जा रहे हो?' मैंने कहा : 'मैं हूँ और साथमें मेरा प्यारा है!' यह भावुकतामें निर्भयताकी बात आपको सुनायी।

यदि दूसरेसे भय है तो बन्द कमरेमें क्यों डरते हो? कोई बाहरसे किवाड़ी न तोड़ दे, कोई भूत-प्रेत न चढ़ बैठे, ये सब मनसे डर लगते हैं। जब अपनेको जवान मानते हो तो बुढ़ापेका डर लगता है, जब बुद्धिमान् मानते हो तो पागलपनका डर लगता है। 'द्वितीयाद्वै भयं भवति'! ब्रह्म कैसा है? 'एकमेवाऽद्वितीयम्'। तब क्या बोलेंगे? ब्रह्म निर्भय है : **अभयं वै ब्रह्म** (बृहदा० ४.४.२५)

**अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि** ( बृहदा० ४.२.४ )

भयमें बस इतनी-सी बात है कि विक्षेप ब्रह्म नहीं है समाधि ब्रह्म है; यही भेद है। ठीक है, यदि विक्षेपमें ब्रह्मबुद्धि नहीं होती तो समाधि लगाओ। हम समाधिकी सरल युक्तियाँ बता देंगे।

बोले : त्याज्य संसार दुःख रूप है और हमारे इष्टदेव परमानन्द-स्वरूप हैं ! ठीक है, तुम उपासना करो।

बोले : दृश्य दुःखरूप है और द्रष्टा सुखरूप है। ठीक, तुम दृश्यको छोड़कर द्रष्टामें बैठो। पाँच मिनट या पाँच घण्टा। परन्तु यह विवेक करना कि यह जो स्थिति है वह दृश्य है कि द्रष्टा है ? स्थिति दृश्य है और उससे तादात्म्य करके बैठे हैं।

अब ब्रह्म क्या है ? यह पाँच मिनटमें भी है और उससे परे भी है। यह अन्तर्देश, बहिर्देश, सविषय, निर्विषयके भेदको नहीं मानता है। यह प्रत्येक अवस्था, प्रत्येक कालमें ज्यों-का-त्यों रहता है।

यदि ज्ञानी पुरुष हाय-हाय करता मरे, या चाण्डालके घरमें मरे, तो क्या उसका पुनर्जन्म होगा ? नहीं होगा, क्योंकि वह ज्ञानसमकाल ही मुक्त हो जाता है :

**तीर्थे श्वपचगृहे वा नष्टस्मृतिरपि परित्यजन्देहं ज्ञानसमकालमुक्तः**

( परमार्थसार-८१ )

यह ज्ञानकी महिमा है कि जहाँ समाधि मृत्युपर्यन्त लगानी पड़ती है, उपासना मृत्युपर्यन्त करनी पड़ती है, वहाँ यह तत्त्वज्ञान रहनीका सवाल हो काट देता है कि कैसे रहना चाहिए कैसे नहीं रहना चाहिए।

**न वै साधुकर्मणा भूमान् नो एव असाधुकर्मणा कनीयान्।**

( कौषीतकी उप० ३.८ )

'यह आत्मा साधुकर्मसे बड़ा नहीं होता और असाधुकर्मसे छोटा नहीं होता।'

एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा बर्द्धते नो कनीयान्।

(बृहदा०४. ४.२३)

ब्रह्मज्ञानीको मृत्युसे डर नहीं, जन्मसे डर नहीं, विक्षेपसे डर नहीं, समाधिसे डर नहीं, नरकसे डर नहीं, स्वर्गसे डर नहीं, कर्मसे, अकर्मसे, यहाँ तक कि ईश्वरसे भी डर नहीं; क्योंकि वह ईश्वरकी भी आत्मा हो गया! बनने-मिटनेके पहले-पीछे जो रहता है वह हो गया, फिर डर कहाँ? उसके स्वरूपमें कुछ अन्य है ही नहीं, न शून्य, न अशून्य! बल्कि सब द्वन्द्वोंमें वही है।

न बिभेति कुतश्चित् निमित्तात्

किसी निमित्तसे भी डर नहीं आता। दोबारा अज्ञान होनेका भी डर नहीं है।

श्री उड़िया बाबाजी महाराजसे किसी भक्तने कहा: महाराज, कृपा करके आपने हमें निर्भय बना दिया।

बाबा: अभी तो तुम्हें अपनी निर्भयता मालूम पड़ती है। जब कभी नहीं मालूम पड़ेगी तब क्या होगा?

भक्त: हाँ महाराज, यह तो आप ठीक कहते हैं। इस बातका तो डर है।

बाबा: अभी तुम निर्भय नहीं हुए। एक भय तुम्हारा बाकी है—यह जो भय आजानेका भय है, वह भय अभी बाकी है।

आश्चर्य है! डर यह है कि बन्ध्याके बेटा होगा तो हमारी सम्पत्तिका उत्तराधिकारी हो जायेगा। इस समय भय है और अनुत्पन्नका भी भय है, माने डबल भय है। इस भयको मिटाओ कि मान लो ब्रह्मज्ञानी पागल हो जायेगा तो उसकी मुक्ति होगी कि नहीं? इस भयको मिटाओ कि मानलो ब्रह्मज्ञानी असुर हो जायेगा तो उसकी मुक्ति होगी कि नहीं? आपने योगवासिष्ठमें चूड़ाला आदिकी कथाएँ अवश्य पढ़ी होंगी।

न बिभेति कुतश्चन। कुतश्चन विषयात्, विषयाभावात्, भोगात्, भोगाभावात् च, कर्मणः, कर्माभावात्, भावात्, भावाभावात्।

ब्रह्मज्ञानी किसीसे नहीं डरता, न विषयसे, न विषयाभावसे, न भोगसे, न भोगाभावसे, न कर्मसे, न भावसे, न शान्तिसे और न इनके अभावसे। हजारों गरीब जैसे गुजर-बसर करते हैं वैसे ही वह भी कर लेगा, इसमें डरकी क्या बात है ?

बुद्धि समाधिमें रहे चाहे विक्षेपमें रहे ! यह न हुई बुद्धि जो चमक रही है इसके चमकने या न चमकनेकी कोई कीमत नहीं है।

ब्रह्म कोई एकांगी वस्तु या अवस्था नहीं है। इसलिए 'कुतश्चन'का अर्थ है कि किसीसे भी, न प्रधानसे, न प्रलयसे और न ईश्वरसे, मनुष्य और जगत्की वस्तुओंकी तो बात ही क्या है, ब्रह्मज्ञानी नहीं डरता।

**अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि** ( बृहदा० ४.२.४ )

याज्ञवल्क्य जनकसे बोलते हैं कि हे जनक ! तुझे अभयरूप ( ब्रह्म ) प्राप्त हो गया है। क्योंकि दूसरेसे भय रहता है और यह दूसरी बुद्धि तेरी रही नहीं।

एक महात्मा थे। स्वामी हीरानन्दजी भाऊपुरवाले। ११५-११६ वर्षकी उम्रमें उनकी मृत्यु हुई। पैदल ही अक्सर घूमते थे। यहाँ बम्बई भी आये थे। उनकी जीभमें कैन्सर हो गया था। डाक्टरोंने कहा : तुम्हारी जीभ काट दें। बोले : 'अब आखिरी उम्रमें आधी जीभ काटकर क्या करोगे ? शरीर तो अब छूटने-वाला ही है, ऐसे ही छूट जाने दो।' कानपुरमें फिर उनका शरीर पूरा हुआ।

हमारे साथ ( १९५९ में ) स्पेशल तीर्थयात्रा ट्रेनमें गये थे। चलते थे, फिरते और दौड़ते थे। वे पैदल चीन भी गये थे। आसाममें

एक बार जंगलमें आदिवासियोंमें फँस गये। उनके यहाँ कोई उत्सव था। नाच-गाना हो रहा था। मांस काट-काटकर रखा गया था। इनके पास था केवल कम्बल और लँगोटी। ले गये पकड़कर। कहा, मार डालेंगे। इन्होंने इसारेसे कहा कि जो तुम हो वही हम हैं। वे बोले, अच्छा मांस खाओ। इन्होंने मना किया। तब उन्होंने चावल खिलाया।

एक बार सेनामें फँस गये। जासूस समझकर पकड़े गये। बोले : हम तो भारतीय हैं। सैनिकोंको व्याख्यान देकर बतायेंगे कि मौतसे मत डरो। मौत नामकी कोई चीज नहीं है। हम भी मौतसे नहीं डरते।

डरना क्या! राजा, शत्रु, देवता, दैत्य, दानव, मनुष्य, पशु, पक्षी तुम्हारा क्या बिगाड़ेंगे? कह दो : जो तुम हमारा बिगाड़ोगे उसको हम पहले ही छोड़ चुके हैं, मिथ्या समझ चुके हैं।

मिथिलानाथ विदेह राजा जनककी भाँति अभय रहो : **अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि।**

याज्ञवल्क्य वेदान्त-श्रवण कराते थे। महात्मा लोग बैठते, परन्तु राजा जनक जबतक नहीं आजाते तबतक प्रवचन प्रारम्भ नहीं करते थे। महात्माओंने आपत्ति की कि राजा, धनीके आगे हम महात्माओंकी अवहेलना होती है। याज्ञवल्क्यने एक लीला रची। जनक और महात्मा सब बैठे थे। किसीने आकर कहा : महाराज, नगरमें आग लग गयी। जनक बोले : ठीक है, आग बुझानेवालोंसे कहो; प्रवचन चालू रखिये महाराज! फिर थोड़ी देरमें खबर आयी : 'महाराज, आग महात्माओंके स्थानतक पहुँच चुकी है। महात्माओंके लँगोटी, कम्बल, कमण्डलु जल रहे हैं।' इतना सुनना था कि महात्मा लोग प्रवचन छोड़-छोड़कर दौड़े। परन्तु वहाँ तो मायाकी आग थी, बुझ गयी।

महाभारतमें थोड़ा रूपान्तर है। वहाँ जब यह समाचार जनकके पास पहुँचा कि आग लगी है तो राजा जनक बोलते हैं :

> सुसुखं बत जीवामि यस्य मे नास्ति किंचन।
> मिथिलायां प्रदग्धायां न मे किंचन दह्यते॥
> (शान्ति २७६.४)

'यह सारी दुनिया हमारी है। यह आग भी हमारी। सब कुछ मेरा है या कुछ मेरा नहीं है। सारी मिथिला भस्म हो जाय तो भी मेरा कुछ नहीं जलता है।'

याज्ञवल्क्यने कहा : अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि। राजा जनक, तुम अब निर्भय हो गये।

महाभारतमें लिखा है कि जनककी २२ पीढ़ी जीवन्मुक्त हुई हैं। एक जनकसे अपराध हो गया, पुराणोंमें ऐसी कथा है। अपराध क्या था कि गृहस्थ-धर्मके पालनमें उनकी पत्नीको ही उनसे कोई दुःख पहुँच गया था। यह कथा यह बात बतानेके लिए भी है कि ब्रह्मज्ञान होनेके बाद यदि गृहस्थ हो तो गृहस्थका और यदि संन्यासी हो तो संन्यास-धर्मका ठीक-ठीक पालन करना चाहिए। गृहस्थमें रह करके संन्यासी मत बनो और संन्यासमें रह करके गृहस्थ मत बनो। तो, जब जनकका शरीर छूटा, यमराजने कहा : महाराज, आप ब्रह्मज्ञानी हैं आपको पाप तो नहीं लगेगा परन्तु मर्यादाके लिए आपको इतना ही पर्याप्त है कि आपको नरकके रास्ते ले जाया जाय। चले, नरकके रास्ते, जनक और यमराज भी। एक दुर्गन्धित गलीसे जब निकलने लगे तो वहाँके पापी लोग चिल्लाने लगे : महाराज, ठहर जाओ। जनकने पूछा : क्या बात है? यमने बताया कि आपके यहाँसे निकलनेसे आपके शरीरकी सुगन्धि फैली है, इससे इन्हें सुख मिला है। जनक बोले : यदि ऐसी बात है, तो इनके सुखके लिए मैं जिन्दगी

भर यहीं रह लूँगा। यमने आपत्ति की कि उनका अधिकार वहाँ रहनेका नहीं है। जनकने कहा : जब स्वर्ग भी मुझमें है और नरक भी मुझमें है तब अधिकार क्यों नहीं? अन्ततः यमने कहा : ठीक है महाराज, फिर तो नरकको ही वैकुण्ठ बनाना पड़ेगा।

नरकका कीड़ा भी तो अपना आत्मा ही है। 'अनुभूति-प्रकाश'में एक प्रसंग बड़ा सुन्दर विद्यारण्य स्वामीने लिखा है :

**इन्द्रराजादिदेहेषु नाना भोज्यानि भक्षयन्।**

स्वर्गमें इन्द्रके सिंहासन पर कौन बैठा है? बोले : वह तो हमारे मनका एक कण है। सम्राट्के रूपमें दुनियाका शासन कौन कर रहा है? वह हमारे मनकी एक कणिका है।

**जक्षत् क्रीड़न् रममाणः स्त्रीर्वा यानेर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरम्** ( छा० ८.१२.३ )।

इस श्रुतिकी व्याख्या करते समय आत्मज्ञानकी यह महिमा बतायी।

श्रीमद्भागवतमें और मनुस्मृतिमें तो कहा है कि आत्मज्ञानी सेनापति हो सकता है, राज्य कर सकता है, फाँसीको सजा दे सकता है, सर्वलोकाधिपति हो सकता है—

**सैनापत्यं च राज्यञ्च दण्डनेतृत्वमेव च। सर्वलोकाधिपत्यं च ..**
( मनु १२.१०० )

क्योंकि उसको आँख बन्द करके बैठना तो ज्ञानमें है नहीं; अमुक स्थितिसे, वस्तुसे या भाव कहीं उसे कोई तादात्म्य करना नहीं है। वह तो **अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि** अभय रूप ब्रह्मको प्राप्त हो चुका है। ●

# ४. तदात्मानमेवावेद् ब्रह्मास्मीति

**तदात्मानमेवावेद् अहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्**

(बृहदा० १.४.१०)

'अज्ञान निवृत्त होनेके बाद उसने अपनेको ही 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा जाना, अतः वह सर्व हो गया।'

जनकको अभय प्राप्त हो गया, क्योंकि वह द्वैतसे ऊपर उठ गये। संस्कृतमें 'भी' धातु है जिसका अर्थ है—डर। इसका डरमें होनेवाली ध्वनि (भी भी ऽऽ) से है। यह भयका उपलक्षण है। भय कैसे होता है। किसीको अपनेसे सम्बन्धित पदार्थों—धन, मकान, सम्बन्धीके नाशसे भय होता है। ब्रह्म सम्बन्ध रहित है क्योंकि जहाँ बन्ध नहीं है वहाँ सम्बन्ध नहीं है। बन्धका महाबाप है सम्बन्ध। बन्धमें सम्यक्ता क्या? टेलीफोन और रेडियो दोनों सूचना देते हैं परन्तु एक तारसे देता है दूसरा बिना तारके। इसी प्रकार बन्धन जो कमरमें, गलेमें, हाथमें, पाँवमें रस्सी डालकर प्राप्त होता है वह भी बन्धन है और जो बिना रस्सीके बन्धन है, सम्बन्ध द्वारा, वह भी बन्धन है। धन, मकान, बेटा, बाप, कहाँ किसीसे बँधे हुए हैं? बिना बँधे ही जो बन्धन उत्पन्न करे, वह सम्बन्ध !

कोई-कोई चीज सम्बन्धके नाशसे नष्ट हो जाती है, कोई कार्यके नाशसे नष्ट हो जाती है। और कोई कारणके नाशसे नष्ट हो जाती है; कोई आश्रयके नाशसे नष्ट हो जाती है तो कोई स्वयं परिणामको प्राप्त होकर अपने ही विकारसे नष्ट हो जाती है। परन्तु यह जो ब्रह्मदेव हैं इनका स्वतः नाश तो हो ही नहीं सकता क्योंकि इनमें न परिणाम है, न विकार, परतः नाश भी नहीं हो सकता क्योंकि ये अद्वितीय हैं। इनका कोई दूसरा

आश्रय नहीं, इनका कोई कार्य नहीं (इसलिए इनमें कारणता भी नहीं है), पूर्णतः अद्वैत हैं। तब इनमें सम्बन्ध कहाँसे होगा? शत्रु कहाँसे होगा, मित्र कहाँसे होगा? सम्बन्धके नाशमें शत्रु, मित्र दोनोंका नाश हो जाता है। चींटी भी हाथीको मार सकती है। ब्रह्मका कोई चींटी-बराबर भी दोस्त-दुश्मन नहीं है। दाँतसे जो हम चबाकर खाते हैं वही दाँतको खा जाता है। आँतें जिसको पचाती हैं वे ही आँतोंको कमजोर कर देती हैं। कोई मित्रतासे मारता है तो कोई शत्रुतासे मारता है। दूसरा होगा तो तकलीफ जरूर पहुँचायेगा। **द्वितीयाद्वै भयं भवति** (बृहदा० १.४.२)। ब्रह्ममें द्वैत है ही नहीं। इसलिए ब्रह्मको प्राप्त कर लिया तो निर्भय हो गया।

एक आदमी कमरेमें बन्द होकर[1] अभय होता है। दूसरा बच्चा सरीखा[2] अपनी माँकी गोदमें जाकर अभय होता है। तीसरा हाथमें बन्दूक लेकर[3] अभय होता है। ब्रह्मकी निर्भयता इन तीनोंसे निराली, बिलकुल अलग ढंगकी है। कैसी है? तो कहा :

**तत् आत्मानम् एव अवेद् अहं ब्रह्मास्मि इति। तस्मात् तत् सर्वम् अभवत्।**

**तत् जीवाख्यं ब्रह्म आत्मानं एव अवेद् ज्ञातवत्**=जीव नामधारी जो ब्रह्म है उसने अपनेको जाना। जैसे कहें कि 'घटाकाश नाम-धारी जो आकाश है' तो उसका अर्थ होता है कि दरअसल घटाकाश आकाश ही है परन्तु घटकी उपाधिसे उसका नाम हो गया है 'घटाकाश'। इसी प्रकार जीव दरअसल ब्रह्म ही है परन्तु शरीर अन्तःकरणकी उपाधिसे इसका नाम हो गया है 'जीव'। इसी प्रकार 'हिन्दू' नामधारी मनुष्य या 'मुसलमान'

१. योगी। २. भक्त। ३. कर्मी।

नामधारी मनुष्य इन वाक्योंका अर्थ है। अब हिन्दू क्या जाने कि वह मनुष्य हो जाय? बस; हिन्दूपनेका निषेध ही अभीप्सित है, मनुष्य तो वह है ही।

तो उस जीव नामधारी ब्रह्मने किसको जाना? 'आत्मानम् एव अवेद्।' अपने आपको ही जाना! अपने आपको क्या जाना? 'अहं ब्रह्मास्मि'=मैं ब्रह्म हूँ, यह जाना। यह जाना कि 'मैं हिन्दू, मुसलमान नहीं मनुष्य हूँ; मैं पशु, पक्षी, मनुष्य, देह नहीं हूँ, मैं अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोषोंकी उपाधि नहीं हूँ; मैं अज्ञानकी उपाधि नहीं हूँ, न इन उपाधियोंसे संश्लिष्ट जीव हूँ; मैं तो सचमुच वस्तुतः ब्रह्म ही हूँ।'

अपनेको तो सभी जानते हैं, परन्तु असलमें जानते क्या हैं? **चार्वाक** जानते हैं कि चार भूतोंसे बना हुआ जो यह देह है और इसमें जो खास तरहकी चेतना पैदा हुई है जो देहपर्यन्त रहती है वह मैं हूँ। **बौद्ध** जानते हैं कि वासनाविशिष्ट जो क्षणिक विज्ञान है वह मैं हूँ और वह बिलकुल शून्य है। **नैयायिक** जानते हैं कि कर्ता, भोक्ता मैं हूँ। **सांख्य और योगवादी** जानते हैं कि द्रष्टा मैं हूँ। **उपासक** लोग जानते हैं कि अणुपरिमाण ईश्वरका अंश मैं हूँ।

सभी तो अपने आपको जाननेका दावा करते हैं। किसका दावा ठीक है? तो श्रुति कहती है कि जाननेकी एक संहिता होनी चाहिए। किसका जानना सच्चा है, इसकी एक संहिता, एक संविधान होना चाहिए। वह संविधान क्या है कि—

**तदात्मानम् एव अवेद् अहं ब्रह्मास्मि**

अपने आपको किस रूपमें जानें तो ठीक? 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूँ, इस रूपमें जानें तो ठीक। देश, काल, वस्तुके परिच्छेदसे शून्य, सजातीय, विजातीय, स्वगत-भेदसे रहित, अखण्ड अद्वितीय ब्रह्म हमारा आत्मा है, हम ही हैं, और यह सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्च

मुझमें ही चम-चम चमक रहा है। जब ऐसा जानोगे तब तुम्हारा आत्मज्ञान पूरा होगा !

इस जाननेका परिणाम क्या हुआ ? यह कि **तत्सर्वम् अभवत्** । अपनेको ब्रह्म जानते ही वह यह सब कुछ हो गया।

आपको एक बात सुनाते हैं : माताका अभिमान ही है कि बच्चा माँके पेटमें पैदा होता है। बच्चा तो बापके पेटमें होता है। और बापका भी अभिमान ही है क्योंकि वह तो अन्न ( गेहूँ आदि )के पेटसे आता है। अन्नमें पानीसे आता है। और पानीका भी वृथा अभिमान है क्योंकि वह आकाशसे आया। यह जो नाम-रूपका व्याकरण हुआ वह शुद्ध ब्रह्मसे ही हुआ। आकाशमें एक व्याकरण हुआ, जलमें एक व्याकरण हुआ, बीजमें एक, पुरुषके पेटमें एक, स्त्रीके पेटमें एक और बाहर एक। जैसे खानमें-से हीरा निकला कुछ, उसकी सफाई हुई कुछ, छेदा गया कुछ---ऐसे ही यह ब्रह्म तत्त्व है, वह उपाधिके भेदसे नाम-रूपको प्राप्त होता है।

अब संन्यास क्या है ? ब्रह्मको समझानेके लिए संन्यासका उदाहरण देते हैं। माँके पेटसे जब पैदा हुए थे तब चोटी, जनेऊ था ? मैं ब्राह्मण हूँ, यह अभिमान था ? मेरा सोहन-मोहन नाम था ? ये माँके पेटमें आनेसे पहले बापके पेटमें भी नहीं थे और उससे पहले अन्नमें, जलमें आकाशमें भी नहीं थे। तो जिस अनन्त अद्वितीय अविनाशी परब्रह्म तत्त्वमें 'मैं जीव' ऐसा नाम पड़ गया है और उपाधि-संसर्गसे आकृति आ गयी है, वह यह नाम और रूप दोनों मिथ्या हैं। नाम, रूप दोनों उपाधि हैं ( नाम रूप दोउ ईस उपाधि )। मुण्डन-संस्कार करके चोटी लग गयी। यज्ञोपवीत-संस्कार करके जनेऊ लाया गया। मनुष्यमें वर्ण और आश्रमका आरोप हुआ कि अब तुम ब्रह्मचारी हो, अब तुम गृहस्थ हो, अब तुम वानप्रस्थ हो। इन-इन आश्रम और वर्णोंका

कर्त्तव्य-विधान लागू हो गया। ऐसे ही है यह जैसे पहले सैनिक बनाते हैं और फिर ड्यूटी सुपुर्द कर देते हैं।

बोले कि भाई, इस यज्ञोपवीत और चोटीके धर्मोंका अपवाद कर दो अब! फिरसे पण्डित इकट्ठे हुए, वैसे ही वेदी बनायी गयी, होम-हाम किया, चोटी-जनेऊ निकाला गया, और इसके द्वारा अपनेमें जो ब्रह्मचारी आदि आश्रम और ब्राह्मण आदि वर्णका अध्यारोप किया था उसका अपवाद कर दिया गया। फिर क्या हुआ—

**यथाजात रूपधर** ( संन्यास-पर्व )

जैसे माँके पेटसे पैदा हुए थे उसी रूपमें हो गये; इसीका नाम संन्यास है। बीचमें जो अध्यारोप हो गया था उसका अपवाद हो गया। यह संन्यासोपनिषद् है, परमहंस परिव्राजकोपनिषद् है।

ब्रह्ममें जो जीवत्व है वह अपनेमें एक वेश लिया, एक अभिमान लिया और अपनेमें जीवत्वका आरोप कर लिया। इस अनादि कालीन जीवत्वके अध्यारोपका अपवाद आवश्यक है। तुम हो तो पहलेसे ही ब्रह्म, अध्यारोपका अपवादमात्र करना है।

'मैं संन्यासी हूँ' इस अभिमानका उदय अपेक्षित नहीं है, परन्तु मैं ब्रह्मचारी हूँ या गृहस्थ, वानप्रस्थ हूँ, इस अभिमानकी निवृत्ति अपेक्षित है। इसी प्रकार 'मैं ब्रह्म हूँ' यह अभिमान अपेक्षित नहीं है, वरन् जीवत्वके अभिमानकी निवृत्ति अपेक्षित है। मैं देह हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं संन्यासी हूँ, मैं हिन्दू हूँ, मैं इन्द्रियवान्, बलवान, मनस्वी, बुद्धिमान्, कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी, संसारी, परिच्छिन्न हूँ—इसकी निवृत्ति अपेक्षित है।

यह अपवाद भी कायदेसे करना पड़ता है। जब कायदेसे नौकरी करते हैं तब कायदेसे इस्तीफा देते हैं, जब कायदेसे विवाह करते हैं तब कायदेसे तलाक देते हैं। इसी प्रकार शास्त्रीय

रीतिसे अध्यारोप करते हैं तो शास्त्रीय रीतिसे ही अपवाद करना चाहिए।

कोई माईका लाल बतादे कि उसने अपने जीवत्वको देखकर अपनेको जीव माना है? देखते ही उससे न्यारे हो जाओगे। यही आश्चर्य है। जीवत्व परिच्छिन्न है, ज्ञान परिच्छिन्न नहीं है। परन्तु अपनेको ब्रह्म देखनेसे (जाननेसे) ब्रह्मसे न्यारे नहीं होओगे। जिसको जानकर 'मैं ज्ञेयसे न्यारा हूँ' यह ज्ञान हो तो वह दृश्य है, जड़ है, परिच्छिन्न है; और तुम्हारा जीवत्व ऐसा ही है। परन्तु जिसको जानकर तुम उससे अलग न हो सको उसका नाम ब्रह्म है। वह ब्रह्म तुम्हीं हो। तुमसे अलग रहकर ब्रह्म ब्रह्म नहीं रहेगा।

यह ज्ञानका स्वरूप बताया।

हमारा जो ज्ञानपुञ्ज है (संस्कार-रूप) उसमें ज्ञात, अज्ञातके संस्कार भरे हुए हैं। ज्ञातके अनुभव द्वारा और अज्ञातके श्रवण द्वारा अथवा कल्पना-रूप। लोक, परलोक, पुनर्जन्म ये सब अज्ञान कोटिमें हैं। पहले अगर ऊपरसे काटना शुरू करोगे कि मैं जीव नहीं हूँ, तो लोक, परलोक, पुनर्जन्म आदि तो कट जायेगा परन्तु अपनेको देह जानते रहोगे, संसारसे आसक्ति बनी रहेगी और अपनेको ब्रह्म जानोगे नहीं। नास्तिक भी अपनेको जीव नहीं मानते हैं; चार्वाक भी अपनेको जीव नहीं मानते हैं (परन्तु देह मानते हैं)। परन्तु वेदान्तमें अपनेको ब्रह्म जानकर मिथ्या जीवत्व अपने आप छूट जाता है। किसीने आजतक जीवको नहीं देखा है। यह जो लोग जीवका फोटो लेकर अखबारोंमें छपवाते हैं वे या तो मूर्ख हैं या बदमाश हैं। जीवका फोटो नहीं होता।

परिणाम क्या निकला? यदि महावाक्य द्वारा ही तुम्हारे अनुभवका उल्लेख नहीं होता तो तुम्हें वेदान्त-ज्ञान नहीं हुआ।

यदि तुम्हें अनुभव बोलकर बताना हो तो भाषा कोई भी हो यही जाहिर करना पड़ेगा कि 'मैं अनन्त, अखण्ड, परिपूर्ण, चैतन्य हूँ, मेरे सिवाय कोई दूसरी वस्तु नहीं है।'

इस अनुभवका नतीजा ?

तस्माद् वेदनात् तद् ब्रह्म सर्वम् अभवत्।

'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा जाननेसे वह ब्रह्म ही सर्व हो गया।

'सर्व' माने भावाभावसाधारण; भाव, अभाव, उनके आन्तरिक एवं परस्पर भेद, द्वैत, अद्वैत, उनके आन्तरिक एवं परस्पर भेद, जन्म मृत्यु, प्रिय अप्रिय, अनुकूल प्रतिकूल सब ब्रह्म है। समाधि, विक्षेप, इष्ट, अनिष्ट, यहाँ, वहाँ, जब, तब सब ब्रह्म !

एकांगी बोधमें अनुकूल, प्रतिकूल, इष्ट, अनिष्टका भेद बना रहता है। परन्तु ब्रह्मज्ञानी सर्वको अपना स्वरूप समझता है। कैसा निराला है उसका जीवन—

क्वचित् शिष्टः क्वचित् भ्रष्टः क्वचित् भूतपिशाचवत्।
नानारूपधरो योगी विचचार महीतले ॥

कभी शिष्ट तो कभी भ्रष्ट, कभी भूत-पिशाचकी तरह दिखायी देनेवाला—ब्रह्मयोगी नाना रूप धारण करके पृथिवीपर विचरण करता है।

जब यह ज्ञान हो गया कि मेरे सिवाय कुछ नहीं है तो जो-जो प्रतीतिका विषय है वह उसके अनुभवसे जुदा नहीं है। वह सर्व है, उसे क्या छोड़ना और क्या पाना है ?

छोड़ना पाना नहीं रहा तो राग-द्वेष नहीं रहा। यह मैं हूँ मैं नहीं हूँ, यह नहीं रहा। जितनी देरी-दूरीमें जिस रूपमें प्रपञ्च है वह और जितनी देरी-दूरीमें प्रपञ्च नहीं है वह, सब ब्रह्म है। फिर मरणसे द्वेष क्यों और जीवनसे राग क्यों ? एक ही शरीरमें अस्मिता क्यों ? मरे तो मरे, जीये तो जीये ! ●

**यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः।**
**तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥**

( ईशावास्योप० ७ )

'जिस समय 'सब भूत आत्मा ही हो जाते हैं' उस समय उस एकत्वके देखनेवालेको शोक और मोह कहाँ ?'

ईशावास्योपनिषद्का इससे पहिला मन्त्र है :

**यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।**
**सर्वभूतस्थमात्मानं ततो न विजिगुप्सते॥** (ईशावास्योप ०६)

'जो सब भूतोंको आत्मामें और सब भूतोंमें आत्माको देखता है वह फिर किसीसे घृणा नहीं करता।'

योगदर्शनका कहना है कि क्लेश पाँच हैं : अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष और अभिनिवेश। इनमें **अविद्याक्षेत्रम् उत्तरेषाम्**=अविद्या बादके सभी क्लेशोंकी भूमि है। अर्थात् अविद्याके खेतमें ही अस्मिता, राग-द्वेष और अभिनिवेशकी खेती होती है। ब्रह्मज्ञानसे अविद्या ही नष्ट हो गयी तो फिर क्लेश कहाँ रहेंगे। क्लेशोंका समूल नाश ब्रह्मज्ञानसे हो जाता है।

**यस्तु सर्वाणि भूतानि** : भूत क्या ? भवन्तीति भूतानि=जो होते हैं सो भूत। जो हैं सो नहीं, जो होते हैं। 'है' विद्यमानताका वाचक है और 'होना' परिणामका। संस्कृतमें 'अस्ति' और 'भवति' दोनोंका धात्वर्थ तो एक है, परन्तु प्रयोगमें फर्क है।

**अस्ति भवति, भवति परिणमते।**
**यद् भवति तद् भूतमपि भवति भविष्यदपि भवति**

जो हो रहा है वह हो चुका है और होगा भी। जो है उसमें न हुआ जुड़ा, न होना जुड़ा और न होगा जुड़ा।

जहाँ बोल तहं अखर रहावा। जहाँ अबोल तहं अक्खर न रहावा॥
बोल अबोल मध्य है जोई। जस वह है तस लखै न कोई॥
'है' कभी दृश्य नहीं होता।

यस्तु सर्वाणि भूतानि क्व पश्यति? आत्मनि एव पश्यति। जो सब भूतोंको कहाँ देखता है? आत्मामें ही देखता है। जैसे आकाशमें चिड़िया उड़ती हैं, जैसे रोशनीमें छोटे-छोटे धूलिके कण उड़ते दिखायी देते हैं, जैसे आकाशमें पानीकी बूँदें हैं, आकाशकी चिन्गारियाँ झड़ती हैं, सूर्यकी किरणें बिखरती हैं, ऐसे ही अपने स्वरूपमें यह सम्पूर्ण प्रपञ्च प्रतीत होता है।

तो क्या आत्मा आकाशकी तरह सब भूतोंका अधिष्ठान ही है? अवकाश ही क्या आत्मा है? बोले : नहीं, जो भूतोंमें है वह भी आत्मा ही है। भूतोंमें क्या है? उनका उपादान। वह उपादान भी आत्मा ही है। **सर्वभूतस्थमात्मानम्**। सर्व भूतोंमें स्थित जो आत्मा है उसको देखता है।

सब भूत आत्मामें और आत्मा सब भूतोंमें, इसका अर्थ हुआ कि सब भूत आत्मासे अभिन्न हैं आत्मा ही 'ये सब' इस प्रतीतिका विषय बना हुआ है। इस प्रतीतिका विषयी भी वही है और प्रतीति ज्ञानसे अभिन्न होती ही है :

इसप्रकार जाननेका फल क्या हुआ? ततो न विजुगुप्सते = निन्दा, घृणा, गुलामी सब कट गयी।

इसके बाद अब सातवें मन्त्रका विचार करते हैं :

**यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः।**
**तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥**

**यस्मिन् ज्ञानकाले वृत्तिव्याप्तिकाले** : अर्थात् ज्ञानकालमें; जिस समय ब्रह्मज्ञानका उदय और अविद्याकी निवृत्ति होती है, उस कल्पित क्षणमें।

**विजानतः**=वह जो विज्ञानी पुरुष है। विजानाति इति विजानन्, तस्य विजानतः।

**विजानतः विज्ञानवतः विज्ञानस्वरूपस्य पुरुषस्य आत्मैव सर्वाणि भूतानि अभूत्।**

'वह जो विज्ञानवान् पुरुष है उसका आत्मा ही ये सब भूत हैं' जिस क्षण यह बोध होता है।

**सर्वाणि भूतानि आत्मैव न अभूवन् किन्तु आत्मैव सर्वाणि भूतानि अभूत्।**

सब भूत आत्मा हो नहीं जाते बल्कि आत्मा ही सब भूत है, यह बोध होता है। 'अभूत्' एकवचन क्रिया है। उसका कर्ता एकवचन आत्मा है। और 'सर्वाणि भूतानि' बहुवचन है। अतः आत्मा ही सब भूत हो जाता है—आत्मा ही सब भूत हैं यह बोध हो जाता है, यह अर्थ है।

चाहे करना हो चाहे होना हो, बिना चेष्टारूप प्रयत्नके न करना होता है न होना होता है। बिना कृतिके कोई वस्तु बदल नहीं सकती। यदि आत्मा सम्पूर्ण प्रपञ्चके रूपमें 'बनेगा' तो आत्मामें कोई-न-कोई कृति स्वीकार करनी पड़ेगी, कोई-न-कोई चेष्टा कोई-न-कोई प्रयत्न, परिणाम स्वीकार करना पड़ेगा। शंका ठीक है, आत्मामें कृति, परिणाम हो जाता है और सर्वभूत बन जाता है। इस मान्यतामें कोई हानि नहीं है क्योंकि : **तदेवेदमिति एकत्वबुद्धिर्न व्याहन्यते**=यह वही आत्मा है, इस बुद्धिका तो व्याघात नहीं होता!

**उत्तर :** नहीं, यह वही आत्मा है ऐसी बुद्धि होनेपर भी यह कूटस्थ बुद्धिका स्वरूप नहीं है। तब यह कैसी बुद्धि है? यह परिणामी सत्य बुद्धि है :

**तदपि कूटस्थ सत्यं न भवति। तर्हि किं भवति? परिणामि सत्यं भवति।**

यह जो मालूम पड़ता है कि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिमें मैं एक हूँ, यह भी कूटस्थ बुद्धि नहीं है। जहाँ किञ्चित् भी उत्पत्ति और प्रलयका सम्बन्ध होगा वहाँ वस्तुमें परिणाम जरूर-जरूर होगा। वह कूटस्थ नित्य नहीं हो सकता। और आत्मचैतन्य जो है वह कूटस्थ चेतन है, अपरिणामी चेतन है।

तब 'आत्मैव सर्वाणि भूतानि अभूत्'का क्या अर्थ हुआ?

**अभूत् कदाचित् भूते काले सर्वाणि भूतानि अभूत्, अथवा इदानीं भवति अथवा अग्रे भविष्यति।**

आत्मामें भूतसमुदाय कभी, किसी भूत कालमें बना अथवा बन रहा है अथवा भविष्यमें बनेगा, ऐसा नहीं। आत्मा तो ज्यों-का-त्यों हैं और जैसे श्मशानमें भूत-प्रेत बिना हुए भासते हैं वैसे ही आत्मामें ये सब भूत बिना हुए हो भासते हैं।

ऐसा अर्थ क्यों करते हैं कि यहाँ 'आत्मैवाभूत्, कुर्वतः' या 'आत्मैवाभूद् विकुर्वतः' नहीं कहा गया, बल्कि 'आत्मैवाभूद् विजानतः' ऐसा कहा गया है। जानते ही आत्मा सब हो गया। इसका अर्थ है कि आत्मा पहलेसे ही सब कुछ था, वह सब कुछ बना नहीं।

जब सब अपना ही है तब? **तत्र को मोहः कः शोकः?** वहाँ शोक मोह कहाँ? उसके लिए क्या शोक, क्या मोह! किसके लिए? **एकत्वम् अनुपश्यतः** उस एकत्वके देखनेवालेके लिए।

'विजानतः' और 'अनुपश्यतः' दोनों षष्ठी विभक्तियाँ हैं, एक वचन है इसलिए इनका सामानाधिकरण है।

ब्रह्म-विज्ञानका स्वरूप क्या है? एकत्वानुदर्शन। एकत्वका दर्शन नहीं, अनुदर्शन। एकत्वकी दृष्टि अपनी ओरसे बनायी गयी

है। परन्तु एकत्व वस्तुतः जैसा है उसका वैसा ही देखना अनुदर्शन है। दर्शन दृष्टिप्रधान होता है और अनुदर्शन वस्तुस्वरूप-प्रधान।

एकत्व-अनुदर्शनका फल है मोह और शोककी निवृत्ति। मोह क्या? आप बना रहे और हमारा बना रहे। 'मुह वैचित्ये' धातुसे मोह शब्द बनता है। जैसा नहीं हो सकता है जब वैसा चाहने लगते हैं, तब मोह होता है। बाल सफेद न हों, बुढ़ापा न आवे, दुनियामें फेर-बदल न हो, यह सब चाहना मोह है। चित्तकी विपरीतताको मोह कहते हैं।

एकत्व देख लिया माने अनेकतामें एकता देख ली। उदाहरणार्थ, आम हमेशासे एक ही है—बौर लगनेपर आम जो था, अमिया लगनेपर, बड़ा होनेपर, पकनेपर, सड़नेपर आम जो था वह सब एक ही है। ऐसे ही जगत्‌में एकत्वका दर्शन क्या है कि यह सब आत्मा ही है, इसमें चाहे जो नाम, रूपका परिवर्तन हो। यह तो सपनेका खेल-जैसा प्रतीतिमात्र है! इसमें जैसा जन्मना, वैसा मरना, क्योंकि दोनोंमें-से कोई स्वप्नद्रष्टाको छूता नहीं है।

अनादि जीवको 'मेरा' मानना, फिर उसके बने रहनेकी इच्छा, न रहनेपर रोना (और खुद न रो सको तो किरायेपर स्यापा करनेवालोंसे रुलवाना) यह सब अनादि अविद्याजन्य शोक, मोहका परिवार है जो आत्मज्ञानसे नष्ट हो जाता है। सम्पूर्ण देश, सम्पूर्ण काल और सम्पूर्ण वस्तु, तथा इन सबका अभिन्ननिमित्तोपादान कारण—सब अपनी आत्मा ही हैं, यह आत्मविज्ञान है।

**यस्मिन् विज्ञाते सति आत्मैव सर्वाणि भूतानि अभूत्**

ये देश, काल, वस्तु एक साथ ही बनते जाते हैं, एक साथ ही छूटते जाते हैं, एक साथ ही आते जाते हैं। सैकिंड पर सैकिंड आते-जाते रहते हैं और उसका दृश्य भी साथ-साथ चलता जा रहा

है, उसका स्थान भी बदलता जा रहा है। स्वप्नमें दृश्य और उसका देश तथा उसका काल युगपत् प्रतीत होते ही हैं। सिनेमाके पर्देपर भी ऐसा ही दीखता है। इसी प्रकार आत्माके पर्देपर मनसे रँगी हुई आत्माकी ही रोशनी अनेक नामरूपोंमें दिखायी पड़ती रहती है। यह बाहरपना, यह भीतरपना, यह ठोसपना, अब, तब, यहाँ, वहाँ, मैं, तू सब आत्मप्रकाश ही है।

पर्देपर दृश्य बदलें नहीं, यह बालक-बुद्धि है। यह मोह है। जो इसका रहस्य जानता है वह जानता है कि दृश्य बदलेंगे और फिर बदलेंगे परन्तु वस्तुतः न प्रकाश बदलेगा न पर्दा! फिर न बदलनेका आग्रह क्यों? बदलनेपर रोना क्यों? बीभत्ससे द्वेष क्यों? और सुन्दरसे राग क्यों? यही विज्ञानकी, 'विजानतः'की दृष्टि है।

गीतामें : यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥
(गीता २.४६)

भी इसी अर्थमें 'विजानतः' पद आया है। प्यासा चाहे गंगाकी भरी धारमें जल पीये और चाहे घड़ेसे जल पीये, तृप्तिमें कोई अन्तर नहीं है। ऐसे ही एक व्यक्ति चारों वेदोंका स्वाध्याय करके 'अहं ब्रह्मास्मि' समझता है और दूसरा कोई श्रद्धालु गुरुमुखसे श्रवण करके ही 'अहं ब्रह्मास्मि'को जान गया। दोनोंकी तृप्तिमें कोई अन्तर नहीं है।

अनन्तानि च शास्त्राणि स्वल्पायुर्विघ्नकोटयः।
तस्मात् सारं विजानीयात् हंसः क्षीरमिवाम्भसि॥

'शास्त्र अनन्त हैं, आयु थोड़ी है, विघ्न करोड़ों हैं। इसलिए हंसकी तरह नीर-क्षीर विवेक करके सार जान ले।'

बस, इतना ही है ब्रह्मज्ञान कि 'मैं ब्रह्म हूँ और मेरे सिवाय जीव, जगत्, ईश्वर नामकी कोई अलग सत्ता या वस्तु नहीं है। सब मैं ही मैं हूँ।' इसका फल है अविद्याकी निवृत्ति जिससे शोक, मोहादि सब भस्म हो जाते हैं।

तत्र को मोहः कः शोकः ? उपनिषद्ने यह नहीं कहा कि "तत्र किं कर्म, किं मनः, का बुद्धिः, कः कामः, कः क्रोधः, को लोभः।" यह उपनिषद्की शैली है। जैसे 'मानस'में भगवान् रामने कहा—

**निर्मल मन जन सो मोहि पावा।**
**मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥**

यहाँ भी भगवान्ने यह नहीं कहा कि मुझे काम अच्छा नहीं लगता, क्रोध, लोभ, मोह अच्छे नहीं लगते। यही कहा कि 'कपट, छल, छिद्र' नहीं भाते। काम, क्रोधादिका चित्तमें आना स्वाभाविक है। परन्तु इनके बारेमें भगवान्से कपट-छल अच्छा नहीं। कह दिया भगवान्से : 'देखो महाराज, ये काम, क्रोध, लोभ आये, आप संभालो' और बैठ गये त्यागी अहिंसक ब्रह्मचारी बनकर। कपट, छल-छिद्र आत्माको ढकते हैं और जो उन्हें भगवान्के सामने निवेदन कर देता है वह निर्मल मनवाला है। वह भगवान्को पसन्द है। इसी प्रकार मोह आत्माका आवरक है और शोक, भय, विकार आदि ये सब मोहजन्य ही हैं।

मोह वर्तमानविषयक वृत्ति है। शोक भूतविषयक और भय भविष्यविषयक वृत्ति है। मोह मूल है और शोक, भय उसके दो बच्चे हैं।

एक सज्जन हैं उन्हें अपने इकलौते पुत्रसे बड़ा मोह है। बेटा डाक्टर है। वे सोचते थे बेटा बुढ़ापेमें सेवा करेगा। परन्तु बेटा गया अमरीका। वहाँ उसने दूसरी शादी कर ली और वहींका

नागरिक हो गया। अब वह सज्जन उस बेटेकी हिन्दुस्तानी पत्नीसे उत्पन्न बच्चोंका पालन-पोषण करते हैं कि एक दिन उनका बेटा अवश्य आयेगा।

बेटा चला गया, लौटकर नहीं आया—यह शोक है। भविष्यमें उसकी पत्नी बच्चोंका क्या होगा—यह भय और आशा है। दोनोंका मूल है पुत्रके प्रति मोह।

असलमें तुम वही हो जो पहिले थे और आगे भी वही रहोगे। ये घटनाएँ जो हैं वे फिल्मकी तरह चल रही हैं। इनमें जो मोह करता है उसीको शोक होता है। मोहका जो दृश्य बीत जाता है, वह शोक देता है और जो दृश्य अनखुला है, वह भय देता है। वर्तमानसे हम चिपके हुए हैं।

तत्त्वज्ञानने केवल आपके मनमें जो अज्ञानमूलक, भ्रान्तिजन्य मोहकी परिस्थिति थी उसको काट दिया। और कुछ नहीं बदला। ज्ञान केवल वहीं परिवर्तन करता है जहाँ अज्ञान रहता है। वह न आत्मचैतन्यमें कोई परिवर्तन करता है और न जड़ जगत्‌में कोई परिवर्तन करता है। केवल बौद्ध भ्रमकी निवृत्ति करता है वेदान्त। प्रपञ्चकी धारा जो बह रही है और वृत्तियोंकी धारा जो बह रही है वे वैसे ही बहती रहती हैं। बस; आत्मस्वरूपके बारेमें भूल मिट गयी। तमाशाकी सच्चाईके भ्रमके कारण जो हँसना या रोना-धोना था, शोक, भय, कम्पन था, वह तमाशेको मिथ्या जान लेनेपर खतम हो गया।

संसारका अर्थ ही है परिवर्तन, संसरणशील, जों सर्पकी तरह सरके। बचपन आया चला गया, जवानी आयी चली गयी, बुढ़ापा आया है चला जायेगा, पैसा आता है चला जाता है। पुराना जायेगा नया आयेगा। 'यह भी नहीं रहेगा' लिखवाकर

पट्टी लगा ली है हमारे एक मित्रने। आप न केवल इस परिवर्तनशील संसारके अधिष्ठान तथा प्रकाशक हैं बल्कि यह भी समझना आवश्यक है कि यह संसार चल है और आप अचल हैं, ये वस्तुएँ जड़ हैं, आप अविनाशी, परिपूर्ण चेतन हैं। इस प्रकार जो सर्वोपादान अविनाशी परिपूर्ण अद्वय चेतन तत्त्व है वह आप हैं और यह सब आपका ही विवर्त है। जब आप ऐसा जानेंगे तब आप सर्वात्म-भावको प्राप्त हो जायेंगे।

योग आपको स्थितिविशेष ( कैवल्य )में बैठाता है। उपासना आपको आकारविशेष और स्थानविशेष ( सायुज्य )में बैठाती है। धर्म आपको विषयविशेषके भोगमें बैठाता है। परन्तु वेदान्तका लक्ष्य है : परमार्थतः अद्वय-तत्त्व और व्यवहारतः सर्वात्म-भाव, जिससे जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख निष्पन्न होकर निर्द्वन्द्वता प्राप्त होती है।

ब्रह्मज्ञानीको यदि समाधि न लगाना खटकता है तो वह उसकी आदत है, परमार्थ नहीं है। अच्छा लगना और खटकना स्वभावके साथ सम्बन्ध रखता है, स्वरूपके साथ नहीं।

[ उपर्युक्त सभी श्रुतियोंसे एक बात यही स्पष्ट होती है कि अविद्या-निवृत्तिसे उपलक्षित अपना आत्मा ही मोक्षस्वरूप है। आत्मा होनेसे मोक्ष केवल अज्ञानसे ही अप्राप्त-सा लगता है, ज्ञान होते ही ( अविद्या निवृत्त होते ही ) वह प्राप्त-सा लगने लगता है।

यज्ञ ज्ञान और यज्ञफलके बीच यज्ञरूप कर्म रहता है; उपास्य ज्ञान और उपासनाका फल इष्टसाक्षात्कारके बीच उपासना रहती है; पुरुषज्ञान और कैवल्यके बीच निर्विकल्प समाधि रहती है। परन्तु ब्रह्मज्ञान और मोक्षके बीचमें अन्य कोई कार्य नहीं रहता क्योंकि मोक्ष आत्मासे एक है। ]

( ४.२० )

## उत्तर पक्ष—६

## आत्मज्ञानसे मोक्ष प्रतिबन्धकी निवृत्ति

**मूलभाष्य :**

**तथा 'तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च' ( बृहदा० १.४.१० ) इति ब्रह्मदर्शनसर्वात्मभावयोर्मध्ये कर्त्तव्यान्तर-वारणायोदाहार्यम्। यथा तिष्ठन् गायतीति तिष्ठति गायत्योर्मध्ये तत्कर्तृकं कार्यान्तरं नास्तीति गम्यते। 'त्वं हि नः पिता योऽस्माकम-विद्यायाः परं पारं तारयसि' ( प्रश्न० ६.८ ) 'श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयतु' ( छां० ७.१.३ ) 'तस्मै मृदित-कषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः' (छां० ७.२६.२) इति चैवमाद्याः श्रुतयो मोक्षप्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रमेवात्मज्ञानस्य फलं दर्शयन्ति।** ( क्रमशः )

**भाष्यार्थ :** इसी प्रकार 'तद्धैतत्पश्यन्०' (उसको अपनी आत्माके रूपमें जानकर ऋषि वामदेवने जाना कि मैं ही मनु हुआ और सूर्य भी); इस श्रुतिको ब्रह्म-दर्शन और सर्वात्मभावके बीच अन्य कर्त्तव्यका निषेध करनेके लिए उदाहरणके रूपमें समझना चाहिए। जैसे 'खड़ा होकर गायन करता है' इसमें खड़ा होने और गायन-क्रियाके मध्यमें उसके द्वारा किया जानेवाला कोई दूसरा कार्य नहीं है, ऐसा ज्ञात होता है। प्रश्नोपनिषद्में 'त्वं हि पिता' (तुम ही हमारे पिता हो जिसने हमें अविद्याके पार पहुँचा दिया है); छान्दोग्यमें नारदने सनत्कुमारसे कहा है कि 'मैंने सुना है कि आत्मविद् शोकसे तर जाता है और मैं शोक करता हूँ, ऐसे मुझको आप शोकसे पार कर दीजिये' तथा वहीं 'भगवान् सनत्कुमारने उस दग्ध-पाप नारदको अज्ञानान्धकारसे दिखलाया' इत्यादि श्रुतियाँ दिखलाती हैं कि मोक्षके प्रतिबन्धकी निवृत्तिमात्र आत्म-ज्ञानका फल है।

## ९. अहं मनुरभवं सूर्यश्च

भगवान् भाष्यकार अब पुनः बृहदारण्यकोपनिषद् उद्धृत करते हैं :

तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च।

पुराने जमानेमें ऋषियोंका भी बँटवारा था : परमऋषि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि, श्रोतर्षि, काण्डर्षि ऐसे सात प्रकारके ऋषि पहले होते थे। और ऋषि उनको कहते थे जो वेदमन्त्रोंके द्रष्टा होते थे : ऋषिर्दर्शनात्। ये वेदके जो मन्त्र हैं उनको अनादि अनन्त मानते हैं और इनकी आनुपूर्वी (मन्त्रोंमें शब्दोंका, वर्णोंका क्रम) को भी अनादि अनन्त मानते हैं। जैसे सृष्टिकी सब वस्तुओंका बीज नित्य है वैसे ही मन्त्रोंका भी है। ऋषि लोग वेदमन्त्र बनाते नहीं हैं;

उनको देखते हैं, सुनते हैं, अनुभव करते हैं। जैसे गायत्री मन्त्रके ऋषि विश्वामित्र हैं ( द्र० ऋक्सर्वानुक्रमणी ३.६२ पर )

ये जो आजकल लोग अपने नामके आगे ऋषि लगा लेते हैं वे छोटे लोग होते हैं। मनुतक मन्त्रद्रष्टा ऋषि नहीं हैं। मुनि भी ऋषि नहीं होते। मुनि त्यागप्रधान होते हैं और प्रायः वानप्रस्थ आश्रममें रहते हैं। संन्यासी भी ऋषि नहीं होते। दत्तात्रेय अवधूत हैं, ऋषि नहीं। शुकदेव मुनि हैं मन्त्रद्रष्टा ऋषि नहीं। व्यास मुनि हैं और ऋषि भी हैं। नारद ऋषि हैं।

वामदेव, ऋषि हैं : ऋषिदर्शनात्। इन्हें जब ब्रह्मदर्शन हुआ तो मन्त्र-दर्शन भी हुआ। जो उनको अनुभव हुआ उसका सूचक मन्त्र वेदमें पहलेसे विद्यमान था। उसको उन्होंने समष्टिके वेदमें देखा।

जो गैर जिम्मेदार लोग हैं वे तो सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयको ही नहीं मानते। अर्थात् सृष्टिके बीजको ही स्वीकार नहीं करते। वेद कहता है कि पहले सृष्टिकी हर जातिका बीज था : तस्मात् अश्वाः अजायन्त ( ऋग्वेद १०.९०.१० ) इत्यादि। इसी प्रकार वेदोंका भी वेद होता है और ऋषि लोग उसको देखते हैं। ईश्वर लीन बीजको क्षुब्ध करके प्रकट करता है और ऋषि लोग उसको देखते हैं।

**तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः**। 'पश्यन्' अर्थात् बनाया नहीं, देखा। न मन्त्र बनाया, न अनुभव बनाया। दोनों कृत्रिम नहीं हैं। अपौरुषेय वस्तुको प्रकट करनेवाला मन्त्र भी अपौरुषेय है? वामदेव ऋषिको क्या अनुभव हुआ? **प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च**। जैसे ही वामदेवको ब्रह्मज्ञान हुआ वैसे ही उन्होंने जाना कि 'मैं ही मनु हूँ, मैं ही सूर्य हूँ।' अर्थात् मैं ही बाप और मैं ही बेटा। सूर्यके पुत्र थे मनु ( वैवस्वत )। गीतामें कहा है :

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ (४.१)

इसका अर्थ है कि वामदेव ईश्वरसे एक हो गये। क्योंकि ईश्वर ही एक ऐसी वस्तु है जो बाप और बेटा सब कुछ हो सकता हैं। आप लोग रोज प्रार्थना करते ही हैं:

त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देव देव॥

दुनियामें कोई है ऐसा जो माता पिता दोनों है? जहाँ माता-पिताकी अभिव्यक्ति नहीं है वहाँ परमेश्वर है। वह मूल तत्त्व है और माता-पिताके जाहिर होनेपर भी दोनोंके रूपमें भी परमेश्वर ही है। ईश्वरकी पूजा व्यक्त और अव्यक्त दोनों रूपोंमें कर सकते हो। जहाँ पञ्चभूत भी जाहिर नहीं हुए उस ईश्वरके रूपमें भी और जहाँ ईश्वर भी जाहिर नहीं हुआ उस ब्रह्मतत्त्वके रूपमें भी।

अहं मनुरभवं सूर्यश्च। मैं ही मनु हुआ और मैं ही सूर्य भी। यह जो अन्तःकरण है वह मनु है। 'मननात् मनुः'। मनन अन्तःकरणमें होता है और प्रकाशन आत्मा करता है।

अज्ञात आत्माका नाम 'परमेश्वर' है और ज्ञात परमेश्वरका नाम 'आत्मा' है। केवल अज्ञान ही जुदा किये हुए है; एक ही वस्तुके दो नाम हैं। वेदमें आया है—स एनमविदितो नं भुनक्ति = (बृहदा० १.४.१५) अनजाना देवता रक्षा नहीं करता। पहचाना हुआ देवता ही रक्षा करता है। पहचानते ही अज्ञान निवृत्त होकर आत्मा परमात्मा एक हो जाते हैं। फिर रक्षाकी जरूरत ही नहीं रहती।

इस अन्तःकरणमें जो मनन हो रहा है वह कौन है? उसको प्रकाशन करनेवाला आभ्यन्तर सूर्य कौन है? वामदेवका अनुभव है कि वह मैं हूँ।

गायत्री मन्त्र है : ॐ भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ( ऋग्० ३.६२.१०; यह मन्त्र अन्यान्य संहितादिमें भी है। )

एक है 'धियः' और एक है धीका प्रेरयिता, प्रकाश। धियः है मनु, वही श्रद्धा है। यही बुद्धि है। इसमें मनु भी है और श्रद्धा भी है, दोनों एक साथ हैं। इसका जो प्रकाशक है वह है सविता, माने सूर्य। सवितुर्वरेण्यम् भर्गो देवस्य। देवस्यका विशेषण है सवितुः। सवितुर्देवस्य = सविता देवताका।

देवता माने ज्ञानस्वरूप, जाहिर करनेवाला। दीव्यति इति देवः प्रकाशते।

सविता माने 'यः सूते' जो पैदा करे।

इसलिए जो स्रष्टा है सो ज्ञान है और जो ज्ञान है सो स्रष्टा है। इसका अर्थ हुआ कि सृष्टिका कर्ता हमारा आत्मा ही है। वह क्या करता है कि हमारी बुद्धि वृत्तिको प्रेरित करता है। तो मनन भी वही देता है और प्रकाशक भी वही है।

अन्तःकरणके पीछे रहकर, अन्तःकरणमें रोशनी डालता हुआ, अन्तःकरणका अधिष्ठान होकर, अन्तःकरणमें स्वयंप्रकाश रूपसे रहकर, अपनी आभासभूत रश्मियोंसे, ज्ञानस्वरूप आत्मा अन्तःकरणको प्रकाशित करता है। इसलिए प्रकाशक भी है आत्मा और अन्तःकरणरूप मनन भी है आत्मा।

जो अधिष्ठान चैतन्य है वह परमात्मा है। अन्तःकरण मनु है और आभास सूर्य है।

मननका मुँह विषयोंसे मोड़नेके लिए अनुमान, युक्ति काम दे सकते हैं अथवा बुरेसे अच्छेकी ओर मुँह करनेके लिए भी अनुमान, युक्ति काम दे सकते हैं। दोनोंको छोड़नेके लिए भी अनुमान, युक्ति काम दे सकते हैं। परन्तु जो दोनोंका प्रकाशक है उसके ज्ञानमें

अनुमान और युक्ति काम नहीं देते। **पराञ्चिखानि व्यतृणत् स्वयम्भूः** (कठ० उप० २.१.१)। स्वयम्भू परमात्माने इन्द्रियोंको बाहरकी ओर मुँहवाला ही बनाया है।

जो मनु और सूर्य दोनोंका प्रकाशक है उसकी ओर हमारा विषयानुभवी मनन या विषयाभावानुभवी मनन सम्मुख नहीं कर सकता। तब क्या उपाय है इसका? अज्ञात ज्ञापक उपायके द्वारा उसका श्रवण करें।

द्रष्टाको द्रष्टाका साक्षात्कार कैसे होगा? सूर्य दूसरेको प्रकाशता है परन्तु सूर्यको प्रकाशित करनेवाला भी एक है, और वह है भर्ग। 'भर्जनात् भर्गः'। वह भून देता है अविद्याको जो निवृत्ति कर दे सो 'भर्ग'।

हमारा मनु धर्मका उपदेश करता है, ईश्वरके ध्यानका उपदेश करता है और निवृत्तिका भी उपदेश करता है; ये सब वैध हैं। परन्तु अपने आपको देखना वैध नहीं है। तब? वेद, शास्त्र अपने स्वरूपका बोधन कराते हैं। जिसका ऐन्द्रिक प्रत्यक्षके आधारपर मनन नहीं हो सकता, जिसका मानस प्रत्यक्ष नहीं हुआ इसलिए जिसका स्मृति, अनुभवके आधारपर मनन नहीं हो सकता और जिसका द्रष्टृ-प्रत्यक्ष नहीं हुआ इसलिए स्वानुभवके आधारपर जिसका मनन नहीं हो सकता, उस वस्तुका ज्ञापन वेद-मन्त्र करता है।

ऋषि वामदेवने जिस वेदमन्त्रको देखा उसके अनुसार उन्होंने जाना कि जो सब अन्तःकरणोंमें रोशनी देता है और जो सम्पूर्ण अन्तर्दृष्टिको प्रकाशित करनेवाला है, वह सूर्य तो मैं ही हूँ; वह ईश्वर मैं ही हूँ! यह अनुभूति वामदेवको हुई।

यह श्रुति इस बातका उदाहरण है कि ब्रह्मदर्शन और सर्वात्मभावके मध्य अन्य कोई कर्त्तव्यान्तर शेष नहीं रहता है।

सर्वात्मभाव नित्यसिद्ध है वह केवल आत्माकी ब्रह्मस्वरूपताके अज्ञानसे आच्छादित है। जैसे ही ब्रह्मज्ञान होता है, अज्ञान निवृत्त हो जाता है और नित्यसिद्ध सर्वात्मभाव प्रकट हो जाता है।

हमारे मोकलपुरके बाबा कहते थे : "जो मक्खी सो मैं, जो मच्छर सो मैं, जो पेड़-पौधा सो मैं! मैं किसीसे अलग नहीं और कोई मुझसे अलग नहीं।" यह सर्वात्मभावका उदाहरण है। वे कहते : 'अरे गुड़ू, बिना कुछ किये तो इतना दीख रहा है, कुछ करोगे तो बढ़ेगा ही, खतम नहीं होगा।'

श्री उड़िया बाबाजी महाराज कहते थे : "अरे सन्तनु! देख, जबतक यह गंगाजीकी बालूके एक-एक कण साक्षात् ब्रह्म न मालूम पड़े, तबतक समझना ब्रह्मज्ञान नहीं हुआ।"

ब्रह्मदर्शन और सर्वात्मभावके बीच कोई दूसरी चीज नहीं है। सब मैं ही हूँ।

हम लोग श्री उड़िया बाबाजी महाराजके पास गये थे; खन्ना अम्बालासे आगे। वहाँ एक वृद्ध सन्त रहते थे श्री त्रिवेणीपुरीजी महाराज। नंगे रहते थे और परमेश्वरके सिवाय कोई दूसरी चर्चा नहीं करते थे। बाबा और वे एक साथ बैठे थे तख्तेपर, मैं नीचे बैठा था। मैंने इलायचीकी पुड़िया उठा ली और एक दाना निकालकर पूछा : यह क्या है? श्री त्रिवेणीपुरीजी बोले : ब्रह्म है।

उन्होंने यह नहीं कहा कि आत्मा ब्रह्म है। प्रपञ्चके अभावका अधिष्ठान ब्रह्म है, यह बात ब्रह्मकी पहचान करानेके लिए युक्ति है (व्यतिरेक-प्रक्रियामें)। यह तभीतक है जबतक पहचान नहीं। जब पहचान लिया तब—

**अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः।**

बाहर, भीतर सर्वमें नारायण ही व्याप्त होकर स्थित हैं।

हमारे महात्माओंकी क्या दृष्टि रही होगी, इसका अनुमान लगाना कठिन है। एक महात्मा थे। उनमें एक छोटे राजा थे उनकी श्रद्धा बढ़ी। राजाको हुआ बेटा। उनको ऐसा विश्वास था कि महाराजकी कृपासे बेटा हुआ है। उत्सव मनाया गया। महात्माको बुलाया गया। महात्मा उनके घर चले गये। वे रहते थे नंगे। वेश्याका नाच हो रहा था। बाबा लोगोंमें जाकर अपनी मस्तीमें बैठ गये। राजाको बुलाया और कहा कि नृत्य करनेवाली-को भेंट-पूजा दो। उन्होंने बीस रुपया दिया। थोड़ी देर बाद फिर और खुश हुए महात्मा, और रुपया दिलवाया। इस प्रकार कोई दो सौ रुपया दिलवा दिया। जब और देनेके लिए कहा तो राजाने कहा : 'महाराज, हुकुम करो हजार, दो हजार धर्मक-कार्यमें लगा देंगे, इस वेश्याको और क्यों दिलवाते हो?' महात्मा चौंके, बोले : अरे यह वेश्या है, मैं तो समझता था कि सरस्वती नृत्य कर रही है। और बाबा उठकर चुपचाप चल दिये। उधर वे चले और इधर राजा पागल-सा हो गया। कोई एकमास पागल रहा। बाबाके पास गये खुशामद की। बाबा बोले : अच्छा उसी वेश्याको बुलाओ। वेश्या आयी। उसे चौकीपर बैठाकर पूजन कराया राजासे, भेंट-पूजा दिलवायी। उसके बाद राजा अच्छा हो गया।

जिसने सुअरके रूपमें परमेश्वरको पहचाना होगा, मछलीके रूपमें, शेर और घोड़ेके रूपमें, गीधके रूपमें परमेश्वरको पहचाना होगा उसकी दृष्टि कहाँ रही होगी? यदि स्वर्णको पहचान लिया तो सोनेके भैरवजीके साथ सोनेका कुत्ता भी पूजामें रखनेसे हिचकिचाहट नहीं होती। जिसने परब्रह्म परमात्माको पहचान लिया उसके लिए सारी सृष्टि ही ब्रह्म है, आत्मा है। ब्रह्मदर्शन और सर्वात्मभावमें अन्तर कहाँ? ●

## २. परं पारं तारयसि

नींद टूटना और जागनाके बीच जैसे कोई क्रिया नहीं है वैसे ही अज्ञान-निवृत्ति और प्रपञ्चका भावाभाव सब अपने स्वरूपसे जुदा नहीं हैं इस बोधके बीच कोई कर्त्तव्यान्तर नहीं है। जिस क्षणमें ब्रह्मज्ञान उसी क्षणमें अविद्या-निवृत्ति है। शेष क्या रहा? अज्ञानीकी दृष्टिसे जो सर्व था, सर्व है या सर्व रहेगा वह उस तत्त्वज्ञानीका अपना आत्मा ही है। इसलिए ब्रह्मज्ञान और सर्वात्म-भावके बीचमें कोई स्थिति नहीं है।

जैसे 'तिष्ठन् गायति' = खड़ा होकर गाता है या उपविशन् भुङ्क्ते = बैठकर खाता है इन वाक्योंमें खड़ा होने और गाने तथा बैठने और खानेके बीच कोई अन्य क्रिया नहीं है।

प्रसंग असलमें यह है कि कोई कहते हैं कि पहले हम जानते हैं, जानकर फिर ध्यान करते हैं और ध्यान करके फिर वही हो जाते हैं। माने 'जानना' और 'वही हो जाने'के बीचमें 'ध्यान क्रिया' शेष रहती है। ध्यान कर्तृतन्त्र है, यह सब उपासक वर्ग मानते हैं। अर्थात् ध्यान कर्ताके द्वारा होता है, और कर्ताका स्वातन्त्र्य है कि वह ध्यान करे, न करे या उल्टा ध्यान करे।

परन्तु ब्रह्मज्ञान इससे निराला है। यदि दूसरेका ज्ञान होगा तो इसके तीन परिणाम हो सकते हैं:

१. बहुत प्यारा है ज्ञेय तो झट उसका ध्यान करेंगे और उसमें तन्मय हो जायेंगे। २. बुरा है ज्ञेय तो उसका ज्ञान करके ही छोड़ देंगे, ध्यान नहीं करेंगे। ३. यदि न बुरा है, न अच्छा है ज्ञेय तो उसकी उपेक्षा कर देंगे।

परन्तु जब हम अपने आपको ही जानेंगे तो न तो अपने आपको ग्रहण करना है, न इसको त्यागना है ( त्याग सकते ही

नहीं ) और न अपने आपकी उपेक्षा करनी है। इसलिए अपने आपको जाननेके बाद ज्ञानका फल यह होना है कि अपने विषयमें जो न जानना था वह निवृत्त हो जायेगा। अज्ञान निवृत्त होनेपर आत्माकी जो कर्ता-भोक्ता, सुखी-दुःखी, संसारी, परिच्छिन्नपनेकी भ्रान्ति है वह दूर हो जायेगी।

अज्ञान वृत्ति नहीं है, भ्रान्ति वृत्ति है। जैसे मैं जीव हूँ, यह वृत्ति है। सुषुप्तिमें मैं अपनेको हिन्दू, मनुष्य, पापी, पुण्यात्मा, जीव, अजीव कुछ भी तो नहीं जानता; वहाँ कोई वृत्ति नहीं रहती है, परन्तु उस समय भी अज्ञान रहता है। अज्ञान कारण है और भ्रान्ति कार्य है।

अज्ञान अपने स्वरूप आत्मामें नहीं है और अज्ञान अपना स्वरूप भी नहीं है क्योंकि अज्ञान भी हमसे ही प्रकाशित होता है।

स्वयंप्रकाश आत्मा अज्ञानमूलक देश-काल-वस्तुमें जो अपनेको जोड़े हुए बैठा है वह भ्रान्ति है। तो जब अज्ञान निवृत्त हो जाता है, भ्रान्ति भी निवृत्त हो जाती है। पहली : भ्रान्ति जो निवृत्त होती है वह है कि 'मैं परिच्छिन्न हूँ'। दूसरी : मैं कालमें समाधिस्थ रहता हूँ या विक्षिप्त रहता हूँ; मैं कालमें ज्ञाता हूँ या कालमें ज्ञेय हूँ। तीसरी : मैं किसी देशमें आता-जाता हूँ। चौथी : मैं कर्ता-भोक्ता या सुखी-दुःखी हूँ। आत्मा न समाहित है न विक्षिप्त; न ज्ञाता है न ज्ञेय; न कहीं आता है, न जाता है। मैं हिन्दू हूँ, मुसलमान हूँ, देवता हूँ, मनुष्य हूँ, पशु हूँ, पक्षी हूँ, ये सब भ्रान्तियाँ हैं। इनके मूल अज्ञानको काट देना ब्रह्म-ज्ञानका फल है।

'मैं ज्ञानस्वरूप हूँ' ऐसा ही जाननेसे अज्ञान नहीं कटेगा। असलमें तुम्हारी भ्रान्ति यह है कि मैं परिच्छिन्न हूँ, मैं अल्प हूँ, और इसी अल्पतामें तुमने सुख-दुःख, पाप-पुण्य सब जोड़ रखा है। अज्ञान-निवृत्तिके लिए जो ज्ञान होगा उसका स्वरूप यह होगा:

कि 'मैं ब्रह्म हूँ'। इसका अर्थ होता है कि मैं अपरिच्छिन्न हूँ, मैं अद्वितीय हूँ, मैं अनन्त हूँ। 'मैं ब्रह्म हूँ' ही, इस होनेमात्रसे कुछ नहीं होगा। 'मैं ब्रह्म हूँ' यह तो ठीक है, परन्तु भ्रान्ति भी तो है। पूर्णताकी वृत्ति होना आवश्यक है। यह अद्वैत वेदान्तकी अपनी खास बात है।

ज्ञान होनेके बाद किसका ध्यान करना पड़ेगा? किसीका नहीं, क्योंकि ध्येय सब-के-सब अपने स्वरूपमें बिना हुए ही भास रहे हैं। ज्ञान होनेके बाद यदि मर गये तो? कोई बात नहीं, मरना भी अपना स्वरूप है। ज्ञान होनेके बाद दुःख आयेगा? क्या डर है, दुःख भी अपना स्वरूप ही है! कहीं जन्मना-मरना पड़ा तो? होने दो जन्म-मरण, उसने अभीतक हमारा क्या बिगाड़ा है जो आगे बिगाड़ेगा! जैसे रात-दिन कालमें आते-जाते रहते हैं ऐसे ही मरना-जीना भी प्रतीत होते रहते हैं!

वेदान्तकी शिक्षा बोधनात्मक है, विधानात्मक नहीं है।

वेदान्ताः बोधकाः न तु विधायकाः

और इनके बोधनमात्रसे ही सम्पूर्ण अनर्थोंकी निवृत्ति हो जाती है।

× × ×

अब आचार्य प्रश्नोपनिषद्का प्रसंग उद्धृत करते हैं:

त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसि

भरद्वाज आदि छः महात्मा पिप्पलाद ऋषिकी शरणमें बैठते हैं, जाकर चरणोंमें नमस्कार करके बोलते हैं कि महाराज, हम लोग ब्रह्मज्ञानके लिए आये हैं। पिप्पलादने कहा: 'दक्षिणाके बिना कोई यज्ञ सफल नहीं होता, इसलिए दक्षिणा दो।' महात्माओंने कहा: 'ठीक है महाराज, जैसी वस्तु लेनी होती है उसीके अनुरूप दक्षिणा देनी होती है। हम आपके पास अपना बड़ा 'मैं', अपना

आदि स्वरूप लेने आये हैं, इसलिए दक्षिणामें अपना छोटा 'मैं' आपको दिये देते हैं। यह प्रणाम-दक्षिणा है।'

त्वं हि नः पिता = आप ही हमारे पिता हो! हमारे लौकिक माता-पिताने हमको यह शरीर प्रदान किया जो जन्मने-मरनेवाला है, जिसमें हड्डी, मांस, चाम होता है, पाप-पुण्य होता है, जिसमें सत्रह बार सुखी और सत्रह बार दुःखी होते हैं। परन्तु हम आपसे ब्रह्म-शरीर चाहते हैं इसलिए आप ही हमारे असली पिता हैं।'

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरुवे नमः॥

'गुरु ही ब्रह्मा है, गुरु ही विष्णु है, गुरु ही देवता और महेश्वर है। गुरु साक्षात् पर ब्रह्म परमात्मा है। उन गुरुदेवको नमस्कार है।'

सम्पूर्ण विश्वके किसी कोनेमें गुरु-शिष्यका यह वैदिक सम्बन्ध नहीं मिल सकता। अर्थ-गुरु, काम-गुरु आपने सुने ही हैं। व्यापारके लिए व्यापारी गुरु चाहिए। कामके लिए पति या पत्नी गुरु चाहिए। धर्मके लिए पुरोहित, मौलवी, पादरी गुरु चाहिए। हिन्दू संस्कृतिको छोड़कर किसी भी संस्कृतिमें कोई चौथा गुरु नहीं होता, क्योंकि अर्थ, काम और धर्म—ये तीन ही पुरुषार्थ माने जाते हैं। अकेली वैदिक संस्कृति ही मोक्षको पुरुषार्थ मानती है। तीनों पुरुषार्थोंसे मुक्त करके अद्वितीय परमात्मामें स्थित करनेके लिए वह मोक्ष-गुरुको स्वीकार करती है। इसलिए यहाँ मन्त्रमें 'पिता' शब्द मोक्ष-गुरुका वाचक है।

मोक्ष-गुरु साधक शिष्यके साधन-शरीरका निर्माण करते हैं, पालन-पोषण करते हैं और दोषी शरीरका संहार भी करते हैं। इसलिए वह ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र हैं। और स्वयं वे शिष्यकी आत्माके रूपमें पर ब्रह्म हैं।

गुरु कैसे पिता हैं ? वे ब्रह्म-देहके दाता हैं। इससे क्या होता है कि अविद्याके परं पार—तारण कर देता है।

अविद्या एक जल-प्रवाहके समान है जिसके दो पार हैं : एक ओर है ब्रह्म और दूसरी ओर हैं सुख-दुःख, आना-जानारूप संसार। ब्रह्मज्ञान-रूपी नौकापर बैठकर हम अविद्या-प्रवाहको तरकर सुख-दुःख, आना-जानारूप संसारको पारकर ब्रह्मवाले पार पर पहुँच जाते हैं।

**सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि** ( गीता ४.३६ )

जहाँ अविद्यासे ही व्यवधान मालूम पड़ता है वहाँ वह विद्यासे ही निवृत्त हो जाता है। जो अविद्यासे ही अप्राप्त है वह वास्तवमें प्राप्त ही है और जो विद्यासे ही प्राप्त हो जाता है वह भी वास्तवमें प्राप्त ही होता है। नित्य प्राप्तमें ही अप्राप्तिका भ्रम है।

इन महात्मा लोगोंने कहा : आप ही हमारे गुरु हैं। आप हमें विद्याकी नौकासे अविद्याका समुद्र पार कर दो !

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा :

**अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।**
**सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥**

( गीता ४.३६ )

है कोई मजहब दुनियामें जो पापीसे पापीको भी भगवद्-प्राप्ति सहज सुलभ करता हो ? कोई धर्म पापीसे कहते हैं कि बारह वर्ष पापका प्रायश्चित्त करो तब तुम शुद्ध होगे। कोई धर्म कहते हैं कि दीर्घ कालतक भगवान्‌की भक्ति करो, इस जन्ममें न सही अगले जन्ममें शुद्ध हो जाओगे। कोई कहते हैं : आसन-प्राणायाम-ध्यान-धारणा करो तो ध्यानाग्नि तुम्हें शुद्ध कर देगी। जो आचार्यप्रधान धर्म हैं; वे कहते हैं कि हमारे आचार्यकी शरणमें आओ, तब तुम्हारा उद्धार होगा ! परन्तु भगवान् कृष्णका

कहना है कि तू पापियोंसे भी अधिक पापी क्यों न हो, तू पापी ही नहीं, पापकृत्तर और पापकृत्तम भी क्यों न हो, हमारा दरवाजा उस सर्वोच्च पापीके लिए भी बन्द नहीं है! स्वर्गका दरवाजा पापीके लिए बन्द है। समाधिका दरवाजा विक्षिप्तके लिए बन्द है, वैकुण्ठका दरवाजा अभक्तके लिए बन्द है और द्रष्टाका दरवाजा दृश्यके साथ तादात्म्यापन्नके लिए बन्द है। परन्तु यह ज्ञानका दरवाजा किसीके लिए बन्द नहीं है।

पापकी एक नदी है। पापका एक समुद्र है। उसको तरनेके लिए एक नौका चाहिए वह नौका है—ज्ञानकी। वह लोहे या काष्ठकी नौका नहीं है। अपने ज्ञानकी नौकापर बैठो और सब पापोंको तर जाओ!

पाप क्या है? असलमें मल पाप है, विक्षेप पाप है और आवरण पाप है। हम अपने प्यारेकी विद्यमानतामें ही दूसरेसे प्रेम करते हैं, यह पाप है। यह आत्मदेवका अपमान है। भगवान् हमारे घर बैठे हैं और हम उल्लूसे प्रेम करते हैं!

वासना माने होता है दूसरेसे सुख पानेकी इच्छा। यह अपने आत्माका तिरस्कार है, ईश्वरका तिरस्कार है, गुरुका तिरस्कार है। पतिको छोड़कर अन्यसे सुख पानेकी इच्छा, यह पाप है। पतिकी उपस्थितिमें ही इधर-उधर ताकझांक करना रूप-चंचलता पाप है। और अपने पतिको न पहिचानना यह भी पाप है।

भगवान् कहते हैं 'ज्ञानप्लवेन एव' ज्ञान नौकासे ही पार हो जायेगा, उसमें कर्म, उपासना योगकी किंचित् अपेक्षा नहीं है। तथा 'संतरिष्यसि' तरोगो भी सम्यक् प्रकारसे कि फिर तरनेकी जरूरत ही नहीं रहेगी। माने आत्यन्तिक संतरण हो जायेगा।

ज्ञानकी नौकासे तरनेका अर्थ है डूबनेकी भ्रान्तिसे निवृत होना। तुम सचमुच पापी हो नहीं। तुम्हें अपने पापी होनेका

भ्रम हो गया है। तुम तो परम सत्, परम ज्ञान और परम आनन्द-स्वरूप हो। बस तुम अपने आपको भूले हुए हो। ब्रह्मज्ञान उस भूलको मिटा देगा।

महात्माओंका पिप्पलाद ऋषिसे यह कहना कि 'आप ज्ञान द्वारा अज्ञान-समुद्रसे पारकर दीजिये' इस बातको बताता है कि ब्रह्मज्ञान केवल प्रतिबंधकी निवृत्तिमात्र करता है। मोक्ष तो अपना आत्मा है ही। •

## ३. तरतिशोकमात्मविद्

अब छांदोग्य उपनिषद्का प्रसंग लेते हैं :

**श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति; सोऽहं भगवो शोचामि तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयतु** (७.१.३)।

यह सनत्कुमार और नारदका संवाद है। नारद सनत्कुमारजी के पास गये और कहा : भगवन् मुझे उपदेश कीजिये। सनत्कुमारने उत्तर दिया : तुम जो जानते हो उसको बताओ, तब मैं तुम्हें उसके आगे बताऊँगा। तब नारदजीने बताया कि 'मैंने १८ विद्याएँ पढ़ी हैं परन्तु मैं मन्त्रवेत्ता ही हूँ, आत्मवेत्ता नहीं हूँ। भगवन् मैंने आप जैसोंसे सुना है कि आत्मवेत्ता शोकको पार कर लेता है, और मैं शोक करता हूँ; इसलिए भगवन् ऐसे शोकग्रस्त मुझको शोकसे पारकर दीजिये।" यह मन्त्रार्थ है।

**भगवद्दृशेभ्यो युष्मत्सदृशेभ्यः** = आपके समान महापुरुषोंसे। यह शांकर भाष्य है। यह दृश् धातु विलक्षण है। दृशि ज्ञानार्थः। दृश् धातु ज्ञानार्थक है। पं० काशीनाथजी व्याकरणाचार्य काशीमें तीन सौ श्लोक बनाकर लाये। मैंने उन्हें पढ़ा। उसमें उन्होंने 'दृशेभ्यः' प्रयोग किया था। मैंने कहा कि 'दृग्भ्यः' होना चाहिए। तो उन्होंने बताया कि दृश् धातुमें अच् प्रत्यय होनेपर 'दृशः, दृशौ,

दृशाः' ऐसा बनेगा, इसलिए दृशेभ्यः ठीक है। अतः भगवन्तश्च ते दृशाश्च तेभ्यः भगवद्दृशेभ्यः अथवा भगवन्तं पश्यन्ति इति भगवद्दृशाः तेभ्यः भगवद्दृशेभ्यः। अर्थात् जो आप जैसे महात्मा हैं उनसे अथवा जो भगवद्दर्शी महात्मा हैं उनसे (यह बात मैंने सुनी है)।

क्या सुना है? कि **तरति शोकमात्मवित्** = आत्माको जाननेवाला शोकसे तर जाता है। कोई एक ऐसी चीज है जिसको जाननेमात्रसे ही सम्पूर्ण शोक दूर हो जाते हैं।

किसीको बेटा मरनेका झूठा समाचार मिला। बेचारा किवाड़ बन्द कर रोने लगा। उसके मित्र उसके पुत्रको लाये और कुण्डी खटखटायी। बोला अब किवाड़ खोलकर क्या करेंगे?

मित्र : अरे खोलो तो सही, ऐसी चीज लाया हूँ कि देखते ही शोक, मोह, रोना-धोना सब समाप्त हो जायेगा।

वह : ऐसी कोई चीज नहीं है।

मित्र : अरे! खोलकर देखो तो सही।

आखिर किवाड़ खुली। बापने बेटेको देखा। उसके पुत्रकी मिथ्या मृत्यु-सूचनासे जो दुःख था सब एक साथ रफूचक्कर हो गया।

इसी प्रकार अपने बारेमें जितना दुःख है वह सब अपने असली स्वरूपके न जाननेके कारण हैं। आत्मा दरअसल शोकसे पार है ही, परन्तु उसे जानते नहीं अतः शोकग्रस्त हो रहे हैं। ब्रह्मज्ञानसे केवल अज्ञान निवृत्त हो जाता है।

काशीमें एक बड़े भारी विद्वान् हैं। उनका जमाई मर गया। मैं गया उनके घर। उन्होंने यही श्रुति बोली : 'सोऽहं भगवो शोचामि तं मा भगवञ्छोकस्य पारं तारयतु'। बोले : 'स्वामीजी, वेद, शास्त्र, वेदान्तमें ऐसी कोई पंक्ति नहीं है जिसका मैं अर्थ नहीं कर सकता, परन्तु मेरा हृदय शोकसे फटा जा रहा है। आप मुझे इस शोकसे पार कर दीजिये।'

पढ़ना दूसरी चीज है, श्रवण दूसरी चीज है। अपरा विद्याका पढ़ना दूसरी चीज है और परा विद्याका श्रवण दूसरी चीज है। श्रवण माने तात्पर्य-निश्चय होता है। यह जो परम-प्रेमास्पद द्रष्टा आत्मा है वही प्रपंचका अधिष्ठान भी है, इसमें सारे वेदान्त-तात्पर्य समन्वित हैं, इस निश्चयका नाम श्रवण होता है।

नारद मुमुक्षु हैं और श्रवणके लिए वे सनत्कुमारकी शरणग्रहण करते हैं। इसमें दो क्रम हैं। मनुष्यके स्थूल अहम्‌की निवृत्ति गुरु-शरणागतिसे होती है और सूक्ष्म अहंकी निवृत्ति स्वरूप-ज्ञानसे होती है। जो स्वरूपभूत अहं है उसकी निवृत्ति कभी नहीं होती क्योंकि वह तो अनुभवात्मा ब्रह्म ही है। इस सम्बन्धमें एक बात और आपको सुनाता हूँ।

योगी और जैन दोनों कहते हैं कि 'अहं ब्रह्मास्मि' जो विचार है और इससे जो तन्मयता होती है वह योगकी विचारा-लम्बन समाधिके अन्तर्गत है। 'अहं ब्रह्मास्मि' जब 'अहमस्मि' रह जाता है तो उससे आनन्दालम्बन समाधि होती है। जब केवल 'अस्मि' शेष रहता है तब अस्मितालम्बन समाधि होती है। जब अस्मिता भी निवृत्त हो जाती है तब असम्प्रज्ञात समाधि होती है। और जो सच्ची समाधि है उसमें ये तीनों नहीं हैं—अहं ब्रह्मास्मि,

अहम् अस्मि और अस्मि। योगी लोग आस्तिक हैं तो, परन्तु इनका ईश्वर समाधिका आलम्बन तो हो सकता है परन्तु असम्प्रज्ञात समाधिमें कोई ईश्वर-वीश्वरका अनुभव उन्हें नहीं होता। जैन ईश्वर मानते नहीं, भले ही वे २४ ईश्वर तीर्थङ्करके रूपमें मानते हैं।

पहले स्थूल अभिमानको छोड़कर गुरुकी शरणागति ग्रहण करनी चाहिए। वेदान्तसे सूक्ष्म अहंकी निवृत्ति तब होगी जब सूक्ष्म अहंको अविद्याकृत समझेंगे। असलमें उसे अविद्याकृत समझना ही उसकी निवृत्ति है, परन्तु अपने अज्ञानको जान लेना ही ज्ञान नहीं है। इसमें संशोधन यह है कि अज्ञानके आश्रय और विषयकी एकताको जाननेसे अज्ञान निवृत्त होता है, अन्यथा नहीं। आत्मत्वेन ब्रह्म ही अज्ञानका आश्रय है और ब्रह्मत्वेन ब्रह्म ही अज्ञानका विषय है। इसका अर्थ है कि ब्रह्म ही ब्रह्मको नहीं जान रहा है, ऐसा प्रतीत होता है।

अहंका बिलकुल नाश हो जाय, ऐसा कभी किसीका पुरुषार्थ नहीं हो सकता। बस, स्थूल सूक्ष्म अहंकी मैल ही छुटाना है, अहंका नाश इष्ट नहीं है। उसमें जो दृश्यता जुड़ गयी है, विनाशिता जुड़ गयी है, अपूर्णता जुड़ गयी है, विकारिता जुड़ गयी है, उसका निवारण चाहते हैं। हर हालत में अपना आपा तो रहेगा ही अन्यथा मोक्ष ही क्या ?

**तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः।**
**( छा० ७.२६.२ )**

नारदने छोटे अहंको बढ़ानेवाली जितनी चीज है सबका निषेध कर दिया था। वेदका और दुनियाकी सारी विद्याओंका, परन्तु उनका शोक नहीं मिटा। अब जब वह अन्धेरेमें भटक

रहे थे तब उन्होंने सनत्कुमारसे प्रार्थना की। उन सनत्कुमारने उन निष्पाप नारदको अज्ञानके अन्धकारका उस पार दिखा दिया।

केवल उपदेशसे ही नारदका कल्याण हो गया क्योंकि नारदका अन्तःकरण बिलकुल तैयार था, उसमें कोई कषाय यानी कसैलापन नहीं था। सुपाड़ी, आँवला, हरड़ कषाय हैं। जब एक बार मुँहमें डाल लेते हैं तो मुँहका स्वाद बुरा हो जाता है, परन्तु परिपाक होनेपर वही कषाय पुष्टिके हेतु बनते हैं। अन्तःकरणका कषाय है, राग और द्वेष। जहाँ राग होता है वहाँ द्वेष अवश्य होता है और जहाँ द्वेष होता है वहाँ राग अवश्य होता है। राग-द्वेष रहते तो वैज्ञानिक अनुसन्धान भी नहीं होते फिर आध्यात्मिक अनुसन्धान तो होंगे ही कैसे? देहको भूलना ही नहीं पड़ता, देहसे विरक्त होना पड़ता है, देहातीतमें डूबना पड़ता है।

**मृदितकषायाय दग्धकिल्बिषाय।** ( रत्नप्रभा )

मृदितकषायाय अर्थात् जिसके पाप दग्ध हो चुके ऐसे नारदके लिए।

अन्तःकरणको चश्मेके लैंसकी तरह साफ करना पड़ेगा नहीं तो उससे साफ नहीं दीखेगा। कपड़ेपर कई तरहके दाग पड़े हों तो उन्हें कई तरहके साबुनसे धोना पड़ता है। ऐसे ही अन्तःकरणमें कर्मदोष कर्मके द्वारा, भोग-दोष भोग-त्यागके द्वारा, वासना-दोष भक्तिके द्वारा, राग-द्वेषका दोष वैराग्यके द्वारा, अहंकार-दोष शरणागतिके द्वारा दूर किया जाता है। यदि केवल अज्ञान ही दोष हो तो वह तत्त्वज्ञानके द्वारा निवृत्त हो जायेगा।

एक बार मैंने एक महात्माको पत्र लिखा कि मैं आपके पास आकर आपके सम्प्रदायके सिद्धान्तका अध्ययन करना चाहता हूँ। उन्होंने प्रत्युत्तरमें लिखा : 'आपका आना बेकार है। अबतक जो तुम्हारी मान्यता रही है, पढ़कर, लिखकर, विचारकर, यदि वह गलत साबित हो जाय तो क्या उसे छोड़नेको तैयार हो? हो तो आ जाओ। यदि अपनी मान्यताओंकी पोटली सिरपर लेकर आना चाहो तो बेकार है, जहाँ हो वहीं ठीक हो। हमारे पास आनेकी जरूरत नहीं है।'

यह क्या बिना वैराग्यके हो सकता है? नहीं। उसमें भी तीव्र वैराग्य चाहिए, न्यून वैराग्य नहीं। वैराग्य माने छोड़नेको तैयार—कर्म, भोग, संग्रह, आग्रह, विचार, धर्म, धर्मफलकी बुद्धि, सब!

**एतद् यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थि विकिरती ह सोम्य।**

(मुण्डक २.१.१०)

'इस ब्रह्मतत्त्वको जो वेदकी गुफामें छिपा हुआ है जो जानता है वही हे सोम्य, इस अविद्याकी गाँठको काट देता है।'

यह जो प्रपञ्चका अधिष्ठान ब्रह्म है जिसकी अनन्ततामें, जिसकी चेतनतामें, जिसकी अद्वितीयतामें, यह द्वित्व सत्ता कुछ है ही नहीं वह अपने हृदयमें, अपने अहमर्थकी कोखमें ही छिपा हुआ है। यदि आत्मासे अभिन्न ब्रह्मको जान लिया तो अविद्याकी गाँठको काटकर फेंक देता है।

ये सारी श्रुतियाँ कहती हैं कि मोक्षमें प्रतिबन्ध केवल अपनेको न जानना है। नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ज्ञानस्वरूप हो तुम अखण्ड! इसमें प्रतिबन्ध है तो केवल अविद्या और वह परमात्माके ज्ञान-

मात्रसे निवृत्त हो जाती है। वेदान्त कुछ उत्पन्न नहीं करता। बृहदारण्यक भाष्यमें भगवान् शंकर कहते हैं:

**न हि मोक्षदशायां विज्ञानान्तरम् आनन्दान्तरं वा उत्पद्यते।**

मोक्षदशामें कोई नया विज्ञान या कोई नया आनन्द उत्पन्न नहीं होता। यह आत्मा विज्ञानस्वरूप है और आनन्दस्वरूप है। छोटा आत्मा विज्ञान उत्पन्न होनेसे विज्ञानी होता है, आनन्द उत्पन्न होनेसे आनन्दी होता है। छोटा आत्मा मोक्ष-दशामें बड़ा बन जाता हो सो भी बात नहीं। न नया विज्ञान उत्पन्न होता है, न नया आनन्द उत्पन्न होता है और न नयी ब्रह्मता उत्पन्न होती है। वह बड़ा आत्मा तो पहिलेसे ही 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' है। यह न जाननारूप प्रतिबन्ध वेदान्त दूर कर देता है। और फिर वेदान्त आत्मापर चिपककर बैठा नहीं रहता। साबुनकी तरह मैल काट देनेपर वह स्वयं भी बह जाता है। वृत्तिज्ञान अज्ञानको निवृत्त करके स्वयं भी निवृत्त हो जाता है। आत्मा तो आनन्दस्वरूप ब्रह्म है ही। दियासलाई जलाकर देख लिया कि साँप नहीं है, फिर प्रकाशकी भी जरूरत नहीं रही! ज्ञान यह अभिमान उत्पन्न नहीं करता कि मैं मुक्त हूँ या मैं ज्ञानी हूँ या मैं सुखी हूँ, या मैं ब्रह्म हूँ। बल्कि इस भ्रान्तिकी निवृत्तिमात्र करता है कि मैं अल्प हूँ, मैं परिच्छिन्न हूँ, मैं बद्ध हूँ इत्यादि। ●

( ४.२१ )

# उत्तर पक्ष—६ ( वितत )

## न्याय शास्त्रसे समर्थन

**मूलभाष्य :**

**तथा चाचार्यप्रणीतं न्यायोपबृंहितं सूत्रम्—दुःख जन्म-प्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ( न्यायसूत्र १.१.२ )। इति मिथ्याज्ञानापायश्च ब्रह्मात्मैकत्व-विज्ञानाद् भवति।** ( क्रमशः )

**भाष्यार्थ :** उसी प्रकार आचार्य गौतमप्रणीत यह युक्तियुक्त सूत्र है कि 'दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष एवं मिथ्याज्ञान—इनमें उत्तर-उत्तरका नाश होनेसे पूर्व-पूर्व कार्यका नाश होकर मोक्ष प्राप्त होता है।' और मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति ब्रह्म और आत्माके एकत्व-विज्ञानसे होती है।

अब भगवान् शंकराचार्य अपने मतकी पुष्टिमें न्यायदर्शनका सूत्र उद्धृत करते हैं : **दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानाम् उत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।**

सूत्रका कहना है कि मिथ्याज्ञानकी निवृत्तिसे सारे दुःखोंकी निवृत्ति हो जाती है। मिथ्याज्ञानके निवृत्त होनेसे दोष निवृत्त हो जाते हैं, दोष निवृत्त होनेसे धर्माधर्मरूपी प्रवृत्ति निवृत्त हो जाती है, प्रवृत्ति निवृत्त हो जानेसे जन्म निवृत्त हो जाता है और जन्म निवृत्त होनेसे दुःख निवृत्त हो जाते हैं। और मिथ्या ज्ञान किससे निवृत्त होगा ? आचार्य शंकरका कहना है कि वह ब्रह्म और आत्माके एकत्व-विज्ञानसे होगा।

योगदर्शनका भी यही कहना है कि अविद्याकी निवृत्तिसे ही सारे दुःख निवृत्त होते हैं। बौद्ध भी ऐसा ही मानते हैं। वेदान्त भी ऐसा ही मानता है। परन्तु समानार्थक शब्द होते हुए भी मिथ्या ज्ञान, अविद्या और वेदान्तोक्त अविद्याके स्वरूपमें अन्तर है और इसलिए उनकी निवर्तक विद्याके स्वरूपमें भी अन्तर है। वैदिक दर्शन जितने हैं वे सब 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' ( ज्ञानके बिना मोक्ष नहीं होता ) इस श्रुतिको मानते हैं। परन्तु सबके स्वरूपमें अन्तर है क्योंकि उससे जिस अज्ञानको नष्ट करता है उसका स्वरूप सबका भिन्न-भिन्न है।

एक बड़ी मौलिक बात इस सम्बन्धमें यह है कि यदि ज्ञानसे ही मुक्ति न मानी जाय तो आत्मा ज्ञानस्वरूप है ( चेतन है ) यह बात भी सिद्ध नहीं होगी। चेतन अगर कुछ करके मुक्त होगा तो वह कर्ता होगा, चाहे वह कर्म करके मुक्त हो या उपासना करके मुक्त हो या योग-साधना करके मुक्त हो। उस दशामें बन्धन कर्मका होगा और मुक्ति कर्मसे होगी चाहे वह कर्म शारीरिक हो या वाचिक हो या मानसिक हो या सबका सम्मिलित रूप हो। मूल बात यह है कि चेतन कभी जड़ हुआ ही नहीं है केवल उसने मान लिया है कि जड़के साथ एक हूँ। सिवाय मान्यताके चेतनका देहके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। 'यह देह मेरा है, यह देह मैं हूँ, देहके कर्म मेरे कर्म हैं, देहके भोग मेरे भोग हैं, देहकी जाति, देहका सोना, जागना, मरना, जीना मेरे हैं' यह सिवाय मान्यताके कुछ नहीं हैं। इसको अध्यास बोलते हैं, भ्रान्ति-ज्ञान बोलते हैं। यह भ्रान्ति या उल्टा ज्ञान अपने आपको न जाननेके कारण है। वेदान्त सिर्फ अपने आपका ज्ञान कराकर अज्ञान मिटा देता है, तब भ्रान्ति अपने आप मिट जाती है।

बोले : 'मैं हूँ', मैं जानता हूँ; सब जानते हैं।

'तत्त्वमसि जाना ?'

'हाँ जाना। पुस्तकमें पढ़ चुका हूँ।'

यह जानना नहीं है। आत्मचैतन्यको अद्वितीय ब्रह्मके रूपमें जानना ज्ञानका स्वरूप है। अज्ञान न सुषुप्तिमें मिटता है, न समाधिमें; न सुषुप्तिवत् समाधिसे मिटता है, न स्वप्नवत् उपासनासे मिटता है और न जाग्रद्वत् धर्मसे मिटता है। यह तो अविद्या-निवर्तक स्वरूप ज्ञानसे मिटेगा। यह ज्ञान है चेतनकी अद्वयताका ज्ञान, आत्माकी निर्विषयताका ज्ञान; ज्ञाताका अभिमान और ज्ञेयकी इदंतासे रहित ज्ञान, अहम् और इदम्के भेदसे रहित शुद्ध ज्ञानस्वरूपका प्रतिपादन करनेवाला ज्ञान !

अज्ञाननिवृत्तिसे उपलक्षित आत्मा ही मोक्ष है। अज्ञाननिवृत्ति होती है ज्ञानसे। अतः ब्रह्मज्ञान मोक्षके प्रतिबन्धका निवर्तक मात्र है।

न्यायाचार्य कहते हैं कि मिथ्या ज्ञान सम्पूर्ण दुःखोंका जनक है। अतः मिथ्याज्ञान ही बन्धनका हेतु है। वे कहते हैं कि प्रमाण आदिका विचार करके प्रमेयके स्वरूपका निश्चय करो तब मिथ्या ज्ञान निवृत्त होगा। न्यायदर्शनमें बारह प्रमेय माने जाते हैं और इनका अयथार्थज्ञान ही मिथ्या ज्ञान माना गया है। यथार्थज्ञानके लिए यथार्थज्ञान ( प्रमा ) के करण क्या हैं इसका भी विचार आवश्यक माना गया है। प्रमाके करणको ही प्रमाण कहते हैं। अतः प्रमेय-विचारसे पूर्व प्रमाण-बिचार आवश्यक है।

वहाँ प्रमाण चार माने गये हैं। प्रत्यक्ष (इन्द्रियादि), प्रत्यक्षसे अविरोधी अनुमान, प्रत्यक्षके सदृश उपमान तथा शब्द ( शब्दको यदि प्रमाण नहीं मनोगे तो बोलकर बतानेका अर्थ ही क्या रह जायेगा ? )। शब्दप्रमाणको जैन और बौद्ध भी मानते हैं। जैनागम और बौद्धागम प्रसिद्ध ही हैं। स्मृति प्रमाण नहीं है क्योंकि

यह गृहीतग्राहक है, अज्ञातज्ञापक नहीं है, माने पहिले किसी प्रत्यक्षादि प्रमाणसे ग्रहण किये हुएका ज्ञान कराती है स्मृति, कोई नयी चीज़ नहीं लखाती। इसीलिए वैदिकोंमें प्रमाण श्रुतिको ही माना जाता है यद्यपि श्रुतिके अनुसार स्मृतिको भी प्रमाण मानते हैं परन्तु उनके मतमें श्रुति-विरोधी स्मृति प्रमाण नहीं है।

चार्वाक केवल प्रत्यक्षको प्रमाण मानता है। अनुमान आदि भी प्रत्यक्ष-पर्यवसायी प्रमाण ही हैं। सभी आस्तिक दर्शनोंने तथा जैनोंने भी चार्वाकका खण्डन किया है। परन्तु चार्वाकमें ऐसी क्या विशेषता है कि सबके खण्डन करनेपर भी आज भी वह ज्यों-का-त्यों है और आज भी लोगोंको उसका खण्डन करना पड़ता है? असलमें राज्यकी दण्डनीतिका आधार प्रत्यक्ष प्रमाणपर ही अवलम्बित है और वही चार्वाक मानता भी है। जज यदि यह सोचकर दण्ड दे कि इसको नरकमें भी दण्ड भुगतना पड़ेगा तो वह दण्ड गलत हो जायेगा; अपराधीने अपने जन्म-जन्मके संस्कारोंसे पाप किया, अतः वह मजबूर था, यदि यह सोचकर दण्ड-व्यवस्था की जायेगी तो वह गलत होगी। जज सुने-सुनाये गवाहपर भी विश्वास नहीं कर सकता उसे तो प्रत्यक्षदर्शी गवाह चाहिए। दण्ड-व्यवस्थाका आधार यही है कि अपराधीको यहीं अपने कियेकी पूरी सजा मिलनी चाहिए। इस मौलिक दण्ड-नीतिके कारण ही चार्वाक आज भी जिन्दा है और जबतक यह दृष्टिकोण जीवित रहेगा तबतक चार्वाक-दर्शन भी जिन्दा रहेगा भले लोग उसे काटते-पीटते रहें।

शासक धनियोंका धन छीन सकता है या नहीं? मनुस्मृतिका कहना है—

**आदाननित्याच्चादातुराहरेद् अप्रयच्छतः।**
**तथा यशोऽस्य प्रथते धर्मश्चास्य प्रवर्धते॥** (मनु० ११.१५)

'जो कमाई तो खूब करे पर वितरण न करे, राजा हुकुम दे फिर भी न दे, तो राजाको उसका धन छीन लेना चाहिए। इससे लोकमें उसका यश बढ़ेगा और उसका धर्म भी बढ़ेगा।'

( इस श्लोककी ) मेधातिथि टीकामें लिखा है कि ब्राह्मणने भले धर्मसे धन इकट्ठा किया हो, साधुने भेंटसे, क्षत्रियने दूसरोंसे छीनकर और वैश्यने वाणिज्य या कृषि या सूदसे धन इकट्ठा किया हो, शासक उसे छीन सकता है। यह बात मठ, मन्दिरपर भी लागू है।

तो प्रत्यक्ष मुख्य प्रमाण है और अनुमान, उपमान और शब्द भी प्रमाण हैं न्यायशास्त्रमें। इसके आधारपर बारह प्रमेयोंपर विचार करना चाहिए। ये प्रमेय हैं :

आत्मा, शरीर, इंद्रियाँ, विषय ( अर्थ ), भोग, ( बुद्धि ) मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और मुक्ति ( अपवर्ग ) ( न्यायसूत्र १.१.९ )।

आत्मा है शरीरमें। आत्मा नहीं है, यह किसीको अनुभव हो ही नहीं सकता।

शरीर है, इन्द्रियाँ हैं, इन्द्रियोंके विषय हैं—इनपर कार्य-कारण ढंगसे विचार करना चाहिए कि ये क्या हैं, कैसे बनते हैं ?

सारे ज्ञान, सारे भोग बुद्धिसे ही होते हैं अतः बुद्धिको ही भोग नामका प्रमेय कहा जाता है।

ये सब कहाँ हैं ? मनमें। ये सब पैदा कैसे होते हैं ? प्रवृत्ति अर्थात् धर्माधर्मसे।

प्रवृत्तिकी उत्पत्ति कैसे ? प्रेत्यभावसे। यह भाव कि शरीरके जन्मसे पहले आत्मा था और बादमें रहेगा, प्रेत्य भाव है। इसके

बिना धर्माधर्म रहेगा कहाँ ? ईसाई और मुसलमान मानते हैं कि आत्मा पहले नहीं था, परन्तु पैदा होनेके बाद अनन्त कालतक रहेगा। चार्वाक मानता है कि आत्मा पैदा होकर मर जाता है। बौद्ध आत्माको अनादि तो मानते हैं परन्तु उसका उच्छेद मानते हैं। जैन आत्माको अनादि और अनन्त दोनों मानते हैं परन्तु परिच्छिन्न मानते हैं। वेदान्त आत्माको अनादि, अनन्त और देशकाल वस्तुसे अपरिच्छिन्न मानते हैं।

इस प्रकार देहातिरिक्त आत्माका स्वरूप प्रेत्यभाव है। विचार करनेसे पता चलेगा कि आत्माका बार-बार जन्म-मरण होता रहता है।

बार-बार जन्म-मरणका फल है जीवनका सुख, दुःख।

सुख, दुःखके मूलमें है दोष अर्थात् राग-द्वेष और मोह।

जीवनमें जब सब दुःख ही दुःख है, तो इस विचारसे वैराग्य होता है।

वैराग्य होनेपर अपवर्ग अर्थात् मोक्ष होता है।

इन बारह प्रमेयोंके बारेमें मिथ्या ज्ञान बन्धनका हेतु है। बन्धनके क्रमका विवरण है :

मिथ्याज्ञान → दोष = राग-द्वेष-मोह → प्रवृत्ति ( धर्माधर्म ) → जन्म → दुःख मोक्षके क्रमका विवरण इस प्रकार है :

मिथ्याज्ञान निवृत्ति → दोषनिवृत्ति → धर्माधर्म निवृत्ति → जन्म-निवृत्ति → दुखःनिवृत्ति इसी बातको आचार्यश्री न्यायसूत्रके उद्धरणसे पुष्ट कर रहे हैं :

**दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानाम् उत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ( १.१.२ )**

अब मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति कैसे होती है? तो कहा कि ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानात् = ब्रह्म और आत्माके एकत्व-विज्ञानसे।

जो-जो अपने साथ बन्धन लगा है वह परिच्छिन्नके साथ एक होनेके कारण है। क्योंकि बन्धन भी परिच्छिन्नको होता है और दोष भी परिच्छिन्नको होता है। मरना, जीना भी परिच्छिन्न-को होता है और संसारित्व भी परिच्छिन्नको होता है। पाप-पुण्य भी परिच्छिन्नको होता है। परिच्छिन्न माने होता है 'टुकड़ा'। जो परिच्छिन्न है सो दृश्य होगा। जो परिच्छिन्न है सो भेद-रूप होता है और इसलिए भेद सदैव दृश्य होता है। भेद यदि मालूम ही नहीं पड़ता तो वह है, यह बात भी कैसे मालूम पड़ेगी। और यदि भेद मालूम पड़ता है तो वह दृश्य होगा और इसलिए वह जड़, परिणामी और दुःखरूप होगा। दृश्यका जो अवभासक है द्रष्टा, वह दृश्यसे न्यारा होता है।

परिच्छिन्नका द्रष्टा परिच्छिन्न कैसे हो सकता है? भेदका द्रष्टा भेद-रूप कैसे होता है? द्रष्टा भेदसे विलक्षण अभेद-रूप और परिच्छिन्नसे विलक्षण अभेद-रूप, अद्वितीय-रूप होता है।

अपरिच्छिन्नमें परिच्छिन्न दीख रहा है। परिच्छिन्नता वहीं दीख रही है जहाँ परिच्छिन्नता नहीं है। दूसरे शब्दोंमें परिच्छिन्नता अपने अत्यन्ताभावके अधिष्ठानमें ही दीख रही है इसलिए परिच्छिन्नता मिथ्या है। इसलिए परिच्छिन्नताका अस्तित्व ( तद्विषयक बुद्धि ) मिथ्या ज्ञान है।

जब आत्मा और ब्रह्मकी एकताका विज्ञान होता है तब परिच्छिन्नताका बाध होकर मिथ्याज्ञान निवृत्त हो जाता है। आत्मा अर्थात् परिच्छिन्नका प्रकाशक और ब्रह्म अर्थात् परिच्छिन्नताका अधिष्ठान, इनकी एकता है, अर्थात् 'परिच्छिन्नता आत्मामें आत्माको ही दीख रही है' यह ज्ञान है।

# उत्तर पक्ष—७

## १. ब्रह्मात्मैकत्व-विज्ञान कोई उपासना नहीं है।

**मूलभाष्य :**

न चेदं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं सम्पद्रूपम्, यथा 'अनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति' ( बृहदा० ३.१.९ ) इति। न चाध्यासरूपम् यथा 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' ( छां० ३.१८.१ ) 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' ( छां० ३.१९.१ ) इति च मन आदित्यादिषु ब्रह्मदृष्टचध्यासः। नापि विशिष्टक्रियायोगनिमित्तम्—'वायुर्वाव संवर्गः' ( छां० ४.३.१ ) 'प्राणो वाव संवर्गः' ( छां० ४.३.३ ) इतिवत्। नाप्याज्याचेक्षणादिकर्मवत् कर्माङ्गसंस्काररूपम्।

( क्रमशः )

भाष्यार्थः—यह ब्रह्मात्मैकत्व-विज्ञान संपद्रूप नहीं है जैसे श्रुति है कि 'मन अनन्त है और विश्वेदेव अनन्त हैं, वह उसके द्वारा लोकको जीत लेता है।' वह अध्यासरूप भी नहीं है जैसे कि मन ब्रह्म है ऐसी उपासना करे', 'आदित्य ब्रह्म है ऐसा आदेश है' इन श्रुतियोंसे प्रतीत होता है। यह विशिष्ट क्रिया योगनिमित्तकके समान भी नहीं है, जैसे कि श्रुतियाँ हैं कि 'वायु ही संवर्ग है', 'प्राण ही संवर्ग है।' आज्यावेक्षण आदि कर्मके समान कर्माङ्गका संस्काररूप भी नहीं है ( यह ब्रह्मात्मैकत्व-विज्ञान )।

तत्त्वज्ञान अर्थात् असलियतकी जानकारीसे मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति होती है। इस बातमें सब दर्शनोंका मतैक्य है। न्याय-वैशेषिक मिथ्याज्ञानकी निवृत्तिसे मोक्ष मानते हैं और मिथ्याज्ञानकी

निवृत्ति तत्त्वज्ञानसे होती है। सांख्य और योग विवेकख्याति या पुरुषख्यातिसे तत्त्वज्ञान मानते हैं और तत्त्वज्ञानसे संसारसम्बन्ध छूटकर मोक्ष होता है, ऐसा मानते हैं। पूर्वमीमांसा 'प्रपञ्चसम्बन्ध-विलयो मोक्षः' मानते हैं। वैष्णव लोग मानते हैं कि अन्तमें तत्त्वज्ञान होकर ही मोक्ष होता है। वेदान्तका तो सिद्धान्त ही है कि तत्त्वज्ञानके बिना मोक्ष हो ही नहीं सकता। फिर मतभेद कहाँ है? अद्वैत सिद्धान्तका कहना यह है कि ब्रह्मात्मैक्य-विज्ञानसे मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति होती है।

अब आचार्य प्रश्न उठाते हैं कि ब्रह्मात्मैक्य-विज्ञान उपनिषदोंमें वर्णित उपासनाओंसे किस प्रकार भिन्न है? वे कहते हैं कि ब्रह्मात्मैक्य-विज्ञान न तो सम्पद्रूप उपासना है, न अध्यासरूप उपासना है, न संवर्गरूप उपासना है और न कर्माङ्ग-संस्काररूप उपासना है। इन उपासनाओंके स्वरूपको अभी समझायेंगे।

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालयके डा० सत्यव्रतने लिखा है कि क्या आश्चर्य है वेदान्तमें कि ज्ञाता पुरुष जानता तो है ज्ञेय ब्रह्मको और ज्ञाता स्वयं मुक्त हो जाता है! ऐसा कैसे हो सकता है कि सोहन मोहनको जाने और सोहन मोहन हो जाय? यह कोई ज्ञानका तरीका है? यदि ऐसे होने लगे तो दुनियामें लोग ज्ञानसे डरने लगेंगे। इसका अर्थ ही है कि वास्तवमें सोहन मोहन ही था, भ्रमसे उसने अपनेको सोहन जाना था, जाननेसे वह भ्रम निकल गया बस! ज्ञाता पहलेसे ही अमृत न होता तो उसको जानकर अमृत कैसे हो जाता।

### तदेव विदित्वातिमृत्युमेति

अतः अपने आपको जानना और अपने आपको अद्वितीय ब्रह्म जानना, यह बड़ी विलक्षण बात है।

सांख्यमें चार प्रकारके तत्त्व माने जाते हैं: द्रष्टा (अप्रकृति-

अविकार), कारण ( प्रकृति ), कार्य-कारण ( महत्तत्व, अहंकार तथा तन्मात्र ) और कार्य ( पञ्च महाभूत तथा इन्द्रियाँ )। पञ्चभूत अन्तिम कार्य हैं। तब शरीरमें जो मेरा बेटा, मेरी स्त्री, मेरा शरीर, यह सब क्या सच्चा है ? कालमें क्षण, सेकेण्ड, घण्टा, मिनट कहाँ है ? अनन्त अवकाशमें पूर्व, पश्चिम कहाँ है ? देश-काल-द्रव्यके विशेषकी जो अवधि है, जिसमें देश-काल-द्रव्य प्रतीत होते हुए भी नहीं हैं, उस आत्मचैतन्यका अनुभव करो !

हमारे पास एक बच्चा आता था। उम्र कोई १६ सालकी होगी। कक्षा दसवींसे ग्यारहवींमें गया था। वह कहता था। 'स्वामीजी, मैं अनन्तके साथ एक होनेकी कोशिश तो करता हूँ, परन्तु मेरा सारा व्यवहार चौपट होने लगता है, पढ़ाई-लिखाई सब छूटने लगती है।'

एक बच्चा भी जब ध्यान देता है तो उसको देश-काल अनन्त मालूम पड़ने लगते हैं; फिर जो अनन्तका ज्ञाता है वह तो किसी प्रकार सान्त, परिच्छिन्न हो नहीं सकता। अपनेको एक समझदार माननेवाला आदमी सिर्फ इसलिए कि वह पैसा नहीं छोड़ सकता, सम्बन्धियोंको नहीं छोड़ सकता, देहगत विशेषताओंको नहीं छोड़ सकता, उसके अन्दर अभी वैराग्य नहीं आया, वह आदमी अपने 'मैं'को इस नरकमें रखकर बैठा हुआ है और कहता है कि यह शरीर बड़ा सुन्दर और चिकना-चुपड़ा है; हड्डी, मांस, चाम, विष्ठा-मूत्रकी एक पोटलीमें अपने 'मैं'को फँसाकर बैठा हुआ है ! वह आत्माकी ब्रह्मताको नहीं समझ सकता।

अपने 'मैं'शब्दका अर्थ ब्रह्म समझो। उसको देहमें मत रखो। कोऽहं कोऽस्य कर्ता विद्यते ? 'मैं' कौन हूँ कहाँसे आया हूँ, यह जगत् क्या है, इसका कर्ता कौन है ? इसपर विचार करो।

संसारमें हमेशा देहको 'मैं' माननेवालोंका बहुमत रहता है।

परन्तु तत्त्वका निश्चय बहुमतसे नहीं होता। कर्त्तव्यवादी, भोगवादी, अर्थवादी और कर्मवादी—इन्हींका दुनियामें बाहुल्य है। इन लोगोंका कहना यह है कि अपनेको ब्रह्म कहना ठीक है, परन्तु यह भी एक प्रकारकी उपासना ही है जैसे कि उपनिषदोंमें अनेक प्रकारकी अनेक उपासनाएँ दी हुई हैं। इनमें-से चार प्रकारकी उपासनाओंकी चर्चा शंकर भगवान् यहाँ करते हैं : सम्पद्रूप उपासना, अध्यासरूप उपासना, संवर्गरूप उपासना और संस्काररूप उपासना।

१. **सम्पद्रूप उपासना :** कर्त्तव्यवादीने कहा कि 'आत्मा ब्रह्म है' ऐसा जानकर उपासना करनी चाहिए कि 'मैं ब्रह्म हूँ।' बहुत लोग 'सोऽहम्' 'सोऽहम्' बोलते ही हैं, 'शिवोऽहम्' 'शिवोऽहम्' बोलते ही हैं। यों कोई बोलनेसे ही उपासना नहीं हो जाती। जहाँ पदज्ञानका विवेक नहीं है, जहाँ होना ( भवन् ) और है ( सत् )का विवेक नहीं है, वहाँ स्थिति ही कौन-सी होगी ? ज्ञान ज्ञेयका विवेक नहीं है तो स्थिति कहाँ होगी—ज्ञानमें या ज्ञेयमें ? बिना विचारके ही जिस किसीको मान बैठना मूर्खता है :

**अविचार्य यत्किंचित् प्रतिपद्यमानो मूढः**

तो किसी चीजका सम्पादन करके उससे एक हो जाना सम्पद्रूप उपासना है। इसका उदाहरण श्रुतिसे देते हैं :

**अनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति।**

( बृहद० ३.१.९ )

'मन अनन्त है, विश्वेदेवा अनन्त हैं। ऐसी उपासना करके ( अर्थात् अनन्तत्वकी समानताके बलपर मनका तिरस्कर करके मनको = विश्वेदेवा जानकर उसका अभ्यास करना, ऐसी उपासना करके ) उस उपासनाके द्वारा वह लोकको जीत लेता है।

पीपलके पत्ते देवता हैं : **पत्रे-पत्रे देवताः**। पृथ्वी देवता। वासो देवता। आपो देवता। सूर्यो देवता। चन्द्रमा देवता। अग्निर्देवता। ये सब देवता हैं। देवता अर्थात् इनके द्वारा कोई-न-कोई चीज प्रकाशित होती है। एक हैं—'विश्वेदेवा'। अनन्त हैं 'विश्वेदेवाः'।

जब पृथ्वी देवता है तो पृथ्वीका कण-कण देवता है। इसी प्रकार जलकी बूँद-बूँद देवता है, अग्निकी चिन्गारी-चिन्गारी देवता है। वायुका झोंका-झोंका देवता है। विश्वेदेवाका मतलब है कि सारी सृष्टि देवरूपा है। इसमें अपनी पत्नी, अपना पति, अपना पुत्र, अपना मकान सोचनेकी जरूरत नहीं है। यहाँ कुछ मैं-मेरा सोचनेकी जरूरत नहीं है, सब देवता ही देवता हैं!

ये 'विश्वेदेवाः' अनन्त हैं। कौन गिन सकता है कि पृथ्वीके कितने कण हैं, जलकी कितनी फुहियाँ हैं, आगकी कितनी चिनगारी हैं, हवाके कितने झोंके हैं, कितने कुहासे और कितने तारे हो सकते हैं ? ये फैले हुए देवता हैं, बहते हुए देवता हैं, इनको देखो! एक मनमें हजार-हजार वृत्तियाँ हैं। मन देवता है क्यों चीजोंको प्रकाशित करता है। इसलिए मनकी वृत्ति-वृत्ति देवता है!

जैसे अनन्त 'विश्वेदेवाः' वैसे अनन्त मनोवृत्तियाँ। मनोवृत्ति और 'विश्वेदेवाः'में अनन्तत्वका सामान्य है। इसलिए ऐसा चिन्तन करो कि विश्वेदेवाः ही विश्वेदेवाः हैं, मन नहीं है। मनकी प्रत्येक वृत्तिमें आत्माकी चेतनता अनुस्यूत है। इससे क्या होगा कि मनका हो जायेगा तिरस्कार और रह जायेगा विश्वेदेवता। इसका फल बताया कि अनन्त लोकोंपर विजय प्राप्त हो जायेगी, अर्थात् मनका सर्वात्मभाव हो जायेगा। मनकी प्रत्येक परिस्थितिमें मौज हो जायेगी।

यह हुआ दृष्टान्त। इसका दार्ष्टान्त भी उपासनाका ही है। इसे

तत्त्वज्ञान मत समझ लेना। एक शरीरमें जो प्रकाशक भास रहा है, देशका, कालका, वस्तुका प्रकाशक आत्मचैतन्य, वह अनन्त है और ब्रह्म-चैतन्य भी अनन्त है। जीव भी अनन्त पदार्थोंका प्रकाशक और ब्रह्म भी अनन्त पदार्थोंका प्रकाशक, तो चैतन्यमें जो जीव है उसका तिरस्कार कर दो और तुम ब्रह्म चैतन्य हो, इस स्थितिमें बैठ जाओ। इसका नाम सम्पद्रूप उपासना है। जीवके जीवत्वका तिरस्कार करके उसे ब्रह्मकी अनन्ततामें मिला देना यह सम्पद्रूप उपासना है :

**जीवं ब्रह्मत्वेन सम्पाद्य ब्रह्मचिन्तनम्।**

२. **अध्यासरूप उपासना :** इसको प्रतीकोपासना भी कहते हैं। जैसे शालिग्राम निमित्त हैं, उसमें नारायणाकार बुद्धि नैमित्तिक है। जैसे बुद्धि कभी स्त्रीयाकार दिखती है कभी शत्रु-आकार। स्त्री और शत्रुके निमित्तसे उनकी याद बुद्धिमें आती है। इसी प्रकार शालिग्राम निमित्त है और नारायणकी याद बुद्धिमें आती है। ब्रह्मसूत्रमें इसको प्रतीकालम्बन कहते हैं। असलमें अपनी बुद्धि बनानेके लिए यह बाह्यालम्बन है।

इसका नाम अध्यासरूप उपासना भी है। **अतस्मिंस्तद् बुद्धिः** = अन्यमें अन्यकी बुद्धि, यह अध्यासका लक्षण है। यह लक्षण प्रतीकोपासनामें घटता है।

एक अनादि अविद्यासे मिथ्याज्ञान निमित्तक नैसर्गिक अध्यास है अपने जीवनमें कि 'यह देह मैं हूँ।' यह अध्यास स्वाभाविक है, न कहीं पढ़ाया न पढ़ा। कब शुरू हुआ कोई नहीं बता सकता, इसलिए अनादि है। अनादि बोलना बचनेका तरीका नहीं है। अध्यसित 'मैं'के आदिका पता लगा सकना अशक्यानुष्ठान है, क्योंकि कालके प्रत्येक अवयवके ज्ञानके लिए 'मैं'का पूर्व विद्यमान रहना आवश्यक है। इसलिए जबतक अध्यास है तबतक इसको

अनादि बोलते हैं और जब तत्त्वज्ञानके द्वारा यह निवृत्त हो जाता है तब अनादि, सादि, वर्तमान या निवृत्त कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह सत्ताहीन है।

दूसरा अध्यास है शास्त्रके द्वारा साधनके रूपमें उपदिष्ट अध्यास। जैसे शालिग्राममें नारायण-बुद्धि। यह अध्यास होनेपर भी शास्त्रीय होनेसे उपासना है और इसका फल है बुद्धिसे सांसारिक राग-द्वेषकी निवृत्ति तथा नारायणाकार बुद्धि। यह 'तत्' पदार्थ ईश्वरके स्वरूपका शोधन करनेमें भी सहायक है।

इसी प्रकार यह जो जीव है उसमें ब्रह्म-बुद्धि करना, यह अध्यासरूप उपासना उपनिषद्को इष्ट है, यह इस कोटिके उपासकोंका मत है। इस सम्बन्धमें श्रुतियाँ भी हैं :

**आत्मानं ब्रह्मेत्युपासीत** = आत्मा ब्रह्म है ऐसी उपासना करें।

**मनो ब्रह्मेत्युपासीत** ( छा० ३.१८.९ ) = मन ब्रह्म है, ऐसी उपासना करें।

**आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः** ( छा० ३.१९.१ ) = आदित्य ब्रह्म है, ऐसा आदेश है।

**अन्नं ब्रह्मेत्युपासीत** ( तै० उप० २.२.१ ) = अन्न ब्रह्म है, ऐसी उपासना करें।

अन्नका पर्दा यदि फाश करदो, अर्थात् उसमें जो विकारिता है जो दृश्य है, परिच्छिन्न है, उसको यदि हटा दो तो अन्नमें-से ब्रह्म निकल आयेगा। इसी प्रकार मनके पर्देको हटा दो तो मनमें-से ब्रह्म निकल आयेगा!

शालिग्रामको ब्रह्म मानकर उपासना करना आधिभौतिक उपासना है। आदित्यमें ब्रह्म मानकर उपासना करना आधिदैविक उपासना है। मनको या जीवको ब्रह्म मानकर उपासना करना आध्यात्मिक उपासना है। ये सब अध्यासरूप उपासनाके उदाहरण हैं।

संपद् रूप उपासना और अध्यास रूप उपासनामें अन्तर यह है कि प्रथममें जीवत्वका तिरस्कार है, परन्तु द्वितीयमें जीवत्वके रहते हुए ही ब्रह्मत्वका आरोप है।

**३. संवर्गरूप उपासना :**

**वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि।**

'हे वायु, तुम ही प्रत्यक्ष ब्रह्म हो।' यह संवर्गोपासना है। **वायुर्वाव संवर्गः** ( छां०४.३.१ )=वायु ही संवर्ग है। **प्राणो वाव संवर्गः** ( छां० ४.३.३ )=प्राण ही संवर्ग है। ये श्रुति हैं।

**संवृज्य अभेदं सम्पादयति**=जो संवर्जन करके अभेद सम्पादन करता है वह संवर्ग है। संवर्जन, संवर्ग क्या? **संवृत्ते इति संवर्गः**=जो सबको ढक दे और खुद रह जाय उसका नाम संवर्ग है।

आधिभौतिक दृष्टिसे वायु संवर्ग है और आध्यात्मिक दृष्टिसे प्राण संवर्ग है। सुषुप्तिमें सब इन्द्रियाँ मनमें लीन हो जाती हैं और मन प्राणमें लीन हो जाता है, परन्तु प्राण शेष रहता है। अतः प्राण संवर्ग है।

प्रलयमें, सारी मिट्टी पानीमें, सारा पानी तेजमें, सारा तेज वायुमें लीन हो जाता है और वायु शेष रहता है, अतः वायु संवर्ग है।

अपने प्राणमें सबका लय करके बैठना एक उपासना है और वायुमें सबका लय करके बैठना दूसरी उपासना है।

उपनिषदोंमें लय-चिन्तनकी प्रक्रियाएँ हैं। सम्पूर्ण सृष्टिको परमात्मामें लीन कर दिया तो 'मैं'का आधार कहाँ रहा? किसमें रहकर मैं अलग रहेगा? तब यह मैं भी परमात्मामें लीन हो जायेगा। 'मैं परमात्मस्वरूप हूँ और सारी सृष्टि उसमें लीन है' ऐसा जो महाप्रलयका, महासमाधिका शास्त्रीय चिन्तन है, उसको

संवर्ग-उपासना बोलते हैं। कुछ लोगोंका आग्रह है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' भी संवर्ग उपासनाके लिए ही है।

४. **संस्काररूप उपासना :** एक उपासना होती है कर्माङ्गके रूपमें कर्म-संस्काररूप। जैसे दर्शपूर्णमास यागमें उपांशु यागके अंगभूत घृतको यजमानकी पत्नी देखे, ऐसा विधान है। तो यही घीका संस्कार माना जाता है। इसीको **आज्यावेक्षणादिकर्मवत् कर्माङ्गसंस्काररूपम्** कहा गया है।

वैसे संस्काररूप उपासनाका एक और प्रकार भी है श्रीमद्-भागवतमें कहा है :

**आत्मानं तन्मयं जानन् मूर्तिं सम्पूजयते ।**

पूजाका सामान्य नियम है कि देव होकर देवका पूजन करे : **देवं भूत्वा देवं यजेत्।** वही देवता होकर पूजा करती है। आप डरें नहीं। जब थोड़ी समझ बढ़ जाती है तब जिस देवताका तुम ध्यान करोगे वह देवता तुम्हारे सामने खड़ा नहीं रह सकता।

बनारसमें एक फकीर थे। उनके सामने यदि कोई मूर्ति रख दी जाती थी, और वह उसको देख दें तो मूर्ति फट जाती थी। उनकी आँखमें तेज था। सिद्धि थी उनको। हम उनका चमत्कार मानते थे, यह मानसिक शक्तिका चमत्कार हो सकता है, परन्तु उनकी सिद्धिसे हम कभी प्रभावित नहीं हुए।

आप जितनी देर देवताका ध्यान करेंगे तो पहले तो देवताका मुँह आपकी ओर होगा परन्तु आपके तन्मय हो जानेपर उसका मुँह और आपके मुँहकी दिशा एक हो जायेगी। अर्थात् आप और देवता एक हो जायेंगे।

जबतक आप सजातीय नहीं बनोगे तबतक वह तुम्हारे हाथका खायेगा नहीं। आप तन्मय होकर वैसी ही शक्ल-सूरत, कपड़ा, शरीर बनाकर मनसे ध्यान करो तो हम शर्त लगाते हैं कि

देवता तुमसे बोलेगा, तुम्हारे साथ खायेगा, तुम्हारे ध्यानमें आयेगा।

ऐसे लोगोंका कहना है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' भी एक उपासना है। तन्मय होकर ब्रह्मकी उपासना करो। यह एक प्रकारका संस्कार है। यह संस्कार उपासना हुई कि पहले अपने आपको संस्कृत कर लिया कि मैं ब्रह्म हूँ और फिर ब्रह्मकी उपासना करने लगे।

'तत्त्वमसि' ( इन लोगोंके अनुसार ) यज्ञमें यजमानकी पत्नी-की प्रशंसाके लिए है जिससे वह अधिक धनका त्याग करे। यजमानमें ईश्वरत्वका आरोप कराके, ईश्वर-भावके अनुकूल उसके संग्रहका ब्राह्मणोंमें या समाजमें वितरण कराना यह 'तत्त्वमसि' ( हे यजमान; तू वही ईश्वर-समान है ) का अर्थ है। इसी प्रकार 'अहं ब्रह्मास्मि'में जीवमें ईश्वरत्वका संस्कार विशेष है।

'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वेदान्त-वाक्योंको संस्कार मानोगे तो क्रियामें प्रवृत्ति होगी। लय मानोगे ( संवर्ग रूप ) तो समाधिमें प्रवृत्ति होगी। जीवको ब्रह्ममें मिलना मानोगे तो ऐश्वर्यकी अनुभूति होगी। और जीवत्वका तिरस्कार करके ब्रह्म-भावना करोगे तो जीवन-मुक्तिका सुख मिलेगा। यह सब बातें ठीक हैं। परन्तु भगवान् शंकराचार्यजीका कहना है कि ये चारों उपासनाएँ हैं, इनमें-से कोई ब्रह्म ज्ञान नहीं है।

जहाँ ब्रह्मज्ञानके अनन्तर बुद्धिमें, मनमें, या क्रियामें कुछ करनेको बाकी रह जाता है वहाँ तुम्हारा कर्तापन जिन्दा है, वहाँ तुम्हारा परिच्छिन्नत्व जिन्दा है, तुम्हारा भोक्तापन, संसारीपना जिन्दा है। यह ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञान नहीं है। अतः ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञान न सम्पद्रूप उपासना है, न अध्यासरूप उपासना है, न संवर्गरूप उपासना है और न संस्काररूप उपासना है। इसमें अब आगे और हेतु देते हैं। ●

( ४.२३ )

## उत्तर पक्ष-७ ( वितत )

## २. ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञान कोई उपासना नहीं है

**मूलभाष्य :**

**सम्पदादिरूपे हि ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेऽभ्युपगम्यमाने तत्त्वमसि ( छां० ६.८.७ ) अहं ब्रह्मास्मि ( बृहदा० १.४.१० ) अयमात्मा ब्रह्म ( बृहदा० २.५.१९ ) इत्येवमादीनां वाक्यानां ब्रह्मात्मैकत्ववस्तु-प्रतिपादनपरः पदसमन्वयः पीड्येत। भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ( मुण्डक० २.२.८ ) इति चैवमादीन्यविद्यानिवृत्तफल श्रवणान्युपरुध्येरन्। ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति ( मुंडक० ३.२.९ ) इति चैवमादीनि तद्भावापत्तिवचनानि सम्पदादिपक्षे न सामञ्जस्येनो-पपद्येरन्। तस्मान्न सम्पदादिरूपं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानम्। ( क्रमशः )**

**भाष्यार्थ** :—क्योंकि ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानको सम्पदादिरूप उपासना माननेपर 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिवाक्योंका ब्रह्मात्मैकत्ववस्तुप्रतिपादनपरक पदसमन्वय बाधित हो जायेगा। 'ब्रह्मको जान लेनेपर हृदयग्रन्थिका भेदन हो जाता है और सब संशयोंका छेदन हो जाता है' इत्यादि अविद्या-निवृत्तिरूप फलके बोधक श्रुतिवाक्य बाधित हो जायेंगे। और 'ब्रह्मको जानकर ब्रह्म ही हो जाता है' इत्यादि ब्रह्मभावापत्तिवाले श्रुतिवाक्योंका सम्पदादि पक्षमें सामञ्जस्य उत्पन्न नहीं होगा। इसलिए ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञान सम्पदादिरूप नहीं है।

## १. पदसमन्वय

वेदान्त अर्थ और कामका अत्यन्त विरोधी नहीं है। जो लोग उपनिषदोंका स्वाध्याय नहीं करते और सिर्फ प्रकरण-ग्रन्थ ही पढ़ लेते हैं, वे लोग वेदान्तका ऐसा वर्णन करते हैं जैसे वह व्यवहारका अत्यन्त विरोधी हो। कौषीतकी उपनिषद्में जिज्ञासु एक महात्माके पास जाता है और उनसे ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानकी याचना करता है। महात्मा पूछते हैं कि तुम्हारे अन्दर परिच्छिन्न वस्तुके संग्रह और भोगकी वासना तो नहीं है? जिज्ञासु कहता है: 'वासना तो है, भोगकी भी और उसकी प्राप्तिके लिए कर्मकी भी। सुना है एकत्वसे मुक्ति होती है तो मुक्तिकी भी तो वासना ही है!'

महात्मा बोले: 'बेटा, ऐसे काम नहीं चलेगा। आओ तुम्हारी वासना पहिले पूरी करा दें। तुम्हें जो संसारमें चाहिए वह देवताकी उपासनासे मिल जायेगा।'

असलमें मनुष्य अपनी मान्यतामें ही फँस गया है। वह स्वयं अपनी बुद्धिके द्वारा ऐसे जाल बुन लेता है कि वह कहता है कि 'इसको छोड़ नहीं सकता, इसके बिना जी नहीं सकता। ईश्वरको

छोड़ दूँगा, मुक्तिको छोड़ दूँगा परन्तु इस बाह्यवस्तुको मैं छोड़नेको तैयार नहीं हूँ।'

तो महात्माने कहा कि देवताकी उपासना करो। अपने शरीरकी ओर देखा आपने? आपके शरीरमें तैंतीस हजार देवता निवास करते हैं। कोई-कोई कहते हैं कि तैंतीस करोड़ देवता हैं और वे आपके शरीरके रोम-रोममें निवास करते हैं। जरा अपने शरीरकी पवित्रताका ध्यान करो। अपने देवत्वका ध्यान करो। तुम देखोगे कि सारी सृष्टि तुम्हारी सेवा करनेके लिए अर्थके रूपमें उपस्थित होगी तुम्हारे भोगके रूपमें उपस्थित होगी। उसके लिए तुम्हें कोई बहिरंग कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं होगी। अपने आप ही सब तुम्हारे पास उपस्थित हो जायेगा।

छान्दोग्य उपनिषद्में पञ्चाग्नि विद्या है ( अध्याय पांचमें ), वह भोग-विद्या है। बृहदारण्यक उपनिषद्में मन्त्र कर्म है ( ६.३ ) और उपासना तो सभी उपनिषदोंमें हैं। यहाँतक कि ईशावास्य उपनिषद्में भी जिसमें कुल अट्ठारह मन्त्र हैं केवल आठ-नौ मन्त्र तत्त्वज्ञानके हैं. शेष सब उपासनाके हैं। तो मनुष्यके व्यक्तिगत जीवनका तिरस्कार वेदान्तमें नहीं है, उसका बहुत आदर करके वेदान्तका निरूपण करते हैं।

धर्मसे चरित्रको शुद्ध करना और देहातिरिक्त आत्मामें दृढ़ता लाना। उपासना करके अपने मनमें बैकुण्ठका निर्माण करनेका भी सामर्थ्य है, यह अनुभव करना।

योगसे सबका उपसंहार करके, प्रलय करके बैठके देख लो। सर्वात्मा होकर देख लो कि सब मैं ही हूँ। अपने सामर्थ्यका दिग्दर्शन है उपासना। परन्तु ये चारों बातें : १. धर्म, धर्मके द्वारा प्राप्तव्य फल और धर्मका कर्ता; २. उपासना, उपासनाका फल और उपासनाका कर्ता; ३. योग, योगका फल और योगका कर्ता; तथा

४. सर्वात्मभाव, सर्व और आत्मा, परमार्थ नहीं है। ब्रह्मात्मैकत्व-विज्ञान कोई भाव नहीं है, बोध है। जैसे किसी अज्ञानीको बताया जाता है कि 'यह घड़ी है' तो इसमें न तो कोई घड़ीका ध्यान करना है, न घड़ीकी रचना करनी है और न घड़ीको तोड़ना-फोड़ना है, क्योंकि घड़ी प्रमाण-सिद्ध है। घड़ीको घड़ी पहिचानना है बस।

वेदान्त आत्माको ब्रह्म बनानेका विधान नहीं करता, 'आत्मा ब्रह्म है' ऐसी उपासना या ध्यान नहीं किया जाता, अथवा ऐसी समाधि नहीं लगायी जाती, 'आत्मा ब्रह्म है' इस वृत्तिको दोहरानेकी बात नहीं करता वेदान्त, अथवा 'आत्मा सब है' इस ख्यालको पकड़ना नहीं बताता। यह तो सिर्फ यह बताता है कि 'आत्मा अद्वितीय तत्त्व है और जो कुछ धर्माधर्मके फलस्वरूप, उपासना-अपासनाके फलस्वरूप, योग-वियोगके फलस्वरूप, सर्वात्मा-अनात्माके रूपमें; जो कुछ भास रहा है वह अपने सिवाय और कुछ नहीं है।' अपने ब्रह्मबोधका स्वरूप ऐसा है। इसमें मण्डूक भी ब्रह्म है, श्वेताश्वतर भी ब्रह्म है, तित्तिरि भी ब्रह्म है और वराह, नृसिंह भी ब्रह्म है। सबका जो तत्त्वतः आत्मा है सो ब्रह्म है।

वेदान्त विज्ञान है : वस्तुको ज्यों-का-त्यों पहिचाननेका विज्ञान। और इसका फल है कि न पहिचाननेसे जो अनर्थ-सा हो रहा था, बन्ध-सा हो रहा था, उसकी निवृत्ति-सी, मुक्ति-सी। उपनिषद्का वचन है कि जहाँ द्वैष-सा होता है वहाँ द्रष्टा नेत्रसे रूपको देखता है, श्रोता कानसे शब्दको सुनता है, इत्यादि; परन्तु जहाँ सब कुछ अपना आत्मा ही हो गया है वहाँ कौन किसको किससे देखे, कौन किसको किससे सुने ? इत्यादि।[1]

---

१. यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति, तदितर इतरं पश्यति, तदितर इतरं शृणोति, तदितर इतरमभिवदति, तदितर इतरं

जो लोग नौकरी, व्यापारके लिए विद्या-अध्ययन करते हैं वे विद्याके महत्त्वको ठीक नहीं समझते हैं।

**ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।**

यदि एक व्यक्ति निष्कामभावसे शास्त्रका अध्ययन करता है तो हम प्रत्येक शास्त्रकी नोकपर उसको ब्रह्म दिखा सकते हैं। प्रयोजन ही बदल गया न! प्रयोजनवत् शास्त्र हैं: शब्दाद्वैत समझानेके लिए व्याकरण है, मिथ्याज्ञानकी निवृत्तिके लिए न्याय है, द्रष्टा-दृश्य विवेकके लिए सांख्य है, धर्मफलके ज्ञानके लिए मीमांसा है, आत्माके ब्रह्मत्व-बोधके लिए वेदान्त है।

ब्रह्मात्मैकत्व-विज्ञानका फल है स्वरूपकी अद्वितीयताका बोध। जब हम अपने स्वरूपको अद्वितीय जानते हैं तो अच्छा समझनेसे जो राग होता था, बुरा करके जो द्वेष होता था, अहं करके जो अस्मिता होती थी, अविद्या करके जो अहंकार होता था और जो मृत्युका भय होता था, इन सब अनर्थों और क्लेशोंकी निवृत्ति हो जाती है।

ब्रह्मात्मैकत्व-विज्ञानमें न तो ब्रह्मको जीवमें मिलाना है और न जीवको ब्रह्ममें मिलाना है; न इसमें सृष्टिकी उत्पत्ति और संहारकी क्रियाके साथ योग है जैसे कि यह भाव या चिन्तनकी सारी सृष्टि मुझसे ही निकल रही है और मुझमें ही लीन हो रही है; और न यह तन्मय संस्काररूप है अथवा न इसमें घीको देखकर संस्कारित करनेकी क्रिया जैसी ही कोई बात है। यह शालिग्राममें नारायण-बुद्धिकी तरह प्रतीकोपासना भी नहीं है। यहाँ तो बस आत्मा जैसा है उसे वैसा ही जाननामात्र है। आत्मा देश, काल,

---

मनुते, तदितर इतरं विजानाति। यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्, तत्केन कं शृणुयात्, तत्केन कमभिवदेत्, तत्केन कं मन्वीत, तत्केन कं विजानीयात् ( बृहदारण्यक २.४.१४ ) ?

वस्तुके परिच्छेदसे रहित उनके अत्यन्ताभावके अधिष्ठानसे उपलक्षित स्वयंप्रकाश ब्रह्म है। बस; यही प्रमाणवृत्ति द्वारा जानना है।

यह जो मैं-मैं बोलते हो, जिसको आधार बनाकर सारा व्यवहार करते हो, वह न देहमें कल्पित ब्राह्मण या मनुष्य या स्त्री या पुरुष या संन्यासी है और न मन-बुद्धिमें कल्पित सम्बन्धी, प्रमाता अथवा जीव है। आश्चर्य होता है कि जातिका अभिमान कोई व्यक्ति कैसे कर सकता है? ब्राह्मणत्व जाति है गोत्वके समान। हजारों ब्राह्मण हुए, हैं और मर जायेंगे। समग्र जातिका अभिमान व्यक्ति सिवाय कल्पनाके कैसे कर सकता है? शरीरोंकी हड्डी-हड्डी अलग, नस-नाड़ी अलग, इनमें तुम एक कहाँसे आये? रक्तमें कितने कण हैं, एक-एक कणमें असंख्य कीटाणुओंकी समष्टिको जो तुमने अपने आपमें जोड़ रखा है वह कोई विचार करके जोड़ रखा है? यह सब अविचार पूर्वक हो है, देह-देहके सम्बन्धी और उनमें मैं-मेरापना। यह पाँचभूतोंसे बना शरीर, इसमें एक क्या है? यदि कहो आकाश तो आकाश तो मनसे जाना जाता है। तब मन मैं है क्या? नहीं, मन तो हजार-हजार होता है, वह सुषुप्तिमें सो भी जाता है। तब क्या सुषुप्ति एक मैं है? नहीं, सुषुप्ति तो आती जाती है। तब तुम आखिर हो कौन? इतनी-सी मामूली बात और इसके बारेमें अज्ञान, बड़ा आश्चर्य है! इसी 'मैं'को वेदान्त ब्रह्म बताता है।

यदि यह बात मान ली जाय कि वेदान्तके द्वारा आत्माको ब्रह्मरूप जानना सम्पदादिरूप किसी उपासनाके लिए है तो ये जो वेदान्तके वचन हैं कि : **तत्त्वमसि** = वह तू है; **अहं ब्रह्मास्मि** = मैं ब्रह्म हूँ; **अयमात्मा ब्रह्म** = यह आत्मा ब्रह्म है; इत्यादि उनमें पदसमन्वयको पीड़ा होगी : **पदसमन्वयः पीडयेत**।

जिसके लिए जो होता है वही मुख्य होता है। यदि 'क'के

लिए 'ख' है तो मुख्यता 'क'की होगी। इसी प्रकार यदि 'आत्मा ब्रह्म है' यह ज्ञान किसी उपासनाके लिए हो तो वह उपासना ही मुख्य हो जायेगी, वह ध्यान ही मुख्य हो जायेगा वह कर्म ही मुख्य हो जायेगा, वह संस्कार ही मुख्य हो जायेगा ! अरे भाई, सब कुछ आत्माके लिए ही होता है, आत्मा किसीके लिए नहीं होता। तब कर्म, उपासना ध्यान सब आत्माके लिए होना चाहिए न कि आत्मा इन सबके लिए।

वेदान्त बताता है 'तत्त्वमसि' = वह तू है; इस तथ्यका संहार मत करो। श्रुति क्यों ऐसा बोलती कि 'वह' ब्रह्म 'तू' जीव है, यदि वस्तुतः ब्रह्म और जीव दो वस्तुएँ होतीं ? 'तत्'-पद और 'त्वं'-पदका ऐक्य समन्वय कैसे शक्य है ?

एक चीजको दूसरी चीज बोलना तभी शक्य हो सकता है जब कि वस्तुतः वे वस्तुएँ एक हों और अज्ञानसे, भ्रमसे, एकमें ही दोकी कल्पना हो रही हो। सब भ्रमस्थलोंमें ऐसा ही होता है जैसे रस्सीमें साँपको देखकर कहते हैं : 'अयं सर्पः' और शुक्तिकामें चाँदी देखकर कहते हैं : 'इदं रजतम्।'

'इदं रजतम्'में जो इदमांश है वह शुक्तिका है और 'रजतम्' अंश चाँदीका है। 'इदम्'का प्रयोग सामान्य सत्ताके लिए है और उसको 'रजतम्' विशेषरूपसे कहा गया है। इसलिए यहाँ जो इदम् है वह रजतम् हो गया और जो रजतम् है वह इदं हो गया। यह अध्यास हो गया। यहाँ सीपीका अज्ञान होनेसे सीपीको ही चाँदी कहा गया है। अतस्मिंस्तद्बुद्धिः।

तो क्या इसी प्रकार तत्त्वमसिमें भी अध्यासका निरूपण है ? क्योंकि यहाँ 'त्वम्' अपनी' अपरोक्ष सामान्य सत्ताका वाचक है और 'तत्' परोक्ष विशेष सत्ताका वाचक है ? नहीं, तत्त्वमसिमें अध्यास नहीं है, अपितु अपनी विशेष सत्ताके बोध न

होनेसे जो आविद्यक अनर्थोत्पत्ति है उसकी यथार्थ बोधपूर्वक निवृत्ति है।

पद समन्वयका एक दूसरा ढंग होता है : समानाधिकरण्यका। यह क्या है ? एक विभक्तिके दो पदोंको बोलकर दो पदार्थोंको एक बतानेकी शैली। 'इदं रजतम्' जब बोला तो यह अध्यास हो गया। परन्तु यदि कोई कहे : **अयं सर्पो रज्जुः**=यह साँप रस्सी है; तो वैसे तो साँप रस्सी नहीं हो सकता और रस्सी साँप नहीं हो सकती, परन्तु कहनेवालेका तात्पर्य यह है कि जहाँ ( रज्जु-प्रदेशमें ) तुम्हें साँप दीख रहा है वहाँ साँप बाधित है, मिथ्या है, और रस्सी सत्य है। मिथ्या जो होता है वह सत्यसे भिन्न नहीं होता। इसको बाधसामानाधिकरण्य बोलते हैं। **पुरुषः स्थाणु** में पुरुष मिथ्या है स्थाणु सत्य है।

पद समन्वयकी तीसरी रीति है विशेषण-विशेष्य भावकी। **जैसे नीलम् उत्पलम्।** एक कमल नामकी चीज है और उसका रंग नीला है। नीला कमलका विशेषण है और कमल विशेष्य है। 'नीलम्' और 'कमलम्' दोनों एक ही विभक्तिके पद हैं। अतः नीलम् उत्पलम्में विशेषविशेष्यभावरूप सामानाधिकरण्य है। कमल तो लाल भी होता है और नीला भी। जहाँ-जहाँ कमल है वहाँ-वहाँ नीलत्व भी है, ऐसा तो नहीं है। परन्तु नीले रंगका एक कमल बोधित करानेके लिए नीलम् उत्पलम् कहा गया है। नीलता और कमलमें एकत्व आया विशेषणविशेष्यभाव से।

पदसमन्वयकी चौथी रीति है मुख्यसामानाधिकरण्यकी। **सोऽयं देवदत्तः**=यह वही देवदत्त है। यहाँ वर्तमानमें दिख रहे किसी व्यक्तिकी भूतमें देखे गये उसी व्यक्तिके साथ एकता बतायी जा रही है। इस प्रकारकी शैली न तो अध्यास-शैली है क्योंकि व्यक्ति एक ही है, और न बाध-शैली है क्योंकि इसमें एक मिथ्या,

एक सत्य ऐसा नहीं है। एक आदमी दूसरे आदमीका विशेषण-विशेष्य शैली भी नहीं है।

सोऽयं देवदत्तःमें अयम् प्रत्यक्ष खड़े मनुष्यके लिए है और स देवदत्तः = परोक्ष व्यक्तिके लिए है। ऐसा क्यों? तो यह भागत्याग-लक्षणाके द्वारा हुआ। इस मनुष्यके देश-काल और उस देवदत्त नामक मनुष्यके देश-कालमें जो भिन्नता है उसका त्याग करके व्यक्तित्व अंशमें जो एकता है उस एकताको समझानेके लिए 'सोऽयं देवदत्तः' प्रयोग है। इसमें मुख्य सामानाधिकरण्य है।

तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, अयमात्मा ब्रह्म, प्रज्ञानं ब्रह्म—इन सबमें मुख्य सामानाधिकरण्य शैलीसे पदसमन्वय है। चारोंका अर्थ-तात्पर्य है कि आत्मा ब्रह्म है।

यदि 'आत्मा ब्रह्म है' उपनिषद्की इस एकत्व-शैलीमें अध्यास मानो तो उपनिषद्की प्रामाणिकतापर ही पर्दा पड़ गया। यदि बाधसामानाधिकरण्य मानो तो आत्मा और ब्रह्ममें कौन मिथ्या होगा? आत्मा कभी बाधित होता नहीं, इसलिए ब्रह्म ही मिथ्या होगा। यह भी उपनिषद्को काटना ही हुआ! यदि विशेषण-विशेष्यभाव मानो तो आत्मा ऐसा होना चाहिए जो ब्रह्मसे जुदा भी रह सकता हो। परन्तु आत्मासे जुदा ब्रह्म कल्पित हो जायेगा और ब्रह्मसे जुदा आत्मा परिच्छिन्न ज्ञात होना चाहिए लेकिन साक्षी न कभी दृश्य हो सकता है और न परिच्छिन्न हो सकता है। अतः महावाक्योंमें जो एकत्व-शैली है वह मुख्य सामानाधिकरण्यकी है।

•

आत्माके साथ जो उपाधि लगी है, उसका तो करना है अपवाद और ब्रह्मके साथ जो उपाधिकी कल्पना हो रही है, उसका करना है अपवाद; और स्वरूप अंशमें दोनों एक हैं—यह बोध कराना महावाक्योंका इष्ट है।

आत्मा किसको कहते हो? भूतात्माको या आभासात्माको या शुद्धात्माको? यदि भूतात्मा (शरीराभिमानी) या आभासात्मा (अन्त:करणमें चेतनके आभास) को आत्मा (त्वं-पदार्थ) कहते हो तब तो तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि आदि महावाक्योंमें बाधसामानाधिकरण्यकी शैलीसे आत्मा और ब्रह्मकी एकता समझनी पड़ेगी क्योंकि तब शरीर या अन्तःकरणकी उपाधिको मिथ्या समझना पड़ेगा और इनके प्रकाशक अधिष्ठान चेतनको सत्य समझना पड़ेगा। 'यह पुरुष नहीं स्थाणु है' जैसे यह है वैसे ही 'यह तुम्हारा आत्मा परिच्छिन्न भूतात्मा या आभासात्मा नहीं, ब्रह्म है' यह कथन होगा। और यदि शुद्धात्माको आत्मा कहते हो उसका ब्रह्मसे मुख्य सामानाधिकरण्यकी शैलीसे एकता है। 'सोऽयं देवदत्तः'—इसमें उपाधिका अपवाद पहिले ही कर लिया गया है और दृष्टिमें शुद्ध चेतन है। जैसे घटोपाधिका अपवाद करके आकाश-दृष्टिसे घटाकाश और महाकाशकी एकता है अथवा जैसे आकृतिका अपवाद करके स्वर्णदृष्टिसे कुण्डल और स्वर्णकी एकता है, उसी प्रकार आत्मा और ब्रह्मकी एकता है।

'तत्' और 'त्वम्' दोनोंमें जो अज्ञानमूलक उपाधिकी कल्पना हो रही है उस कल्पितका तिरस्कार करके अकल्पित स्वरूपमें एकताका बोधन करा रहा है यह 'तत्त्वमसि' महावाक्य!

'अहं ब्रह्मास्मि'में 'अहम्' और 'ब्रह्म' पदोंका समन्वय; 'अयमात्मा ब्रह्म'में 'आत्मा' और 'ब्रह्म' पदोंका समन्वय; 'प्रज्ञानं ब्रह्म'में 'प्रज्ञान' और 'ब्रह्म' पदोंका समन्वय इसी मुख्यसामानाधिकरण्य शैलीसे निरूपित है।

यदि ब्रह्मात्मैकत्व-विज्ञानको सम्पदादिरूप उपासनाका अंग मान लिया जायेगा तो उक्त पदसमन्वयको पीड़ा पहुँचेगी, वह समन्वय बाधित हो जायेगा।

यह ब्रह्मात्मैकत्व बतानेवाला विज्ञान है, सच्ची चीजको बतानेवाला विज्ञान है, यह किसी कर्म या उपासनाका अंग नहीं है।

**वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।**

'मिट्टीके जितने विकार हैं (घट, सकोरा आदि) वे तो सब वाग्विलास हैं, नाम मात्र हैं, केवल मृत्तिका ही सत्य है।'

यहाँ हमारे आचार्योंने प्रश्न उठाया कि मिथ्याके दृष्टान्तोंमें सब जगह स्वप्नवत् या रज्जुसर्पवत् बोलते हो, यहाँ घट-मृत्तिकावत् क्यों बोलते हो? तो कहा कि कोई फर्क नहीं है, भले 'स्वप्नवत्' या 'रज्जुसर्पवत्'में मिथ्यात्वका बोध अधिक होता हो। जैसे स्वप्नके पदार्थ स्वप्नमें व्यवहार्य हैं, रज्जुमें प्रतीत होता हुआ सर्प भी व्यवहार्य है क्योंकि भय कम्पनका जनक है, वैसे ही मिट्टीमें बनी आकृति 'घट' भी जल रखनेके काममें आनेके कारण व्यवहार्य है। अतः तीनों दृष्टान्तोंमें व्यावहारिकता समान है। जबतक अज्ञान है तबतक तीनों व्यावहारिक हैं और जब अधिष्ठानत्वेन बोध हुआ तब तीनों निष्प्रयोजन हैं, केवल आधार ही सच्चा है। सकामके लिए सप्रयोजन है, निष्कामके लिए निष्प्रयोजन है।

लौटा दो हमारी मिट्टी और रख लो अपना घड़ा। घड़ा रहेगा तुम्हारे पास? मिट्टीसे अलग घड़ेका कोई स्थान, कोई काल, कोई वजन बता सकते हो? असलमें घट मृत्तिकास्वरूप ही है। केवल घट देखोगे तो उसे मृत्तिकास्वरूप देखकर व्यवहार करो और यदि केवल मृत्तिका देखोगे तो घट बाधित हो जायेगा।

इसी प्रकार व्यवहारके लिए प्रपञ्चका ज्ञान आवश्यक है और राग, द्वेष, अहंकार आदिसे रहित परमार्थ-बोधके लिए परमार्थ-सत्ताके ज्ञानकी आवश्यकता है।

'असि' पद कहता है कि 'तत्' और 'त्वम्' दोनों एक हैं। 'तत् त्वम् अस्ति', यह क्यों नहीं कहा, 'तत् त्वम् असि' क्यों कहा ? क्योंकि 'त्वम्' तो सामने है, अपरोक्ष अपना आपा और तत्में परोक्ष कल्पना हो रही है। असि ( हो ) कहकर वह परोक्षता मिटायी जा रही है। 'त्वम्'के लिए 'असि' है। तुम ही वह हो। तुम अपनेको जानते नहीं; इसलिए अपनेको ब्रह्मसे जुदा समझते हो, यदि अपनेको जान लो तो तुम वह ही हो। यह 'तत्त्वमसि'का अर्थ है।

छांदोग्य उपनिषद्में सद्विद्याके उपसंहारमें है यह तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो। वही सत् जिसका 'एकमेवाद्वितीयम्'से वर्णन किया गया वही तुम हो यह इसका तात्पर्य है।

यदि वेदान्त तुम्हें कर्ता बताता तब तो ब्रह्मात्मैकत्व-विज्ञान कर्मका अंग होता; यदि वह तुम्हें ध्याता बताता तो उक्त विज्ञान ध्यानका अंग बनता। यह तो तुमको अमना बताता है, ईश्वर बताता है, महात्यागी; महाभोक्ता बताता है, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त बताता है तब यह कर्म या उपासनाका अंग कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता है।

## २. 'तत्त्वमसि'

यदि वाक्यका शब्दार्थ साफ हो तो उसका दूसरा अर्थ क्यों लगाया जाय ? हाँ यदि उस बातका प्रकरण न हो तो उस बातका अभिप्राय दूसरा हो सकता है। 'तत्त्वमसि' अर्थात् तुम वही हो इसका अर्थ साफ यही लगता है कि तुम वही एकमेव अद्वितीय सत् हो, वही शुद्ध चेतन हो ( जिसका प्रकरण सद्विद्यामें चल रहा ) है। यह इतना स्पष्ट अर्थ है कि कोई दूसरा अर्थ करनेकी जरूरत ही नहीं है। यह कथन कर्मके लिए है या

उपासनाके लिए है या ध्यानके लिए है, ये सब अनावश्यक एवं निष्प्रयोजन गल्प हैं।

'यह रस्सी है' इस वाक्यका अर्थ जैसे रस्सीमें विकल्पित सर्प आदिकी भ्रान्तिको दूर करना है वैसे ही 'वह तुम हो' यह वाक्य अपनी आत्माके बारेमें भ्रान्तिको दूर करके आत्माके यथार्थ-स्वरूपको जनानेवाला है। इसमें ध्यान, अभ्यास, संस्कार आदि माननेकी कोई गुंजायश नहीं है।

इतना सुनना-सुनाना इसलिए है कि विचार नहीं किया हुआ है। यदि विचार कर लेते तो इतना सुनना ही काफी था कि जो तू अपनेको भूलसे परिच्छिन्न, कर्ता-भोक्ता, सुखी, दुःखी, संसारी, अल्पज्ञ मान रहा था और जो तूने अपनी मुक्तिको उठाकर सातवें आसमानपर फेंक दिया है कि अमुक साधन करेंगे तो मुक्त हो जायेंगे, यह सब भूल है, अज्ञान है, अविद्या है, तू तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म है। इसी बातको समझानेके लिए 'तत्त्वमसि' बोला गया।

सन्त दादूदयालसे किसीने कहा : दादा, बुढ़िया तुमको गाली दे रही है। दादूदयालने कहा : दुनियामें न जाने कितने दादू होंगे, किसीको दे रही होगी गाली। हमको दे रही है यह माननेकी क्या जरूरत ?

दुनियामें सारे दुःख बेवकूफीसे होते हैं, क्योंकि इधर सत्, चित् और आनन्द एक हैं तो उधर मृत्यु, मूर्खता और दुःख एक हैं। 'तत्त्वमसि'से यह बेवकूफी खतम होकरके अपनी अद्वयता, अनन्त चित्ता, अनन्त सत्ता, अनन्त आनन्दका बोध हो जाता है।

'तत्' माने 'सत्'। यत्तत् तत्सत् यत्सत् तत्तत्। श्रुति कहती है कि जो 'तत्' है वही 'सत्' है, जो 'सत्' है वही 'तत्' (ब्रह्म) है। 'तद्' सर्वनाम होनेपर भी इसकी व्युत्पत्ति होती है : तनोति

निखिलं जगत् इति तत् = जो सारी दुनियाका ताना-बाना है वह 'तत्' है।

रोशनीमें उड़ते हुए धूलिकण आपने देखे हैं? इसमें तीन चीजें हैं: रोशनी, आकाश और धूलिकण। इनके देखनेवाले 'तुम' चौथे हो। सोचो, अनन्त आकाशमें ये घूमते हुए अनन्त ब्रह्माण्ड सूर्यके प्रकाशमें ऐसे ही तुम देख रहे हो! तुम्हारी निर्विशेषतारूप सन्मात्रके अनन्त आकाशमें तुम्हारी उपस्थितिरूप रोशनीमें ये परिच्छिन्न पदार्थ तुम ही देख रहे हो! जरा विचार करो।

जिसने यह माना कि कण हैं और दिखते हैं तथा कणोंसे ही रोशनी जाहिर हुई है वे चार्वाक हो गये।

सब (कण) एक रोशनीने ही बनाये हैं ये ईश्वरवादी हो गये।

कण हैं ही नहीं, सिर्फ एक शून्य अधिष्ठान ही है, यह बौद्धोंका विचार है। इनके मत में कणोंसे ही बना आत्मा भी नहीं है।

जिस निर्विशेष अनन्ताकाशको तुम कणोंके अधिष्ठानके रूपमें देख रहे हो और जिस रोशनीमें तुम कणोंको देख रहे हो वह सर्वाधिष्ठान सर्वप्रकाशक-प्रकाशक तुम आत्मा हो और ये कण तुम्हारी ही अन्यथा प्रतीति है, यह वेदान्तका विचार है: 'तत्त्वमसि'।

कण, कणसमूह, कणगत देश-काल-द्रव्य और उनके नियन्ताको जाननेवाला आत्मचैतन्य ही है। जो सबका अधिष्ठान है वही स्वयंप्रकाश-प्रकाशक आत्मा है, वही तू है: 'तत्त्वमसि'।

छान्दोग्यकी सद्विद्याका उपक्रम 'एकमेवाद्वितीयम्'से हुआ और उपसंहार 'तत्त्वमसि'से हुआ! इसका अर्थ है कि आत्मा नामकी कोई दूसरी चीज नहीं है: जो सृष्टिसे पहिले था, बादमें रहेगा और जिसमें सृष्टि-प्रलय मध्यवर्ती हैं वही आत्मा है।

जो अनादि-अनन्त होता है उसका मध्य नहीं होता। प्रत्येक वर्तमान बिन्दु मध्यबिन्दु है। अब सत्य वह है जिस का आदि-अन्त नहीं, तब आधि-मध्य-अन्तवाली सृष्टि उसमें अलगसे कहाँ होगी? 'एतदात्म्यमिदं सर्वम्' यह सब अपना आत्मा ही है।

वासनाके कारण हमारी नजर दूसरोंपर पड़ती है, वर्ना दूसरी चीज कहीं नहीं है। बौद्धोंका कहना है कि चीजें नहीं होतीं, अपनी वासनाएँ ही चीजोंके रूपमें मालूम पड़ती हैं। हमको अपनी वासनाओंके रूपका ही साक्षात्कार होता है। इस सिद्धान्तमें अधिष्ठान और आत्मा और जोड़ दो तो वेदान्तसिद्धान्त हो जायेगा। 'वासनाओंके दौरका अधिष्ठान और प्रकाशक मैं हूँ' यह बात जहाँ ज्ञात हुई वहीं सारा झगड़ा खतम। वासनाके कारण हम समझते हैं कि दूसरे कालमें, दूसरे देशमें, ये आकृतियाँ सच्ची हैं और हमसे जुदा हैं और उनके अभावमें हम दुःखी हैं।

विना विचारे चाहे कुछ मान बैठो यह दूसरी बात है। कब तुमने चेतनको परिच्छिन्न देखा है? यदि कोई कहे कि देखा है तो या तो वह पागल है या मूर्ख है। जो दीखता है वह चेतन नहीं होता। परिच्छिन्नको देखनेवाला चेतन परिच्छिन्नसे न्यारा है, वह परिच्छिन्न नहीं है। जो अपरिच्छिन्न है उसीसे परिच्छिन्न दिखता है। इसलिए परिच्छिन्न मिथ्या है, स्वप्नवत् प्रतीति है, अपने स्वरूपमें वह कोई चीज नहीं है।

'त्वम्' को 'तत्' बताना मोहनको सोहन बताने जैसा नहीं है। दरअसल 'त्वम्'में परिच्छिन्नता नहीं है यह बतानेके लिए तथा आस्तिक वेदान्तीको जो चेतन ईश्वर ( तत् )में परोक्षता मालूम पड़ती है उसे हटानेके लिए 'तत्त्वमसि' कहा गया है।

जब तुम 'त्वम्'को भाई, बाप, बेटा, स्त्री-पुरुष मानते हो तो तुम्हारा अहं कहाँ रखा है? देहमें। ये सब नाते-रिश्ते देहके हैं।

जब तुम जन्म-मरणसे दुःखी होते हो तो तुम्हारा अहं कहाँ रहता है? देहमें। जन्म-मरण देहका ही होता है। अरे तुम देह नहीं हो, तुम तो सम्पूर्ण देहोंके अधिष्ठान, सम्पूर्ण देहोंके प्रकाशक, नित्य-शुद्ध-मुक्त ब्रह्म हो। 'तत्त्वमसि'। तुम वही हो।

एक बार 'तत्त्वमसि' सुनो और मुक्त! क्या करिश्मा है वेदान्तका! यदि एक बार समझमें न आवे तो श्रुति अनेक उदाहरणोंसे कई बार भी 'तत्त्वमसि' समझानेको तैयार है। सद्विद्यामें श्वेतकेतुके पिताने श्वेतकेतुको नौ बार तत्त्वमसिका उपदेश किया है और हर बार एक अलग दृष्टान्तसे समझाया है। समझनेके लिए आवृत्ति है, परन्तु आवृत्तिके लिए आवृत्ति नहीं है।

इस सद्विद्याकी अपूर्वता यह है कि इसमें अन्य प्रमाणसे न जाने जानेवाली ब्रह्मात्मैक्यका वर्णन है। ब्रह्मात्मैक्य ब्रह्मको आँख नाक-कानसे देखकर या इनके आधारपर किसी अनुमानसे या किसी मन्त्र या समझकी आवृत्तिसे या अन्तःकरणको निरुद्ध करनेसे अनुभव नहीं हो सकता। वह तो केवल श्रुत्यैकगम्य है।

आपको खुली बात सुनावें। कनखलमें एक महात्मा थे, भागवतानन्दजी महाराज। वे कहते थे कि साम्प्रदायिक लोग इसलिए ब्रह्मविद्याका सच्चा उपदेश नहीं करते क्योंकि वे चाहते हैं कि उनके सेवक जिन्दगीभर उनके सेवक बने रहें और उनको भेंट-पूजा देते रहें। लेकिन हमारे जो शांकर सम्प्रदायके महात्मा हैं वे तो महाराज एक झटकेमें ही अविद्या निवृत्त करनेकी बात करते हैं:

**मेरे सद्गुरु मारचो तीर उतर गयो पार**

यह ब्रह्मज्ञान न तो किसी व्यवहारका विरोधी है और न किसी धर्म, उपासना या योगका अंग है।

कोई सज्जन वेदान्त-ज्ञानके लिए महात्माके पास गये। महात्माने कहा : 'तत्त्वमसि'। वह बोला : 'यह तत्त्वमसि तो मैंने कितनी बार पढ़ा है और सुना है। कुछ और बताओ।' महात्माने कहा : 'कहीं और जाओ।'

दूसरे महात्माके पास गया। उन्होंने कहा : 'पहले बारह वर्ष बर्तन माँजो तब बतायेंगे।' बारह साल बाद कहा : 'अब बारह साल कण्डे पाथो।' गरज कि बहुत समय बीत गया। तब पूछा अब बताओ वेदान्त? महात्माने कहा : 'तत्त्वमसि'। वह बोला: 'अरे यह तो पहले ही बता दिया था।' महात्माने कहा : 'पाप किया था, उसके लिए उपले पाथना जरूरी था।'

कृतज्ञता ज्ञापनकी बात दूसरी है, परन्तु सेवा करानेके लिए लगाये रखना यह दूसरी चीज है।

यदि 'त्वम्' और 'तत्'का अर्थ समझता है तो 'तत्त्वमसि'के श्रवणमात्रसे ही बोध हो जाता है। यदि वाक्यका सीधा अर्थ सम्भव न हो तभी लक्षणा करनी चाहिए अन्यथा सीधा अर्थ ही करना चाहिए।

## ३. 'अहं ब्रह्मास्मि' तथा 'प्रज्ञानं ब्रह्म'

प्रश्न यह है कि वेद प्रमाण हैं या अनुवाद हैं? माने ये ऋषियोंके अनुभवके अनुवाद हैं या कि ये कोई ऐसी चीज बताते हैं जो किसी दूसरे प्रमाणसे नहीं जानी जा सकती और दूसरे किसी प्रमाणसे बाधित भी नहीं हो सकती?

जो मानते हैं कि पहले अनुभूति हुई और फिर शब्दके माध्यमसे उसका अनुवाद हुआ वे वैदिक सम्प्रदायमें नहीं हैं, जैसे जैन और बौद्ध हैं। हम उनकी अनुभूतिपर किंचित् भी आक्षेप नहीं करते हैं क्योंकि जहाँ वे बैठते हैं वहाँसे वैसा ही दीखता है।

वेद हमको एक ऐसी वस्तुका साक्षात्कार कराते हैं जो सिवाय वेदके और किसी भी प्रक्रियासे नहीं होता है। इसलिए वेद अनुवाद नहीं हैं वे स्वतःप्रमाण हैं। जैसे रूपमें नेत्र प्रमाण है, शब्दमें कान प्रमाण है, वैसे ही अतीन्द्रिय अविषय आत्माकी अद्वितीयताको दिखानेवाला वेद है।

एक वक्ता कह जायेगा : वेद प्रमाण हैं; दूसरा कह जायेगा : वेद प्रमाण नहीं हैं। अब फैसला आपको करना है। और असलमें आपको भी नम्बर ही देना है क्योंकि कोई अनुभव तो करना है नहीं, निष्ठा तो कोई प्राप्त करना है नहीं!

वेद आत्माको ब्रह्मरूपसे अनुभव करानेमें आँख, नाक, कानकी तरह स्वविषयमें प्रमाण हैं।

स्वविषये शूराणि प्रमाणानि भवन्ति।

प्रमाण अपने-अपने विषयमें बहादुर होते हैं। कहो कि (वेदके विषयमें) यह तो आपका आग्रह है, तो आग्रह सकारण है। यदि हम कहते कि 'अहं ब्रह्मास्मि'का जप करनेसे या ॐ-ॐ की तरह उच्चारण करनेसे समाधि लग जाती है तो यह बात बिलकुल अप्रामाणिक होती। क्यों? यह तो चाहे हम 'अहं ब्रह्मास्मि' बोलें या न बोलें, इसमें वृत्तिका कोई प्रयोग नहीं है। यदि 'अहं ब्रह्मास्मि' बोलकर समाधि लगेगी तो वह सम्प्रज्ञात समाधि ही होगी। किसी वाक्यको बोलें भी, जप भी करें, और असम्प्रज्ञात समाधि भी लग जाय, यह नहीं हो सकता। चाहे 'सोऽहं' बोलो या 'रारं' बोलो, चाहे न बोलो, यह सब सम्प्रज्ञातमें ही रहेगा।

१. कोई कहते हैं : अहंको ब्रह्ममें मिला दो और फिर बोलो 'अहं ब्रह्मास्मि।'

अहमल्पज्ञः सर्वज्ञेनैक्यं प्राप्य स्थितोऽस्मि।

'मैं अल्पज्ञ हूँ, पर सर्वज्ञमें एक होकर स्थित हूँ।' यह समाधि श्रीरामानुजाचार्यजीको लगेगी या श्रीमध्वाचार्यजीको लगेगी या श्रीनिम्बार्काचार्यजीको लगेगी। अल्पज्ञ जीव ईश्वरमें मिल गया, अब वहाँ मैं नहीं दीखेगा, ईश्वर ही ईश्वर दीखेगा। यह स्थिति उपासनाकी हो गयी।

**अहं शेष अस्मि ब्रह्म शेषि अस्ति। अहं शेषः शेषेण ऐक्यम् अनुभवामि।**

'मैं शेष हूँ और ब्रह्म शेषी है। मैं शेष-शेषी भावसे ऐक्यका अनुभव करता हूँ" इस प्रकारकी एकताका अनुभव ( सायुज्य मोक्षका वर्णन ) श्रीरामानुज, निम्बार्क सम्प्रदायोंमें हैं।

वृत्तिकी कुर्सी तो वहाँ भी नहीं छूटेगी। समाधिसे उतरो, फिर नीचे आओ। बैकुण्ठमें जाओ, उनमें लीन हो जाओ।

२. कश्मीरी शैव कहते हैं कि ब्रह्मको ही 'अहम्'में मिला लो और फिर बोलो 'अहं ब्रह्मास्मि'।

**यः परोक्षतया ब्रह्म इति श्रूयेत नान्यत् तद् अहमस्मि।**

'जिस ब्रह्मको हम परोक्षतया सुनते हैं वह कोई दूसरा नहीं है, हमारे अहंमें ही समाया हुआ है।'

यदि कहो कि अहम् परिच्छिन्न है तो उसमें महान् ब्रह्म कैसे समायेगा? तो कहा भावसे। असलमें यह ब्रह्मभावापत्ति हो गयी। परन्तु वृत्ति तो यहाँ भी नहीं छूटी। ब्रह्म मुझमें मिल गया, इसमें चित्तवृत्तिकी एक भावना ही है ( जैसे मैं ब्रह्ममें मिल गया यह भावना थी )।

३, योग और जैनोंकी दृष्टिसे 'अहम् ब्रह्मास्मि' एक प्रकारका अभ्यास है और इसका परिपाक सम्प्रज्ञात समाधि है और वह अस्मितालम्बन सम्प्रज्ञात समाधिपर्यन्त है।

४. चार्वाकोंका कहना है कि 'अहम् ब्रह्मास्मि' वेदका एक पवित्र मन्त्र है। इसका अभ्यास करनेसे हमारे देहका और अन्तः-करणका संस्कार होता है और हम पवित्र हो जाते हैं।

५. बौद्ध कहते हैं कि सब जिसका तुम वर्णन करते हो प्रतीत्य-समुत्पाद्य हैं। मनकी कल्पनाओंसे ऐसा अनुभव होता है। असलमें कल्पना करोगे तो ऐसा अनुभव होगा। अनुभवसे कल्पना है और कल्पनासे अनुभव है और ये दोनों शून्यतामें बिना हुए ही भास रहे हैं। अहं और ब्रह्म दोनों प्रतीत्यसमुत्पाद हैं और शून्य तत्त्व दोनोंसे श्रेष्ठ वही है, वही यथार्थ तत्त्व है।

बौद्धोंकी दृष्टिके लिए कहा गया है :

**येषां तु शून्यतादृष्टिः तानसाध्यान् प्रचक्षते।**

'जो लोग कहते हैं कि शून्यताकी दृष्टि बनाये रखो उनको तो असाध्य रोग हो गया है।' वृत्ति इसमें भी नहीं छूटी।

वेदान्त इन पांचोंमें-से कोई बात नहीं कहता। वेदान्तका प्रमाणवाद सबसे बिलक्षण है। ये नीम हकीमोंके बसकी बात नहीं है।

एक पदार्थ होता है नित्य परोक्ष, और एक होता है नित्य अपरोक्ष। दोनोंमें केवल वाक्य ही प्रमाण होता है। जैसे स्वर्ग है, पुनर्जन्म है, इनके विषयमें चाहे कोई बौद्ध कहे, जैन कहे, आर्यसमाजी कहे, सनातनी कहे, प्लैनचिट कहे, किसी-न-किसीके कहनेसे ही मालूम पड़ेगा, प्रत्यक्ष मालूम नहीं पड़ सकता। ये नित्य परोक्ष पदार्थ हैं। परन्तु आत्माका होना (अर्थात् 'मैं'का होना) यह नित्य अपरोक्ष है क्योंकि सबको अपने आप ही ज्ञात है। परन्तु आत्माका ब्रह्म होना नित्य अपरोक्ष होते हुए भी अज्ञात है और वह वाक्यके द्वारा ही ज्ञात होता है।

कहो कि हम तो अपने आप ही जान लेंगे, तो 'मैं हूँ, मैं ज्ञाता हूँ, मैं प्रिय हूँ' इतना तो तुम बिना वेदके तनिक विचारसे ही जान लोगे क्योंकि आप इसके विपरीत अनुभव कर ही नहीं सकते अर्थात् 'मैं नहीं हूँ, मैं जड़ हूँ, मैं अपना प्रिय नहीं हूँ' यह आप अनुभव नहीं कर सकते, परन्तु अपनेको जो परिच्छिन्न मानना है यह इस ज्ञानसे नहीं कटेगा। क्यों नहीं कटेगा ? अरे बाबा, मेरा नाम है यूहन्ना, याहिया, मोहन, सोहन, वह तुम्हारा नाम जो तुम्हारे पैदा होनेके बाद दूसरोंने रख दिया है वह कैसे कटेगा ?

नामका जन्मके दशम दिन संस्कार होता है और संन्यासके दिन इसका अपवाद हो जाता है। शिखाका संस्कार होता है चूड़ाकरण संस्कार ( मुण्डन संस्कार )के दिन और संन्यासके दिन उसका अपवाद हो जाता है। इसी प्रकार यज्ञोपवीतका अध्यारोप-अपवाद होता है। तब सन्ध्यावन्दनका भी साथ-साथ अध्यारोप-अपवाद हो जाता है। दूसरे धर्मोंमें नमाज-प्रार्थना करना सिखाया तो जाता है परन्तु छोड़ना नहीं सिखाया जाता। परन्तु वैदिक धर्ममें गायत्रीका जप करना सिखाया भी जाता है और छोड़ना सिखाया जाता है।

अपनेको अन्नमय कोष मानना भी सिखाया जाता है और छोड़ना भी सिखाया जाता है। इसी प्रकार अपनेको विश्व-तैजस-प्राज्ञ मानना भी सिखाया जाता है और छोड़ना भी सिखाया जाता है।

यह जो अपनेमें जीवपनेका अध्यारोप है वह वैदिक धर्मकी विशेषता है। 'अहं ब्रह्मास्मि' इस अध्यारोपका अपवाद है।

आपने स्वामी दयानन्दजीके जीवनकी वह बात सुनी होगी कि कैसे उन्होंने यमुनामें बहते हुए मुर्देके शरीरको काटकर यह देखना चाहा कि योगके कथित चक्र और कुण्डलनियाँ शरीरमें हैं या

नहीं। उन्हें नहीं मिले तो उन्होंने कहा कि चक्र-बक्र कुछ नहीं होते। परन्तु यह तो मनका चक्कर है शरीरका चक्कर नहीं है। लोग आज भी उसके चक्करमें फँसते ही हैं।

'अहं ब्रह्मास्मि'का अर्थ यह नहीं है कि अहं अर्थात् मैं मोहनलाल नामका आदमी ब्रह्म हूँ। यही विवेक जिसने नहीं किया वह तो विरोचन पक्षमें चला गया। विरोचनको प्रजापतिने बताया कि तेरी दाहिनी आँखमें पुरुष है। उसने दाहिनी आँखमें जाकर देखा कि क्या है तो उसमें तो उसकी परछायीं है। किसकी? शरीरकी। इसलिए उसने मान लिया कि मैं शरीर रूपसे ब्रह्म हूँ ( द्र० छान्दोग्य उपनिषद् अ० ८ ) फल क्या हुआ कि जो मौज हुई सो खा लिया और जो मौज हुई सो पी लिया!

ईश्वर कृपासे पहाड़ी और जंगली आदि वासी अनुसूचित जातियोंमें जैसा खान-पान है वैसा ही सेठ-साहूकारोंके घरोंमें भी आ गया है—वही ताड़ी, शराब, मांस, नाचना, गाना, नग्न-पोशाक। तो हमको डर लगता है कि कहीं ईश्वर इस परिवर्तनको स्वीकार न करले और जो उनकी गरीबी है वह भी इनके घरोंमें न आ जाय! जैसे वे राम, कृष्ण, शिव, ईश्वरको नहीं मानते हैं वैसे ये भी नहीं मानते हैं। जैसे वे उस ईश्वरको मानते हैं जो उन्हें शेरसे लड़नेकी ताकत दे, वैसे ही ये भी आजकल उसी ईश्वरको मानते हैं जो पैसा दे, बेटा दे, रोगसे, टैक्ससे, जेलसे बचावे! हे भगवान्, वृत्ति कितनी निम्न कोटिमें चली गयी!

तो देहमें ईश्वर, शक्तिमें ईश्वर, मनमें ईश्वर, अहंमें ईश्वर, सुखमें ईश्वर, बेहोशीमें ईश्वर, समाधिमें ईश्वर—यह सब एकदम अध्यारोप-अपवादकी शैलीसे शोधन करने योग्य है। जब शोधन हो जाता है कि असलमें द्रष्टा जो है वही आत्मा है, उसके बाद वेदान्तके 'अहं ब्रह्मास्मि'की आवश्यकता है। परन्तु द्रष्टातक तो

आपको ही पहुँचना पड़ेगा। यह बात तो बिना वेदके, बिना सत्संगके आपको मालूम हो सकती है कि जानना मात्र ही आत्मा है और वह भी विशेषको जानना नहीं, विशेषाभावको भी जानना। जाग्रत् स्वप्न विशेष है और सुषुप्ति विशेषाभाव है। घट और घटाभाव दोनोंको जाननेवाला जा ज्ञानमात्र है वह आत्मा है। इसीको प्रज्ञान बोलते है :

**प्रज्ञायते अनेन सर्वमिति प्रज्ञानं** = जिसके द्वारा सर्वको जानता है और सर्वके अभावको भी जानता है, वह प्रज्ञान तुम्हारा आत्मा है।

अब इस प्रज्ञानको, ज्ञानमात्रको, जो तुमने शरीरमें सीमित करके रखा है वह किस प्रमाणके आधारपर ? जैसे 'बेंचू-खेंचू' नाम किसीने रख दिया तुम्हारा, वैसे ही देहमें मैं करके बैठे हो। वेदान्तका कहना यह है कि यह जो तुम्हारा शोधित अहम् है वह वास्तवमें ब्रह्म है।

यदि आपसे कहा जाय कि आप मिट्टीके बने पुतले नहीं हो, चामके बोरेमें भरा पानी तुम नहीं हो, देहके भीतरकी गर्मी तुम नहीं हो, इसमें जो धोंकनी चलती है वह वायु तुम नहीं हो तुम तो आकाशमात्र हो; तो जिस प्रकार आकाशमात्र कहनेसे पृथिव्यादि तत्त्वोंका निषेध हो गया, उसी प्रकार 'तुम ज्ञानमात्र हो' इतना कहते ही तुम ज्ञेय नहीं हो, यह बात तो सिद्ध हो गयी, परन्तु 'मैं अनन्त हूँ' यह आपको मालूम नहीं पड़ सकता।

अनन्त बुद्धिका विषय नहीं है। यदि होता तो आप जान ही गये होते। परन्तु नहीं, अनन्त बुद्धिका अविषय है। क्या आप कालका आदि या अन्त बुद्धिसे देख सकते हैं ? क्या आप देशगत पूर्व-पश्चिमका ओर-छोर बुद्धिमें देख सकते हैं ? है ही नहीं तो बुद्धि देखेगी कहाँ ? भूतका आदि और भविष्यका अन्त नहीं है।

बुद्धि तो आपकी थोड़ी-सी चीजको, शान्तको, जान पाती है। तब इस ज्ञानमात्रके अनन्तत्वको जानने-जनानेके लिए कोई ज्ञापक चाहिए। वह ज्ञापक हैं वेदवाक्य : तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, प्रज्ञानं ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म।

अहं प्रज्ञानं ज्ञानमात्रम् ब्रह्म अस्मि, ब्रह्म अद्वितीयम् अविनाशि परिपूर्णम्। अहं चेतनं ज्ञानम्।

मैं जो चेतनस्वरूप, ज्ञानमात्र हूँ वह कैसा हूँ कि अद्वितीय, अविनाशी, परिपूर्ण ब्रह्म हूँ।

चेतनमें न पूर्व, पश्चिमकी सीमा है, न सीमा हो सकती है; चेतनमें न कालके आदि, मध्य, अन्तकी कोई सीमा है, न हो सकती हैं। चेतनमें कोई दूसरी चीज भी नहीं हो सकती है। यह जो तुम्हारा आत्मचैतन्य है ( शोधित अहम् ) वह है अकाल, अदेश और अद्रव्य। मुझमें न देश है, न काल है, न द्रव्य है।

( यह प्रपंचकी तात्त्विकताका निषेध है, प्रपंचकी व्यावहारिकताका निषेध नहीं है : प्रपंचके अन्तर्गत देह सापेक्ष देश, काल, द्रव्यकी प्रस्थिति है। यह तो देहको जहाँ-का-तहाँ छोड़ करके अपने ज्ञानमात्र आत्माके स्वरूपको समझना है। )

प्रपंच तत्त्व नहीं है, प्रपंच आकृति है, नाम है, और नाम तथा आकृति तत्त्व नहीं हुआ करते, वे तत्त्वमें व्यवहारके लिए कल्पित होते हैं।

इसलिए तुम जो हो उसका, अर्थात् तुम्हारा न जन्म है न मरण, न तुम जवान हो न बुड्ढे, न ब्राह्मण हो न क्षत्रिय हो, न तुम संन्यासी हो और न ब्रह्मचारी, न तुम लोक-परलोकमें आने-जाने वाले हो, न तुम किसीसे एक हो न भिन्न हो। इसी अहम्को श्रुति ब्रह्म बताती है। अहं ब्रह्मास्मि।

बृहदारण्यकोपनिषद् ( १.४.१० ) में यह प्रसंग यों आया है :

**ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्** = प्रारम्भमें ब्रह्म ही था।

छान्दोग्य ( ६.२.१ )में है : **सदेव सोम्य इदमग्र आसीत् एकमेवाऽद्वितीयम्** = प्रारम्भमें, हे सोम्य, एकमेव अद्वितीय सत् ही था।

एतरेय उपनिषद् ( १.१.१ )में है : **आत्मा वा इदमग्र आसीत्** = प्रारम्भमें आत्मा ही था। इसीलिए बृहदारण्यकमें कहा : अहं ब्रह्मास्मि। छांदोग्यमें कहा : तत्त्वमसि। एतरेयमें कहा : प्रज्ञानं ब्रह्म।

सबको मिलाकर यह सिद्धान्त हुआ कि प्रारम्भ जो अद्वितीय सत् था वही ब्रह्म था, वही आत्मा था और वही तू है, वही मैं है, वही प्रज्ञान है। एक ही वस्तुके तीन नाम : सत्, ब्रह्म और वही आत्मा और एक वस्तु प्रत्येकका शोधित अहं है।

असलमें आत्मामें असद्वृत्तिके आरोपका निषेधक 'सत्' है, अचित् वृत्तिका निषेधक 'आत्मा' है और परिच्छिन्नत्वका निषेधक 'ब्रह्म' शब्द है। परन्तु तीनों शब्दोंका अर्थ एक ही अद्वितीय चिद्वस्तु है। तैत्तिरीय श्रुति इसको आनन्दरूप बताती है : **आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्** ( ३.६ )। **विज्ञानं ब्रह्म** ( ३.५ )। इसलिए यही परमप्रेमास्पद आत्मदेव हैं।

विचार करो कि आपने अपनी अद्वितीयताको किस प्रकार जाना? यदि कहो कि गुरुजीने जैसा बता दिया वैसा जान लिया। तो आपके गुरुजीने वेदके अनुकूल बताया। वे धन्य हैं। हम आपके गुरुजीको नमो नमः करते हैं। कहो कि हमको ईश्वरने बता दिया। तो ईश्वरकी ही संहिता है वेद। वह उसके प्रतिकूल कभी नहीं बताता। यदि कहो कि हमारे अपने भीतरसे ही हमें यह ज्ञान हुआ कि मैं अद्वितीय ब्रह्म हूँ; तो पहलेसे तुम्हारे भीतर कहींसे आया होगा न, तब वह अब निकला। बोले : इस जन्ममें तो मैंने सुना नहीं। तो कहना पड़ेगा कि पूर्वजन्ममें कभी सुना होगा।

वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च ( बृहदा० १.४.१० )

ऋषि वामदेवने गर्भमें ही जान लिया कि मैं ही मनु हुआ और सूर्य भी। तो गर्भमें कहाँसे आया? पहले किसी जन्ममें सुना होगा।

इसका अर्थ है कि बिना ज्ञापक वाक्यके, जिसका अर्थ वही हो जो 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि महावाक्योंका है, अपनी अनन्तता एवं अद्वितीयताका बोध अन्य किसी प्रकार हो ही नहीं सकता है।

लोग कहते हैं कि : 'हमसे ईश्वरने कहा है कि हम तुम अलग हैं और तुम हमारे प्यारे हो।' अभी ईश्वरने तुमसे कपट किया है, नहीं तो वह यही कहता कि हम तुम एक हैं। शायद अभी कुछ और पूजा करवाना चाहता है!

शिवरात्रिके दिन एक-एक संन्यासी हजार-हजार आदमियोंको बैठाकर उनकी चोटी, जनेऊ निकलवा देते हैं, पंचीकरणका उपदेश कर देते हैं, प्रणवका जप और प्रैषमन्त्रका उच्चारण करा देते हैं। हो गया संन्यास!

हमारा संन्यास बड़ा विलक्षण हुआ। हमारा कई प्रकारका संन्यास हुआ :

१. शंकरानन्दजी महाराजने संन्यासी होनेसे कोई दस-ग्यारह वर्ष पहले ही प्रैषमन्त्रका उच्चारण करा दिया और कह दिया कि 'जैसे चाहो रहो, सफेद कपड़ेमें या लाल कपड़ेमें, तुम सन्यासी ही हो, तुम ब्रह्म हो।'

२. उससे पहले भगवान् कृष्णने ही कह दिया था कि हम तुम एक हैं।

३. जब ब्रह्मानन्दजी महाराजने दण्ड दिया तो कहा कि 'सम्भालो मठ, तुमको आचार्यपीठपर बैठाना है। अभिमान

धारण करो कि मैं शंकराचार्य हूँ। संन्यास लेनेके बाद उन्होंने स्वयं हमारी पूजा की, फूल, अक्षत, चन्दन चढ़ाया। ( हमको तो पूजा करानेका अभ्यास बहुत पहलेसे ही है। ) फिर कहा 'तुम ब्रह्म हो, तुम भगवान् हो।' दण्डग्रहणमात्रेण नरो नारायणो भवेत्।

पहले आपको अपने अहम्‌को इस कैदमें-से, इस गड्ढेमें-से निकालना पड़ेगा। तुम्हारा अहं ज्ञानमात्र है और वह ब्रह्म है, उसके अतिरिक्त न प्रपञ्च है न जीव!

**प्रश्न :** ईश्वर द्वारा दिये हुए सच्चे ज्ञानका स्वरूप क्या है?

**उत्तर :** 'जो मैं है सो परमात्मा है, जो परमात्मा है सो मैं है, और जो यह दुनिया दिखायी पड़ रही है वह आत्मतत्त्वसे न्यारी नहीं है।' यही ज्ञान जब ईश्वर दे तब समझना कि वह ईश्वरका ईश्वरके द्वारा दिया हुआ ज्ञान है, वरना समझना कि तुम्हारी अपनी वासनामें ही तुम्हें ईश्वरीय ज्ञानका भ्रम हुआ है। ईश्वर जब अलगसे अपने होनेकी आवश्यकताको मिटा दे तब ईश्वर तुमको सच्चा बनाकर गया।

**प्रश्न :** ईश्वरने जो ज्ञान दिया उसका वाक्य द्वारा उल्लेख हो सकता है या नहीं?

**उत्तर :** हो सकता है, और उसका उल्लेख है 'अहं ब्रह्मास्मि'। ईश्वरने तुमको यह ज्ञान क्यों दिया? क्योंकि इस अभेद ज्ञानकी सचमुच तुम्हारे अन्दर जिज्ञासा थी। तुम्हें भेदकी वासना नहीं थी, कोई भिन्न वस्तु पाना नहीं चाहते थे। यदि चाहते तो तुम्हें भी ईश्वर भेदका ही उपदेश करके जाता। चूँकि तुम्हारे अन्दर अभेदकी वासना थी इसलिए तुम्हारे अभेदाकार ज्ञानमें ईश्वर अभेद वस्तुका उद्बोधन करके गया और वह भी 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक उल्लेख करके ही गया।

यह ज्ञान न स्वर्गमें मिलेगा, न समाधिमें। यह मिलेगा वृत्तिमें, और यह वृत्तिके सम्बन्धको छुड़ायेगा।

एक बार ट्रेनमें हम लोग कानपुरसे आ रहे थे। सेठ जयदयालजी, चक्रधरजी, रामसुखदासजी, घनश्यामदास जालान और भाई जी (हनुमान प्रसादजी पोद्दार) साथमें थे। मेरे संन्यासी होनेके बादकी बात है। वे लोग इसलिए आये थे कि वे चाहते थे कि महाभारतके हिन्दी अनुवादका काम मेरे संरक्षणमें हो। एक हजार रुपया मासिक वे खर्च करनेको भी तैयार थे। परन्तु उस समय तो अपने राम···। खैर, तो मैंने कहा: सेठजी अब क्या रुपया-पैसाकी बात करते हो, जो छूट गया सो छूट गया। बादमें रामसुखदासजी और घनश्यामदासजी परस्पर चर्चा करने लगे कि ज्ञान होनेके बाद यह होता है, वह होता है, शरीर ऐसे रहता है, आँखें ऐसे रहती हैं, चेहरे पर ऐसी चमक रहती है, ऐसी मस्ती रहती है, इत्यादि। मैंने कहा: सेठजी, अभी अन्तःकरणका त्याग नहीं हुआ! मैं अन्तःकरण वाला हूँ और अन्तःकरणके गुण मेरे गुण हैं, इसका त्याग नहीं हुआ! सेठ जयदयालजी हँस पड़े और बोले: भजन और त्याग रामसुखदास-जी ज्यादा करते हैं, परन्तु अध्यात्म-तत्त्वमें सूक्ष्म प्रवेश स्वामी जीका बहुत ज्यादा है!

निष्कर्ष यह कि 'अहं ब्रह्मास्मि' कोई उपासना या संस्कार नहीं है। यह तो शोधित अहम्‌की अनन्तता, अद्वितीयताका ज्ञापक प्रमाण है!

## ४. अयमात्मा ब्रह्म

एक सज्जन गये किसी महात्माके पास। महात्माने कहा

'सोऽहं' ( वही मैं हूँ ) का जप करो। वह बोलने लगा : 'सोऽहम्, सोऽहम्'।

ब्रह्मका चाहे जितना वर्णन सुन लो कि ब्रह्म ऐसा है, ऐसा है, अदीर्घ हैं, अनणु है, अकाम है, निर्गुण है, निराकार है, निर्धर्मक है, इत्यादि और सोऽहं सोऽहं करके चाहे इसको कितनी बार दोहरावें कि 'मैं वही हूँ' परन्तु इससे एक मतलब वेदान्तका सिद्ध नहीं होगा। बात क्या है? आपका 'मैं' जहाँ बैठा हुआ है उसे वहाँसे विवेक करके जबतक उठायेंगे नहीं तबतक आप देहको जानेंगे मैं ( वहाँसे मैं हटता तो नहीं ) और थोड़ी देरके लिए जब आप एकान्तमें बैठेंगे या पोथी पढ़ेंगे तो सोचेंगे कि मैं वही हूँ। यह जो कल्पना किया हुआ 'मैं'का स्वरूप है निराकार, निर्विकार इत्यादि, यह आपको बिलकुल काम नहीं देगा क्योंकि आपने अपने 'मैं'को तो हड्डी, मांस, चामका शरीर ही माना हुआ है और उसके जो सम्बन्धी हैं—धन, मकान, कुटुम्बी, नातेदार-रिश्तेदार, उनको पकड़ रखा है। यह बिलकुल ऐसा ही है कि जैसे कोई गिरा हो पनालेमें और मानता हो कि मैं स्वर्गमें हूँ। 'मैं'को तो देहके पनालेमें-से उठाया नहीं और समझने लगे कि मैं शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म हूँ। वह तो फिर हड्डी, मांस, चामको ही ब्रह्म समझेगा।

'सोऽहम्' मैं का विवेक किये बिना उपासनाकी पद्धतिमें आता हैं, और 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' यह अहम्का विवेक करके प्रमाण-कोटिमें आता है। बड़ी विचित्र बात है कि प्रारम्भमें तो अहम्का विवेक करनेकी बात कही जाती है और अन्तमें यह कहा जायगा कि सब आप ही हैं तो शरीर भी आप ही हैं, परन्तु इस समय तो हालत यह है कि शरीरमात्र आप हैं। शरीरमात्र होकर रह जाना दूसरी बात है और सब हो जाना यह दूसरी बात हैं और 'सब हो जाना' यह दूसरी बात है।

**अयमात्मा ब्रह्म**=यह आत्मा ब्रह्म है। माण्डूक्योपनिषद्में आया है कि : **अयमात्मा ब्रह्म। सोयमात्मा चतुष्पात्** (२), अर्थात् यह आत्मा ब्रह्म है और उस इस आत्माके चार पाद हैं। विश्व (वैश्वानर या विराट्) इसका प्रथम पाद है। तैजस (हिरण्यगर्भ) इसका दूसरा पाद है। और प्राज्ञ (ईश्वर) इसका तीसरा पाद है। चौथा पाद (तुरीय) आप स्वयं ब्रह्म हैं।

तीन पैर आपको रखने पड़ेंगे, चौथा आपको रखना नहीं पड़ेगा, वह आप स्वयं हैं। अभी तो आप समझते हैं कि मनुष्य जातिमें अमुक वर्णका, अमुक गोत्रका, अमुक आश्रमका हिन्दू हूँ, साढ़े तीन हाथका शरीर। उपनिषद् कहता है, नहीं तुम इतने नन्हें-मुन्ने नहीं हो। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य और चन्द्रमा ये तुम्हारे सात अंग हैं, दूसरे शब्दोंमें पंचमहाभूतसे बनी यह सृष्टि और मन तथा बुद्धि ये तुम्हारे सप्ताङ्ग हैं और इनकी उपाधिसे जो विराट् चैतन्य है सो तुम हो, केवल देहगत चैतन्य नहीं हो तुम।

**जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग् वैश्वानरः प्रथमः पादः** (माण्डूक्य ३) अपनेको केवल जाग्रत्-अवस्थाका अभिमानी न मानकर सम्पूर्ण सृष्टिको अपना शरीर और अपनेको समष्टि उपाधिगत चैतन्य (वैश्वानर) मानना, यह हमारा पहला कदम है उस ब्रह्मको जाननेका जो यह आत्मा ही है।

अब दूसरा कदम है, सम्पूर्ण तैजस सृष्टिको (केवल अपने स्वप्नको ही नहीं) अपना शरीर मानना और तदविगत चैतन्यको (तैजसको या हिरण्यगर्भको) अपना आपा मानना।

**स्वप्नस्थानोऽन्तः प्रज्ञः सप्ताङ्ग एको न विंशतिमुखः प्रविविक्त-भुक् तैजसो द्वितीयः पादः** (माण्डूक्य ४)।

तीसरा कदम है, जाग्रत्-स्वप्नरूपा, सम्पूर्ण स्थूल-सूक्ष्म, सृष्टि-समष्टिके बीजसे उपहित चेतन (प्राज्ञ) को अपना स्वरूप मानना।

**सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् प्राज्ञस्तृतीयः पादः** (माण्डूक्य ५) **एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्।**

जिससे सृष्टिकी उत्पत्ति, प्रलय होता है उस परमेश्वरका नाम प्राज्ञ है। उपाधिकी सीमा यहींतक हो है। इन उपाधियोंसे अपने आत्माको विमुक्त करनेपर वही ब्रह्म है और वही ब्रह्म तुम हो।

**नान्तः प्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टम्, अव्यवहार्यम्, अग्राह्यम्, अलक्षणम्, अचिन्त्यम्, अव्यपदेश्यम्, एकात्मप्रत्ययसारम्, प्रपञ्चोपशमम्, शान्तम्; शिवम्, अद्वैतम्, चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।** ( मण्डूक्य ७ )

होता यह है कि आँख बन्द करके तुम अपनेको द्रष्टा, ब्रह्म सोचते हो और आंख खुलते ही वह द्रष्टापना, वह ब्रह्मपना तो पहले रह जाता है और तुम आँखवाले बन जाते हो, हाथसे काम करते ही हाथवाले बन जाते हो। आकर गिरे कहाँ? जहाँ तुम अपना मैं छोड़ करके आंख बन्द करके बैठे थे, अर्थात् उसी देहमें। जैसे जिन शत्रु-मित्रोंको छोड़कर सुषुप्तिमें जाते हो उसीमें जागते हो, वैसे ही यह है।

ब्रह्मात्मैकत्व-विज्ञान कोई सपने या सुषुप्तिकी विद्या नहीं है। यह तो जाग्रत्-अवस्थामें, आंख खोलकर, उपाधिको छोड़कर, देखो कि तुम आत्मा ब्रह्म हो।

उपाधि माने पासकी बीमारी (उप=पास; आधि=बीमारी)। आपके मनमें जो शोक-मोह, सुख-दुःख जीने-मरनेके ख्याल हैं वही

मनने आपके अन्दर रख दिये हैं। न वे आपमें हैं, न आपके हैं वे तो पड़ोसीके द्वारा आपके घरमें डाला गया कूड़ा-करकट है।

सोचो, जाग्रत्-अवस्थाकी उपाधिसे परिच्छिन्न चैतन्य जो 'वैश्वानर' है वह मैं नहीं हूँ। चेतन तो मैं हूँ परन्तु जाग्रत्-उपाधि-विशिष्ट वैश्वानर चैतन्य नहीं हूँ। इसी प्रकार सोचो कि चैतन्य तो मैं हूँ परन्तु सूक्ष्म-उपाधिविशिष्ट चैतन्य मैं नहीं हूँ। स्थूल-सूक्ष्म देहकी उपाधियोंवाला चैतन्य मैं नहीं हूँ।

स्थूल समष्टिसे उपहित चैतन्य ( विराट् )में मैं होना यह ( साधनाका ) पहला कदम है। सूक्ष्म समष्टिसे उपहित चैतन्य ( हिरण्यगर्भ )में मैं होना, यह दूसरा कदम है। कारणमें समष्टि-व्यष्टिका भेद नहीं है। कारण समष्टिसे उपहित चैतन्य ( ईश्वर)में मैं होना, यह तीसरा कदम है। फिर जब श्रुति कहती है कि 'अयमात्मा ब्रह्म' तो उपाधिका बाधित हो जाना ब्रह्मज्ञान है। इससे अविद्याकी निवृत्ति हो जाती है।

वेदान्त-सम्प्रदायकी रीतिसे यह अर्थ है।

यदि समष्टिमें मैं नहीं जाता तो व्यष्टिमें ही अन्नमय आदि कोषोंका बाध करो। मैं अन्नमय कोष नहीं हूँ, उससे उपहित चेतन हूँ। मैं प्राणमय कोष नहीं हूँ उससे उपहित चेतन हूँ। मैं मनोमय कोष नहीं हूँ, उससे उपहित चेतन हूँ। मैं विज्ञानमय कोष नहीं हूँ, उससे उपहित चेतन हूँ। मैं आनन्दमय कोष नहीं हूँ उससे उपहित चेतन हूँ। चेतन एक है और उसीमें ये सब कोष हैं। जैसे मिट्टीसे उपहित आकाश, पानीसे उपहित आकाश, अग्निसे उपहित आकाश, वायुसे उपहित आकाश, चार आकाश नहीं हैं एक आकाश है और उसी एक आकाशमें चारो ये चार हैं। आकाश पाँचवाँ है। इसी प्रकार कोषोंकी स्थिति है। हाथका

होना अन्नमय है, उसमें क्रियाशक्ति प्राणमय है, इच्छाशक्ति मनोमय है, क्रियाभिमानता विज्ञानमय है और इसमें जो मजा आता है वह आनन्दमय है। इन पाँचोंमें तुम एक चेतन हो।

यह चेतन साक्षी, द्रष्टा है। आकाशका साक्षी, मनका साक्षी, बुद्धिका साक्षी, अज्ञानका भी साक्षी। वह साक्षी चेतन ब्रह्म है।

यदि अपनेको ब्रह्म जानना है तो कार्य-कारणका विवेक करके उससे अलग अपनेको जानना पड़ेगा; अवस्थात्रयका विवेक करके जाग्रतादि अवस्थाओंसे अपनेको अलग जानना पड़ेगा, विश्व, तैजस, प्राज्ञसे अपनेको अलग जानना पड़ेगा, पञ्चकोषोंका विवेक करके उनसे अपनेको अलग जानना पड़ेगा। तब हम कहेंगे 'तत्त्वमसि' माने यह जो तुम्हारी विलक्षण है आत्मा वह साक्षात् ब्रह्म है। तब तुम्हें भी एक क्षणमें समझमें आ जायेगा। और यदि अपना विवेक नहीं करोगे तो दैत्य-परम्पराका वेदान्त ही हाथ लगेगा, देवपरम्पराका नहीं। देवपरम्पराका वेदान्त महात्मा बना देता है और दैत्यपरम्पराका वेदान्त आपको उच्छृङ्खल बना देता है।

अयमात्मा ब्रह्म 'माण्डूक्य'में है। यह बृहदारण्यकमें भी है— **तदेतद् ब्रह्म अपूर्वम्, अनपरम् अनन्तरम् अबाह्यम्, अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः इत्यनुशासनम्** ( २.५.१९ ) 'वह यह ब्रह्म अपूर्व है, अनपर है, अनन्तर है और अबाह्य है। यह आत्मा ही सबका अनुभव करनेवाला ब्रह्म है। यही समस्त वेदान्तोंका उपदेश है।'

यह नियम है कि पदार्थका ज्ञान हुए बिना वाक्यार्थका ज्ञान नहीं होता। किसी तमिल बन्धुसे कहा : घड़ा ले आओ। अब उसे न तो घट शब्दका अर्थ ज्ञात है और न ले आओका। तो अन्दाजसे कभी किताब ले आयेगा तो कभी छाता। इसी प्रकार

जो अहम् ब्रह्म, अस्मि, तत्, त्वम्, असि, अयम्, आत्मा, ब्रह्म, प्रज्ञानं, ब्रह्म—इन पदोंका अर्थ नहीं समझता वह महावाक्यका अर्थ नहीं समझेगा। यही पदार्थ-शोधन है।

सोऽहम्में जो 'सः' है वह शोधित पदार्थ नहीं है। 'सः' परोक्ष है; सम्भव है कि वह सातवें आसमानमें ब्रह्म नामकी कोई वस्तु हो और वह निराकार है कि निर्विकार, सविशेष कि निर्विशेष, इसका कोई निश्चय नहीं है। ध्यानका जोर लगाके 'वह मैं हूँ' यह मैं देखता हूँ परन्तु जहाँ नोन-तेल-लकड़ीमें लगे तो ब्रह्म रह जायेगा सातवें आसमानपर और आप रह जायेंगे धरतीपर !

यह नाड़ी-नाड़ीमें जो रहना है वही तो नालीमे रहना है ! अज्ञानकी शराब पीकर, शरीरकी नालीमें पड़े हैं ! यही नार है, यही नाल है, जिसका छेदन होता।

बृहदारण्यक है कि : **ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्** ( १.४.१० )। सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्म ही था। माने देश, काल द्रव्यकी कल्पना भी नहीं थी। केवल अधिष्ठान चैतन्य ही चैतन्य था। प्रमाण ? सुषुप्तिमें सबका उपसंहार होनेपर क्या रहता है ? आत्म-चैतन्य। ऐसे ही प्रपञ्चका उपसंहार होनेपर ब्रह्म-चैतन्य रहता है। उपसंहारका स्थान प्रत्यक् दृष्टिसे आत्म-चैतन्य और विस्तृत दृष्टिसे ब्रह्म-चैतन्य। यदि प्रपञ्चको बीचमें रखकर विचार करोगे तो तुम इस पार और ब्रह्म उस पार ! परन्तु यदि प्रपञ्चको बट्टे-खाते डालकर विचार करो तो न इस पार, न उस पार, एक अखण्ड चैतन्य है।

**स एष नेति-नेति आत्मा** (बृहदा० ३.९.२६)=वह यह आत्मा नेति-नेति है।

उपाधिका निषेध कर दो तो प्रपञ्चसे विलक्षण जो ब्रह्म है

और प्रपञ्चसे विलक्षण जो आत्मा है वह निष्प्रपञ्चतारूप लक्षणका अधिष्ठान एवं साक्षी होनेसे एक है।

**तस्मात्तत् सर्वम् अभवत्** ( बृहदा० १.४.१० )=इसलिए वह ब्रह्म सब हो गया। ब्रह्मके सिवाय कुछ है ही नहीं। यह व्यवहार भी जो करते हैं, चलना, बोलना, हँसना, सब वही है। जो ब्रह्म है वही व्यवहारमें खटमल है, वही व्यवहारमें चिड़िया है, वही मिट्टी, पानी है। वही सब है।

यह सब कैसे हो गया? जबतक देह था तबतक यह अपना और यह पराया था, तबतक दोस्ती और दुश्मनी थी, राग और द्वेष था। सपना हो रहा हो और मालूम हो कि सपना हो रहा है तो जो चपत किसीके मारोगे वह अपने ही लगेगा, किसीको गाली दोगे तो अपनेको ही लगेगी, व्यभिचार करोगे तो अपना ही स्वप्न-दोष होगा! यदि यह मालूम हो जाय कि यह व्यवहार सपना है तो विकारोंका तो कचूमर ही निकल गया न!

इसी प्रकार, ऐतरेयमें शुरू किया: **आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्** ( १.१.१ )=आरम्भमें यह सब आत्मा ही था—देहसे इतर, परिच्छिन्नसे इतर, भेदसे इतर, अपरिच्छिन्न अद्वितीय आत्मा। उपसंहारमें बताया कि सृष्टिमें सब कुछ ज्ञान है, ज्ञानसे है; सृष्टिका ताना वही बाना वही; यह प्रज्ञान ही ब्रह्म है।

**प्रज्ञानं ब्रह्म।** ( ऐ० उ० २.१.३ )

यह रूमाल है। रूमालको हम कई तरहसे जानते हैं—देखकर, छूकर। रूमालकी एक शक्ल-सूरत है जो रूमाल है। जरा आँखका अपवाद कर दीजिये। रूमाल दिखेगा? नहीं। सूनकर जान सकते हैं। जरा कानका अपवाद कर दीजिये। रूमाल जाना जायेगा? नहीं। माने रूमाल जो ज्ञेय है वह इन्द्रिय और अन्तःकरण सापेक्ष

है। इनके रहते उसका ज्ञान रहता है, इनके नहीं रहनेपर इनका ज्ञान नहीं रहता है।

अब आंखको जानो। यह अन्तःकरण सापेक्ष है।

अब अन्तःकरणको जानो। यह ज्ञान सापेक्ष है।

अब ज्ञानको जानो। ज्ञानको जाना नहीं जा सकता। ज्ञानका ज्ञान नहीं होता। जाननेसे ज्ञेय अलग है परन्तु 'जानना' ज्ञानसे अलग नहीं है, ज्ञान आत्मासे, आपसे, जाननेवालेसे, अलग नहीं हो सकता। यदि अलग हो जायेगा तो वह भी ज्ञेय हो जायेगा।

देश ज्ञेय है, काल ज्ञेय है, वस्तु ज्ञेय है, नाम ज्ञेय है, रूप ज्ञेय है, ज्ञेयका कारण ज्ञेय है, परन्तु ज्ञाता और ज्ञानका अभेद है। यह ज्ञान ही आत्मा है और आत्मा ज्ञान है। उसमें अन्तःकरण, आँख, रूमालका भेद नहीं है। 'जानना' किसी भी अन्तःकरणको छूता नहीं है और किसी भी अन्तःकरणसे छूआ नहीं जाता है। यह अखण्ड आत्मा है। यह 'जानना' न देश-परिच्छिन्न है, न काल-परिच्छिन्न है और न वस्तु-परिच्छिन्न है। यह अखण्ड अद्वय है। इसमें अन्तःकरण, आँख, रूमाल—रूप जो प्रपञ्च दिखायी पड़ता है वह सब इसीकी चमक है, अपनी तमक है, अपनी ही प्रतीति है।

## ५. निष्कर्ष

विद्याके दो विभाग हैं : एक परोक्षवस्तु-विषयक और एक प्रत्यक्ष वस्तु-विषयक। जैनोंमें इसी प्रकारके प्रमाणोंके दो विभाग किये हैं। अब वेदान्त-विद्या कौन वस्तु-विषयक है? प्रत्यक्ष वह है जो इन्द्रियोंसे जानी जाती है और परोक्ष वह है जिसका अनुभव इस लोक या परलोकमें अन्तःकरण शुद्ध करके होता है। वेदान्ती कहते हैं कि वेदान्त-विद्या न प्रत्यक्ष वस्तु-विषयक है न परोक्ष वस्तु-

विषयक है। वह साक्षाद् अपरोक्ष वस्तु आत्मवस्तु-विषयक है। आत्मा न घटके समान प्रत्यक्ष है और न स्वर्गकी तरह परोक्ष। सुख-दुःखादिकी तरह यह अपरोक्ष भी नहीं है। यह तो सबको नित्य प्राप्त, नित्य ज्ञात, साक्षात् अपरोक्ष है। यह बात दूसरी है कि आत्माका स्वरूपके विषयमें, बुद्धिमें कोई भ्रम हो। उसीका वास्तविक स्वरूप बतानेके लिए, उसके विषयमें भ्रान्तज्ञानको नष्ट करनेके लिए, वेदान्त-विद्या है।

भ्रान्तियाँ क्या हैं? कई लोग आत्माको अणु मानते हैं, कोई मध्यम परिमाण और कोई विभु। कोई उसे कर्त्ता मानते हैं तो कोई भोक्ता, तो कोई कर्त्ता-भोक्ता दोनों मानते हैं। कोई उसे अकर्ता मानते हैं। कोई उसे परिच्छिन्न मानते हैं। कोई उसे सादि मानते हैं तो कोई अनादि। वेदान्तमें इन विकल्पोंके विषयमें निर्णय प्रस्तुत किया गया है।

अज्ञानांशका निराकरण करनेके लिए है वेदान्त! आत्मामें परिमाणकी कल्पना जोड़ोगे तब अणु मध्यम या विभुका प्रश्न उठेगा न! आत्मामें कालकी कल्पना जोड़ोगे तब उसे सादि, अनादि माननेका प्रश्न उठेगा न! देहकी, अन्तःकरणकी, परिमितिकी कल्पना जब आत्माके साथ जोड़ोगे तब उसमें कर्ता-भोक्ता, सुखी-दुःखी, परिच्छिन्नत्वकी कल्पना जुड़ेगी न! वेदान्ती कहते हैं आत्मामें 'इल्लत' मत = जोड़ो। 'इल्लत' माने उपाधि।

बाबा नगीना सिंह वेदीकी पुस्तक 'भगवत्-ज्ञानके विचित्र रहस्य' में यह शब्द है 'इल्लत'। गाय, बैलोंके शरीरोंपर रक्त चूसनेवाले कीड़ोंको 'इल्ली' बोलते हैं। वह उनके शरीरसे चिपक जाती हैं। लोग उन्हें छुड़ाते हैं तो बैल छुड़ाने नहीं देते। वैसे स्वयं जब वे काटती हैं तो खुजलाते हैं। यह उपाधि इल्लत है। इनको छुड़ानेवाला कोई ज्ञानी गुरु चाहिए।

प्रत्यक्षके बारेमें आप विज्ञानसे समझो; इसमें हमारा कोई मतभेद नहीं। क्योंकि प्रत्यक्ष जैसा दीखता है वैसा है नहीं। परोक्षके बारेमें मजहबी, दुनियादार लोग जैसे विहित और निषिद्धके बारेमें जानते-मानते हैं, वैसा अपने-अपने मजहब, सम्प्रदायके अनुसार करो। उससे भी हमें क्या लेना-देना है ! हम तो जो तुम्हारा साक्षात् अपरोक्ष आत्मा है जिसके होनेसे तुम्हें इन्कार नहीं है, और जिसको यथावत् न जाननेके कारण तुम्हारी महान् हानि हो रही है और जिसको जान लेनेसे जीवनके सब दुःखोंका बीज ही नष्ट हो जाता है, उसको जानने-जनानेके लिए वेदान्त सुनाते हैं। इधर आत्माको जानो और उधर जीते जी मुक्त ! अपरोक्ष सुखका दर्शन करो !

वेदान्त सुनकर मन नहीं बनाना है। मरनेके बाद गो लोकमें ले जाकर सुखी नहीं करनेवाला है वेदान्त, यह तो मरनेके ख्यालको ही खत्म कर देनेवाला है। यह तुम्हारे अन्दर झूठे गौरवका ख्याल भी नहीं भरनेवाला है और न तुम्हें भोग-सम्पदाका गारण्टी देनेवाला है। यह न निर्माण-विभाग है न नौकरी मजदूरीका विभाग है। यह तो तुम्हें वह सम्राट् पद प्रदान करनेवाला है जो तुम्हारा स्वरूप ही है :

**भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।**
**क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥**
( मुण्डक २.२.८ )

तुम्हारे हृदयमें एक गाँठ है ! किसीने सुना तो गया वैद्यके पास। वैद्यने कहा : यह तो जब तुम मरोगे तभी गलेगी। सोचने लगा हमें दर्द तो आज है, मरनेके बाद गलनेसे क्या मतलब ? गया दूसरेके पास। उसने कहा : आठ-दस वर्ष तो लगेंगे ही।

अन्धेरेमें ढेला फेंकते हैं, देखो शायद लग जाय। वह आदमी तीसरे डाक्टरके पास गया। डाक्टरने कहा : चोरकर गाँठ निकाल देते हैं, परन्तु दर्द होगा। इसलिए बेहोश करना पड़ेगा! वह आदमी सोचने लगा : क्यों न सर्वोच्च सर्जनको दिखालें। सर्जनने परीक्षा की, पाया वहाँ तो कहीं गाँठ थी ही नहीं! आदमीने कहा : दर्द क्यों होता है फिर? सर्जनने समझाया—यह सब बहम है, तुम्हें गाँठकी भ्रान्ति जो है।

बात उसके समझमें आ गयी। वह भला चंगा हो गया। भला चंगा तो था ही। बहम था सो दूर हो गया। कैसे दूर हुआ? यथार्थ ज्ञानसे।

इसी प्रकार जीव हृदयमें यह जीव-ग्रन्थि है अज्ञानकी। कर्ता-भोक्ता, पापी-पुण्यात्मा, सुखी-दुःखी, आना-जाना, और परिच्छिन्नत्व ये दर्द हैं उस गाँठके। कर्मी कहते हैं : कर्म करो मरनेके बाद सुखी हो जाओगे। उपासक कहते है : कुछ काल जप-तप-भजन करो, यहीं सुखी हो जाओगे। योगी कहते हैं : समाधिकी बेहोशीमें यह चिज्जड़-ग्रन्थि गल जायेगी। वेदान्तका कहना है : प्यारे जीव, यह ग्रन्थि तुम्हारा भ्रम है। तुम्हारे स्वरूपमें यह ग्रन्थि-जैसी चीज हो ही नहीं सकती। ऐसा जानो और लो ग्रन्थिका भेदन हो गया!

हृदयकी ग्रन्थिका भेदन हुआ, सर्वसंशयोंकी निवृत्ति हुई, सब कर्मोंका क्षय हो गया—किसको? जिसको कार्य-कारण साक्षीका अनुभव हुआ। कार्य-कारण साक्षी तुम हो! तुम ही परावर नाथ हो।

हम तो अपरोक्ष देवताको मानते हैं। सबसे पहले आत्मदेव हैं, फिर मन देवता है, बादमें आँख देवता है, फिर सूर्य देवता है,

फिर स्वर्गके देवता हैं। विलोम क्रममें स्वर्ग देवता सबसे नीचे हैं, उनसे ऊपर सूर्य देवता, उनसे ऊपर आंख देवता, उनसे ऊपर आत्मदेवता है। आत्मदेवतासे ऊपर कोई देवता नहीं है।

गाँठके ऊपर बात याद आयी। लोग गाँठ-गाँठ कहके चेला मूड़नेकी फिराकमें रहते हैं। क्योंकि तुलसीदासने भी कहा: जड़ चेतनहि ग्रन्थि परि गई। इसके बादके अर्थको नहीं पढ़ते: जदपि मृषा छूटत कठिनई।

हम एक 'महात्मा'के पास गये। पूछा: क्या करते हो?

मैं: जप-ध्यान करता हूँ।

वे: अभी फाटक खुला या नहीं?

मैं: फाटक कैसा?

वे: पन्नेकी चौखट, सोनेके पत्तर, हीरे जड़ी किवाड़ोंवाला फाटक।

मैं: कैसे खुले महाराज?

वे: उसकी चाबी हमारे पास है! हमारे पास आओ।

अर्थात् हमारे चेला बनो! आपको तो जरूरत नहीं पड़ती महाराज, हम तो जब आठ सालके थे तभीसे इनके चक्करोंमें रहे हैं। बड़े-बड़े शक्तिपाती देखे, बड़े-बड़े योगी, ध्यानातीत, भावातीत समाधिवाले देखे!

परन्तु वेदान्त किसीसे चाभी नहीं दिलवाता। अपनी चाभी तुम खुद हो!

वेदान्त-श्रवणका फल है अविद्या-निवृत्ति। 'ब्रह्मको जानकर ब्रह्म हो जाता है' इस श्रुति-वाक्यसे भी यही स्पष्ट होता है कि ब्रह्मात्मैक्य-बिज्ञान किसी उपासनाका अंग नहीं हो सकता। ब्रह्म-ज्ञानके बाद उपास्य-उपासक भेद ही समाप्त हो जाता है। ●

( ४.२४ )

## उत्तर पक्ष-७ ( वितत )

## ब्रह्मात्मैकत्व-विज्ञान पुरुषतन्त्र नहीं है, वस्तुतन्त्र है

**मूलभाष्य :**

अतो न पुरुषव्यापारतन्त्रा ब्रह्मविद्या। किं तर्हि ? प्रत्यक्षादि-प्रमाणविषयवस्तु-ज्ञानवद्वस्तुतन्त्रो। एवं भूतस्य ब्रह्मणस्त-ज्ज्ञानस्य च न कयाचिद्युक्त्या शक्यः कार्यानुप्रवेशः कल्पयितुम्।

( क्रमशः )

**भाष्यार्थ :** अतः ब्रह्मविद्या पुरुषव्यापारतन्त्र नहीं है। तब क्या है? प्रत्यक्षादिप्रमाणोंकी विषयवस्तुके ज्ञानके समान वस्तु-तन्त्र है। ऐसे ब्रह्म और उसके ज्ञानकी किसी भी युक्तिके द्वारा कार्यके साथ सम्बन्धकी कल्पना नहीं की जा सकती।

जब ब्रह्मात्मैक्य-विज्ञान कोई कर्म या उपासनाका अंग नहीं है और उसका फल अविद्याकी निवृत्ति मात्र है तब वह किसी कर्ताके अधीन कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता। कर्त्ताको कर्ममें 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्'का स्वातन्त्र्य रहता है। उसे यह स्वातन्त्र्य है कि वह कर्म करे ( कर्तुम् ), न करे (अकर्तुम् ) या विपरीत करे ( अन्यथा कर्तुम् )। जिसे रसोई बनानी है उसे चूल्हा जलाना पड़ेगा, बटलोई आगपर रखनी होगी, परन्तु उसमें वह दाल बनाये या न बनाये, या दालकी जगह शाक बनाये, यह उसका स्वातन्त्र्य है। उपासकको यह स्वातन्त्र्य है कि वह रामको पूजे या कृष्णको पूजे। परन्तु किसीको यह स्वातन्त्र्य नहीं है कि वह शुद्ध नेत्रोंसे खम्भेको खम्भा जाने या न जाने या उसे अन्यथा जाने। कर्म कर्ताके अधीन होता है. जबकि ज्ञान ज्ञाताके अधीन नहीं होता वह वस्तु ( ज्ञेय )के अधीन होता है। वस्तु जैसी होगी, वैसी ही उसे जानना पड़ेगा। अथवा यों कहो कि वैसी ही उसे जानना ज्ञान है और अन्यथा जानना अज्ञान है। इसी बातको यों कहा कि कर्म पुरुष-व्यापारतन्त्र होता है और ज्ञान-वस्तुतन्त्र होता है।

ब्रह्मात्मैक्य-विज्ञान भी ज्ञान है आत्माका, उसके यथार्थ ब्रह्मस्वरूपका। इसलिए ब्रह्मविद्या भी पुरुष-व्यापारतन्त्र नहीं है, वस्तुतन्त्र है।

कोई कर्ता चाहे कि अपने कर्म द्वारा ब्रह्मविद्याको प्राप्त कर

लूँगा, धौंकनी चलाकर ( प्राणायामसे ) कर लूँगा, सांस बन्द करके कर लूँगा ( दृढ़ समाधिसे ), तो यह दमघोंटू नहीं चल सकता। यह ब्रह्मविद्या है, यह विद्या है, यह आत्माकी 'साइन्स' है। 'संसारमें जो कुछ मिलता है वह कर्मसे मिलता है', वह तो ठीक है, परन्तु 'इसीलिए ब्रह्म भी कर्मसे मिलता है' यह ठीक नहीं है। कर्म करना इसमें मना नहीं है, बैठ जानेसे मिल जायेगा सो भी नहीं है। परन्तु भूल मिटनी चाहिए, जिसके कारण मिला हुआ भी अनमिला-सा दीख रहा है। बस इतना ही काम है।

जो यहाँ नहीं है वह ब्रह्म नहीं है। तो सोना चाँदी है क्या? नहीं, तिजोरीमें रखनेवाला, गोलोक साकेतमें रहनेवाला ब्रह्म नहीं है। जो अभी नहीं है वह भी ब्रह्म नहीं है और जो यहाँ नहीं है वह भी ब्रह्म नहीं है। वह ब्रह्म तो मर गया जो यहीं, अभी और यही नहीं है। परमस्वातन्त्र्य देनेवाला है ब्रह्मज्ञान !

एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्
( बृहदा. ४.४.२३ )

'ब्रह्मज्ञानीकी महिमा यह है कि न तो कर्म से कोई बढ़ियापन आ जाता है न घटियापन।' वह तो ज्यों-का-त्यों रहता है, कर्मके लेपसे, कर्मके संस्पर्शसे एकदम अछूता।

श्री हरिबाबाजी महाराज गदापुरके महात्माके पास गये। वे महात्मा एक बड़े कमरेमें रहते थे। कभी-कभी आँख खोलते थे। साईं साहब बोलते थे उनको। कहते हैं वे छठी-सातवीं भूमिकामें रहते थे। कोई खिला देता तो खा लेते, वर्ना पड़े रहते। बाबासे उन्होंने कहा कि अब कीर्तन-वीर्तन छोड़ो और एकान्तमें बैठकर वेदान्त-चिन्तन किया करो। बाबा हाथ जोड़कर चले आये। अरे महाराज, फिर उनका वही घण्टा-घड़ियाल। उन्होंने महात्माकी

बात नहीं मानी क्योंकि वे जानते थे कि जो बात घण्टा-घड़ियाल बजानेमें है, वही न बजानेमें है। जो भीड़में है, वही कमरेमें है; जो विक्षेपमें है, वही समाधिमें है; जो प्रपञ्चमें है, वही आत्मामें है। उनकी तो सातों भूमिका अबाधित थीं।

ज्ञान कोई व्यापारतन्त्र नहीं है कि यह करेंगे तो यह होगा। यह तो आदत बिगड़ गयी है कि कुछ करके लो और कुछ छोड़कर लो। नींदका सुख सब छोड़कर लेते हैं और भोगका सुख कुछ करके लेते हैं। दो ही बात दुनियाको मालूम हैं और यही दो बात वेदान्त नहीं बताता है। जो दुनियाको प्रमाणसे नहीं मालूम है वह अज्ञातज्ञापक वेदान्त है। वेदान्तगृहीत ज्ञापक या अनुवादक नहीं है, अज्ञातज्ञापक है। वह बताता है ऐसा सुख जो तुम्हारी आत्मा है, जो तुम्हें छोड़कर कभी अलग नहीं हो सकता। जो तुम हो वही तुम्हारा सुख है। जो तुम हो वही अमृत है वही अनन्तत्व है, वही परमानन्द है। केवल भूल मिटनेसे यह मिलता है, समझसे नहीं।

ज्ञान पुरुषतन्त्र नहीं है। प्रमाण चीजको पैदा नहीं करता, दिखाता है। आँख प्रमाण है। वह घड़ीको पैदा नहीं करती, मौजूद घड़ीको दिखाती है। वेदान्त प्रमाण है। वह तुम्हारे अन्दर ब्रह्मता पैदा नहीं करता, मौजूद ब्रह्मताको बताता है। एक बार नासमझी मिटी तो खेल खतम, पैसा हजम। •

( ४. २५ )

# उत्तर पक्ष—८

## ज्ञानक्रियाका विषय ब्रह्म नहीं है

**मूल भाष्य :**

**न च विदिक्रियाकर्मत्वेन कार्यानुप्रवेशो ब्रह्मणः, 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' ( केन० १.३ ) इति विदिक्रिया-कर्मत्वप्रतिषेधात्, 'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्' ( बृहदा० २.४.१३ ) इति च। तथोपास्ति क्रियाकर्मत्वप्रतिषेधोऽपि भवति—'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते' इत्यविषयत्वं ब्रह्मण उपन्यस्य, 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' ( केन० १४ ) इति।** ( क्रमशः )

**भाष्यार्थ :** 'विदि' ( जानना ) क्रियाके कर्मरूपसे भी ब्रह्मका कार्यके साथ सम्बन्ध नहीं है, श्रुतिमें विदि क्रियाके कर्मरूपसे निषेध होनेके कारण। श्रुति हैं : 'यह विदितसे भी अन्य है और अविदितसे भी अन्य है', 'जिससे यह सब जाना जाता है उसको किससे जानोगे ?' 'उपास्ति' क्रियाके कर्मरूपसे भी ब्रह्मसम्बन्धका निषेध है : 'जो वाणीसे प्रकाशित नहीं होता, वाणी जिससे प्रकाशित होती है'। 'उसको ही तू ब्रह्म जान, जिस इदम्‌की लोग उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है' इस श्रुतिसे ब्रह्मको इन्द्रियोंका अविषय बताया गया है।

अब यह प्रश्न उठाते हैं कि ब्रह्म ज्ञानका विषय है या नहीं ? क्योंकि विद् धातु सकर्मक है जिससे विद्या शब्द निष्पन्न होता है इसलिए ब्रह्मको विदि क्रियाका कर्म होना चाहिए, यह पूर्व पक्ष है। जैसे हम आँखसे कागज देखते हैं तो हम हुए प्रमाता, आँख

हुई प्रमाण और कागज हुआ प्रमेय या देखने-रूप ज्ञानका विषय। इसी प्रकार हम ज्ञाता और ज्ञानके द्वारा ब्रह्मको प्रमेय रूपमें जान सकते हैं या नहीं ? यह प्रश्न है।

ब्रह्म विधिका विषय नहीं है, यह विचार तो कर लिया। ब्रह्म उत्पाद्य, विकार्य, संस्कार्य, आप्य नहीं है, माने धर्मका विषय नहीं है, यह विचार भी हो चुका। अब ब्रह्म तो है, परन्तु आश्चर्य यह है कि ब्रह्म अद्वितीय होनेपर भी, कूटस्थ होनेपर भी, सदा, सर्वत्र, सर्वरूपमें विद्यमान होनेपर भी, अपनी आत्मा ही होनेपर भी मालूम नहीं पड़ता है, पहचानमें नहीं आता है!

ब्रह्मकी जो यह गैर-पहचान है (स्वामी प्रेमपुरीजीके शब्दोंमें) अर्थात् ब्रह्म यहीं मौजूद होनेपर भी, इसी समय मौजूद होनेपर भी, यही होनेपर भी हम जो उसको पहचान नहीं रहे हैं, बस यही एक कारण है परमात्माके न मिलनेका, दूसरा कोई कारण नहीं है।

तब आओ पहचान लें! घटिया निकलेगा तो छोड़ देंगे, बढ़िया होगा तो प्रेम कर लेंगे और घटिया-बढ़िया दोनों नहीं होगा तो उपेक्षा कर देंगे, मगर पहले जान लें! और यदि वह अपना आपा ही निकलेगा तब पकड़ना-छोड़ना, उपेक्षा करना किसीकी भी जरूरत नहीं रह जायेगी।

अच्छा जी, जान लें ब्रह्मको! परन्तु ब्रह्म तो फिर ज्ञानका विषय होना ही चाहिए! जानना क्रिया ( विदि क्रिया )का कर्म हुआ फिर ब्रह्म! बोले नहीं, विदि क्रियाके कर्मरूपसे भी ब्रह्मका कार्यके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है :

**न च विदिक्रिया कर्मत्वेन कार्यानुप्रवेशो ब्रह्मणः**

ब्रह्मका ज्ञान घट-पटके ज्ञानकी तरह नहीं है।

आप लोगोंने यह ब्रह्म-कथा तो सुनी ही होगी? व्रजमें दो

साधु कुएँपर बैठकर ब्रह्मचर्चा कर रहे थे कि जो अविद्यावच्छिन्न है वह भी ब्रह्म है और जो मायावच्छिन्न है वह भी ब्रह्म है। कुएँपर कोई व्रजवासिन भी पानी भर रही थी। उसने सुना तो उसने अपनी सहेलियोंसे पूछा कि जिस ब्रह्मकी साधु चर्चा करते थे वह ब्रह्म कौन है? सहेलियोंमें-से किसीका कोई भाई-भतीजा उधर आया तो उसकी बहनने वही सवाल उससे कर दिया। वह बोला : 'क्या सिर मारती हो तुम लोग। हमारे लाला (श्रीकृष्ण)-का ही कोई साला रहा होगा वह ब्रह्म।'

ये दुनियादार जब लोग ब्रह्मके बारेमें विचार करते हैं तो ऐसे ही समझते हैं कि जैसे इन्द्रियोंके द्वारा घट-पट मठको जानते हैं ऐसे ही ब्रह्मको भी जाना जाता होगा, अर्थात् ब्रह्म हमारे ज्ञानका कर्म अथवा ज्ञानका विषय होगा। ऐसी जो जाननेके बारेमें कल्पना है वह निगुरा लोगोंकी है। जो लोग ब्रह्मज्ञानके मार्गमें कायदेसे नहीं चलते, अपने आप ही किताब पढ़कर ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करते हैं, वे लोग ऐसी कल्पना करते हैं। केनोपनिषद्का कहना है :

**अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि**

वह ब्रह्म विदितसे भी निराला है और अविदितसे भी निराला है।

यह सामने रखी घड़ी विदित है, ज्ञात है, परन्तु कलकत्तेमें कोई तिन्ने खाँ नामका व्यक्ति है वह हमारे लिए अविदित है, अज्ञात है। ब्रह्म दोनोंसे विलक्षण है।

सातवें आसमानके ईश्वरके बारेमें लड़ाई है कि वह चार हाथवाला है या दो हाथवाला है, गोरा है कि काला है! परोक्ष असलमें परोक्ष है, वह चाहे कोई भी देवता हों—विष्णु हों, शिव हों, शक्ति हों, गणेश हों; जिसको देखा नहीं है उसके प्रति चाहे जितने विकल्प कर सकते हैं। तो परोक्ष भी विदितसे निराला हो सकता है और अविदितसे निराला हो सकता है।

तब क्या ब्रह्म परोक्ष है ? नहीं, वह नित्य अपरोक्ष है, 'मैं' रूपसे सबको ज्ञात है। परन्तु जिस रूपमें 'मैं' ज्ञात है और जिस रूपमें ज्ञात नहीं है उन दोनोंसे विलक्षण है आत्माका स्वरूप ! संसारमें जितनी वस्तुएँ ज्ञात हैं अथवा अज्ञात हैं, उन सबसे विलक्षण है ब्रह्मका स्वरूप !

अच्छा, सब चीजें जानकर ही मानी जायँ, यह नियम क्यों बना रहे हो ? अपने आपका होना किस इन्द्रियसे देखकर मानते हो ? बल्कि इन्द्रियोंका होना तुम्हारे होनेसे मालूम पड़ता है। तुम ज्ञानके विषय नहीं हो बल्कि तुम्हारी वृत्तियोंमें जितना घट, पट, मठका ज्ञान आता है उसको तुम प्रकाशित करते हो ! तो बाबू, जरा आँखके सामने ही मत देखो कि क्या है जरा आँखके झरोखेसे झाँकनेवालेको भी तो देखो कि वह कौन है ?

वह कौन है जो आँखके झरोखेसे देखता है, कानके झरोखेसे सुनता है, त्वक्के झरोखेसे स्पर्श करता है, नाकके झरोखेसे सूँघता है, जीभके झरोखेसे स्वाद लेता है ? ये पाँच द्वार जिसके विषय ग्रहणके द्वार हैं और जो पाँचोंमें एक है, वह कौन है ?

ठीक है, ऐसा तो लगता है कि मैं हूँ, इसमें कोई इन्द्रियकी जरूरत नहीं हैं। परन्तु स्वामी रामातीर्थने ठीक ही कहा है कि केवल जाग्रत्-अवस्थाके आधारपर ही सत्यका निर्णय नहीं हो सकता। वे पूछते हैं कि वह कौन है जो बिना शरीरके सपना देखता है और नये-नये शरीरोंकी रचना कर लेता है ? वह कौन है जो सबके सो जानेपर भी घोर सुषुप्तिमें जागता रहता है ?

अच्छा, ठीक है, मैं मानता हूँ कि 'मैं' हूँ। किस प्रमाणसे ? स्वतः प्रमाणसे। मैं तो हूँ ही, प्रमाण तो मेरे बादमें आते हैं :

**येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् ?**

बृहदारण्यककी यह श्रुति ( २.४.१४ ) प्रश्न करती है कि जिससे

सब कुछ जाना जाता है उसे किससे जानोगे? अर्थात् आत्मा ज्ञानका विषय नहीं है।

काल कल था, आज है और कल रहेगा—यह तुम हो इसलिए जान रहे हो, न होते तो कौन जानता? यह पश्चिम, पूर्व और इनका भेद तुम हो अतः जान रहे हो, न होते तो कौन जानता? ये इन्द्रियाँ हैं, यह अन्तःकरण है, यह प्रमाण है, यह प्रमेय है, यह सब तुम हो तभी जान रहे हो, तुम न होते तो कौन जानता?

किस इन्द्रियसे जानते हो कि मैं हूँ? अपने बारेमें क्या अनुमान करते हो कि मैं हूँ या नहीं? अनुमान तो परोक्षके बारेमें होता है। उपमान दूसरेके बारेमें होता है। क्या ऐसे सोचते हो कि जैसे दूसरा जिन्दा है वैसे मैं भी जिन्दा हूँ? नहीं, ऐसा सोचा जाता है कि जैसे मैं जिन्दा हूँ वैसे दूसरा भी जिन्दा है! सबके शरीरमें जीव है, सबके शरीरमें ईश्वर है, यह तुम्हीं तो जानते हो! जाग्रतादि अवस्थाएँ होती हैं, यह तुम्हीं तो जानते हो! सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय होता है इस कल्पनाके आश्रय तुम्हीं हो।

तो नारायण! तुम्हारी महिमा बड़ी भारी है। इधर तो तुम्हारी नजर ही नहीं जाती! तुमने किसीको राजा माना, किसीको बाप माना, किसीको बेटा माना, किसीको प्रेमी माना, परन्तु कभी अपनेको भी कुछ माना? आपने सबको मूल्य दिया—पैसेको, भोगको, मानको, परन्तु सबके लिए जो आपने अपने आपको लगा दिया है उसमें आपकी कीमत कहाँ है? यह जो जीवन है आपका, उसमें आपने अपने सत्स्वरूपकी ओरसे आँख फेरकर, स्वयंप्रकाश, अखण्ड आनन्दस्वरूपकी ओरसे आँख फेरकर इस देहको पलंगपर सुलाया और कहा कि पलंग बहुत बढ़िया है, बालोंपर कंघी फेरी और कहा कि बाल बहुत बढ़िया है;

शरीरकी चमड़ी छूई और बोल उठे शरीर बहुत बढ़िया है। इन सबकी कीमत तो तुमने बनायी परन्तु कभी यह भी देखा कि जो अपरिवर्तनशील आनन्द है, जो अखण्डानन्द है, परिपूर्णानन्द है, अद्वयानन्द है, वह तुम स्वयं हो? इतनी बड़ी वस्तुको छोड़ करके मैं कहाँ लगा हूँ, इसपर कभी विचार किया? चाहते थे ब्याज, यहाँ तो मूल भी खो गया।

वृद्धिम् इच्छतः मूलमपि नष्टम्।

जिससे सब जाना जाता है उसे किस प्रमाणसे जानोगे? वह किस प्रमाणका विषय होगा? उसके लिए न कोई प्रमाण है और न वह प्रमाणका विषय है।

जो आँखके सामने रहकर आँखके द्वारा सिद्ध होता है उसमें तुम अपने आपको नहीं पा सकते। जो आँखके पीछे रहकर आँखके झरोखेसे झाँकता है उसको जानोगे तो आपा पा जाओगे!

व्यवहार प्रमाणका विषय है, परमार्थ प्रमाताका स्वरूप है।

बाँधकी बात है। कोई सत्ताइस वर्ष पहलेकी बात है। मैं श्री उड़िया बाबाजी महाराजके पास गया हुआ था। खजूरकी चटाईपर बैठे थे। सत्संग चल रहा था। एक अवधूतजी आये, लंगोटी लगाये हुए। बड़े रूखे-रूखेसे लगते थे। वे बोले: वृत्ति ब्रह्मको कैसे विषय कर सकती है?

बाबा: वृत्ति ब्रह्मको विषय नहीं करती, तुमको यह कैसे मालूम हुआ?

अवधूत: महाराज, ब्रह्म ऐसा है, ऐसा है और अपनी आत्मा है।

बाबा: (यदि तुमने ब्रह्मके विषयमें 'आत्मा है' ऐसा जान लिया तो) अब ब्रह्मको वृत्तिसे विषय करनेकी जरूरत नहीं है। यदि प्रत्यक्त्वेन, अर्थात् आत्म स्वरूपसे, ब्रह्मको नहीं जानेंगे तो

यह भी नहीं जान पायेंगे कि वृत्ति ब्रह्मको विषय नहीं कर सकती। यदि 'ब्रह्म निराकार, निर्विशेष इत्यादि है और अन्य है' ऐसा मानते हो, तब तो वृत्ति ब्रह्मको विषय कर ही रही है, परन्तु यह विषय होना कल्पित है। जब ब्रह्म आत्मा है ( वृत्तिका आश्रय ) ऐसा जान लिया, अर्थात् जो वृत्तिका प्रकाशक है वही देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न ब्रह्म है यह जान लिया, तो वह वृत्तिका विषय नहीं हो सकता।

एक बार मैंने भी बाबासे पूछा था। हमें और तरहसे समझाया था। बोले : 'देखो, ब्रह्म वृत्तिका अविषय है, यह जानना ही वृत्तिका विषय होना है। ऐसा जानकर वृत्ति बाधित हो गयी !'

× × ×

अब दूसरा प्रश्न उठाते हैं कि ब्रह्म उपास्ति क्रियाका कर्म है या नहीं ? अर्थात यदि ब्रह्मको ज्ञान-क्रियाका विषय न भी मानो तो ब्रह्म उपास्य होनेसे उपास्ति क्रियाका तो विषय होना ही चाहिए।

बोले नहीं, ब्रह्म उपासनाका विषय भी नहीं है।

क्यों ? क्योंकि श्रुति इसका भी निषेध करती है :

**तथोपास्तिक्रियाकर्मत्वप्रतिषेधोऽपि भवति।**

उपासनाका अर्थ है—मनोभावसे अन्यमें अन्य मनोभाव जैसे शालिग्राममें मनोभावसे नारायण-बुद्धि करना। परन्तु यहाँ केनोपनिषद्की श्रुति कहती है कि :

**यद् वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।**
**तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥** ( १.५ )

ब्रह्म ऐसी वस्तु है जो कभी जूठी नहीं हुई। जीभपर बात आयी कि जूठी हुई। तो वाणीसे बोला जाता है सो नहीं, जिसके

होनेसे वाणी बोलती है उसका नाम है ब्रह्म। इदम् रूपसे अर्थात् विषयरूपसे लोग जिसकी उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है। 'नेदं यदिदमुपासते'से यह बात कही गयी है कि तुम्हारी बुद्धि प्रत्यक्-प्रवण होनी चाहिए। उसमें जो प्रमाता है, द्रष्टा है, अहमर्थ है, उसको ढूँढनेकी प्रवृत्ति होनी चाहिए।

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ (केन० १.६)

'मनसे जिसका मनन नहीं हो सकता जिसके द्वारा मन मनन करता है उसीको तू ब्रह्म जान।' वह मनसे मत नहीं होता उसीसे मन मत होता है, इसका अर्थ है अपना आपा ही ब्रह्म है। जो इदम् है, जिसकी लोक उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है, 'इदम् यद् इदम् यत् लोकाः उपासते तत् ब्रह्म न'। इस प्रकार ब्रह्म उपासनाका विषय नहीं है, ज्ञानैकगम्य है।

ऐसे आत्माको जानकर क्या करेंगे? बोले: क्यों नहीं जानना चाहते हैं? विफल है इसलिए या जाननेका कोई यन्त्र आपके पास नहीं है इसलिए? जानना विफल नहीं है क्योंकि जाननेकी तो बड़ी भारी महिमा बतायी है शास्त्रमें: तमेवं विद्वान् अमृत इह भवति ( नृसिंह ता० १.१.६ ) तुम देखोगे कि सारी दुनियामें जितने लोग सुखी हो रहे हैं वे सब तुमको चाट-चाटकर सुखी हो रहे हैं। एतस्यैवा आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्रानुपजीवन्ति ( बृहदा० ४.३.३२ ) वह रस तुम हो। रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति ( तै० उप० २.७.१ )।

तुम बूँद-बूँद रसके लिए दीन हीन हो करके दुनियामें भटक रहे हो कि हमको सुख मिलेगा, स्त्रीमें सुख मिलेगा, कि पुरुषमें मिलेगा कि पुत्रमें मिलेगा कि धन-मकानमें मिलेगा या विलायतमें मिलेगा। जिस सुखके लिए व्याकुल होकर तुम छटपटा रहे हो वह

सुख तुम्हारा स्वरूप है। उसीको चाट-चाटकर जूँसे लेकर ब्रह्मा-पर्यन्त सब जिन्दा हैं।

तुम रसस्वरूप हो और तुम कोकाकोलाके लिए दूसरोंकी दुकानमें जाते हो। जिसको जानकर तुम स्वयं अमृत हो जाते हो। **तमेवंविद्वान् अमृत इह भवति।**

जिसको जानकर तुम मृत्युसे पार हो जाते हो: **तमेव विदित्वा मृत्युमेति** ( श्वेताश्व० ३.८ ) वह तुम हो। **मत्वा धीरो हर्ष शोकौ जहाति** ( कठ० १.२.१२ )=जिसको जानकर हर्ष-शोक दोनोंको छोड़ देता है, वह तुम हो। जिसको जानकर पाप-पुण्य दोनों भस्म हो जाते है: **तत् सकृतदुष्कृते धुनुते**; जिस ( ब्रह्म )को जानकर ब्रह्म ही हो जाता है: **ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति**, वह तुम हो! तब जानना तो विफल है नहीं।

अब कहो कि हमारे पास ब्रह्मको जाननेका यन्त्र नहीं है, क्योंकि न तो उसे इन्द्रियोंसे जान सकते हैं, न मनसे, न बुद्धिसे। श्रुति चिल्लाती है; **न विद्मो न विजानीमः** ( केन० १.३ )। 'हम नहीं जानते, हम नहीं जानते।'

ठीक हैं, ब्रह्मज्ञानका विषय नहीं है परन्तु इसका यह भी तो अर्थ नहीं है कि ज्ञान ही नहीं है। यदि तुम देख नहीं सकते तो इसका यह अर्थ तो नहीं कि तुम ही नहीं हो। श्रुतिने कहा: **अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्** ( केन० २.३ )। जिसने कहा कि ब्रह्म बुद्धि और बुद्धिका विषय नहीं है उसने जान लिया, और जिसने कहा कि बुद्धिका विषय है अर्थात् उसने अनुभव किया कि 'मैंने जान लिया' तो उसने नहीं जाना।

फिर श्रुति ही कहती है कि ऋषि वामदेवने अपने आपको ही जाना: **आत्मानमेवावेत्** ( बृहदा० १.४.१० ) वेदके ऋषियोंने जाना: **वेदाऽहमेतं पुरुषं महान्तम्** ( श्वेताश्व० ३.८ )।

( ४. २६ )

# ब्रह्मको अविषय माननेसे दोषकी संभावनाका परिहार

**मूल भाष्य :**

अविषयत्वे ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वानुपपत्तिरिति चेत्, न:; अविद्याकल्पितभेदनिवृत्तिपरत्वाच्छास्त्रस्य। न हि शास्त्रमिदन्तया विषयभूतं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषति। किं तर्हि? प्रत्यगात्मत्वेनाविषयतया प्रतिपादयदविद्याकल्पितं वेद्य-वेदितृवेदनादिभेदमपनयति। तथा च शास्त्रम्—'यस्याऽमतं तस्य मतं, मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्' ( केन० २.३ ) 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः' 'न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः' ( बृहदा० ३.४.२ ) इति चैवमादि। अतोऽविद्याकल्पितसंसारित्वनिवर्तनेन नित्यमुक्तात्मस्वरूपसमर्पणान्न मोक्षस्यानित्यत्वदोषः।

**भाष्यार्थ :**—यदि कहो कि ब्रह्मको ( ज्ञानका ) अविषय माननेसे शास्त्र उसकी योनि भी सिद्ध नहीं हो सकता तो ऐसा

नहीं है। क्योंकि शास्त्र तो अविद्यासे कल्पित भेद-निवृत्तिके लिए है। शास्त्र इदंतया विषयभूत ब्रह्मका प्रतिपादन नहीं करना चाहता। तब क्या करना चाहता है? 'ब्रह्म प्रत्यगात्मरूपसे अविषय है' ऐसा प्रतिपादन करता हुआ, अविद्यासे कल्पित ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयके भेदको शास्त्र निवृत्त करता है। जैसे श्रुतिमें कहा है कि 'जिसका अमत है उसका मत है, जिसका मत है वह नहीं जानता। जो कहता है ब्रह्म अविषय है वह जानता है, जो कहता है ब्रह्म बुद्धिका विषय है वह नहीं जानता।' 'दृष्टिके द्रष्टाको नहीं देख सकते' 'बुद्धिके जाननेवालेको बुद्धिसे नहीं जान सकते'। ऐसी और भी श्रुतियाँ हैं। अतः अविद्या-कल्पित संसारित्वके निवर्तनके द्वारा नित्यमुक्त आत्माके स्वरूप-समर्पण होनेके कारण मोक्षमें अनित्यत्व दोष नहीं है।

## १. दोषकी सम्भावना

केनोपनिषद्की श्रुतिने यह बात कही कि जो मनसे, वाणीसे, नहीं जाना जाता है बल्कि मन, वाणी जिसके होनेसे अपना-अपना कार्य करती है वह ब्रह्म है। उसीको तू ब्रह्म जान। प्रत्यक्-चैतन्य अहम्‌से भिन्न इदम्‌का, जिसकी दुनिया उपासना करती है, वह ब्रह्म नहीं है। दूसरे शब्दोंमें अपने आत्माको ही तुम ब्रह्म जानो।

एकबार मैंने गुरुग्रंथ साहबका वाचन किया। बाबूजी और श्री हरिबाबाजी महाराजने 'जपुजी साहेब' और 'गुरु ग्रंथसाहब' का अर्थ करके बताया। उसमें एक बात मिली (जो बादमें तो सर्वत्र मिली ही) कि जब तुम्हें पहले-पहल सृष्टिका अनुभव होता है तो अहंपूर्वक 'इदम्'का अनुभव होता है। पहले अहम् होता है, फिर इदम् होता है। इदम् बदलता रहता है और अहम् एक रहता है। इदम्‌से अहम् सूक्ष्म है। इसलिए जब परमात्माको

ढूँढकर निकालते हैं तो अहम्‌में-से ढूँढकर निकालते हैं ! इदम् सापेक्ष्य है, प्रकाश्य है और बाह्य है, अहम् निरपेक्ष है, प्रकाशक है और आन्तर है। इसलिए ब्रह्मका ज्ञान अहमत्वेन ही होता है।

ब्रह्म आत्मा होनेसे ज्ञान या उपासनाका विषय नहीं हो सकता। ठीक, परन्तु पूर्वपक्षी कहता है कि तुम्होंने तो प्रतिज्ञा की थी कि 'शास्त्रयोनित्वात्' अर्थात् ब्रह्म शास्त्रैकगम्य है। यदि ब्रह्म ज्ञानका अविषय होगा तो तुम्हारी प्रतिज्ञा झूठी हो जायगी ! प्रश्न तो था कि : तं तु औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि=( बृहदा० ३.९.२६. ) हम उपनिषद्‌के प्रतिपाद्य पुरुषके बारेमें पूछते हैं। और अब तुम कहते हो कि शास्त्रको वहाँ अगति है, ब्रह्म ज्ञानका अविषय है।

**ततश्च शान्तिकर्मणि वेतालोदय इति भावः** ( भामती )

भामतीकारने कहा कि यह तो ऐसी ही बात हो गयी कि गये थे शान्तिकर्म करने और उस कर्ममें-से वेताल निकल आया। कह तो यह रहे थे कि ब्रह्म कर्मका विषय नहीं है अन्यथा वह अन्य हो जायेगा और उपासनाका विषय नहीं है क्योंकि वह ब्रह्म नहीं रहेगा, बनावटी हो जायेगा। इन दोनोंसे बचानेके लिए तुमने ब्रह्मको कर्म और उपासनाका अविषय बताया, अर्थात् यह शान्ति कर्म किया। परन्तु अविषय बताना ही स्वयं वेताल बन गया क्योंकि 'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्रकी प्रतिज्ञासे विरोध हो गया !

ब्रह्म शास्त्रैकगम्य भी है और ज्ञानका अविषय भी है, इस बातको समझना चाहिए। बड़े-बड़े वेदान्तियोंके मनमें यह रहता है कि ज्ञानका प्रभाव या फल हमारे शरीर या अन्तःकरणमें ही होना चाहिए। जैसे गड़े हुए धनके ज्ञानसे सुख होता है अन्तः-करणमें, कम-से-कम वैसा सुख तो हो ही। इसका अर्थ हुआ कि शरीरधारीके भोगका साधन है ब्रह्मज्ञान ! ब्रह्म हो गया भोग्य

और शरीरधारी हो गया भोक्ता। यह तो देहमें ही अभिमानकी दशा है, ब्रह्मज्ञानकी दशा नहीं है।

कन्याकुमारीमें एक ब्रह्मचारी थे, गायत्रीका जप करते थे! शरीरसे सुन्दर बहुत थे। तो थोड़ा जप करते और फिर शीशा देखते कि चेहरेपर कुछ चमक-दमक आयी है या नहीं! हे भगवान्! क्या गायत्री-जपका फल यही है?

ब्रह्मज्ञानका फल तो केवल अविद्या-निवृत्ति है जिससे अपनेमें अविद्या-कल्पित जीवभावकी निवृत्ति हो जाती है। जीवभावका अर्थ है कि किसी भी परिच्छेदको, किसी भी टुकड़ेको मैं या मेरा मानना। साढ़े तीन हाथ लम्बा शरीर, सौ-पचास सालकी उम्र-वाला शरीर, एक-दो मन वजनवाला शरीर, इसमें मैं-मेरा करता हुआ पापी-पुण्यात्मा, सुखी-दुःखी, आने-जानेवाला माना हुआ व्यक्तित्व, इसको मैं-मेरा मानना यह सब जीवभावके अन्तर्गत हैं। यह भ्रान्ति है, भूलसे, अपनी असलियतको न जाननेसे है।

वेदान्त न तो चेहरेपर चमक लाता है; न पैसा लाता है और न जहर हो सकता है या रोग मिटाता है। हाथीसे हल मत जुतवाओ! ब्रह्मज्ञान केवल अविद्याको दूर करनेके लिए है।

**प्रश्न :** जब ब्रह्म ज्ञानका विषय ही नहीं है तब अविद्या निवृत्त भी कैसे होगी?

**उत्तर :** ब्रह्म ज्ञानका अविषय तभी नहीं हो सकता जब वह स्वयं आत्मा हो। ब्रह्म हमारी आत्मा है और आत्मा ब्रह्म है, यह जानना ही तो ब्रह्मको जानना है।

जो विषयको प्रकाशता है वही अविषय है। विषय, विषयकी जातियाँ (उनके अवान्तर और प्रकार भेद) तथा विषयका अभाव इनको जो प्रकाशता है, विषयता और अविषयताको जो जानता है, वह आत्मा बिलकुल विषयसे निष्क्रान्त है। कौन

जानता है ? मैं जानता हूँ। मैं ( आत्मा ) ही निर्विषय हूँ। जो विषयोंसे अलग रहकर विषयोंको प्रकाशित करे वही निर्विषय है, विषयोंके अभावका नाम निर्विषय नहीं है ( विषयका अभाव भी विषय है )। जैसे **गुणेभ्यो निष्क्रान्तः निर्गुणः** ( जो गुणोंसे निष्क्रान्त है सो निर्गुण ) उसी प्रकार **विषयेभ्यः निष्क्रान्तः निर्विषयः** ( जो विषयोंसे निष्क्रान्त है सो निर्विषय )।

जो कहते हैं गुण ही गुणोंको प्रकाशित करते हैं उनका मत आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रकापत्ति आदि दोषोंसे आक्रान्त है।

अपनी निर्विषयता वेद-प्रतिपादित नहीं है, वह स्वतः सिद्ध है, बल्कि पहले निर्विषय आत्मा सिद्ध हो लेगा तब अन्तःकरण और वेद, विद्या सिद्ध होंगे। आपके ध्यानमें यह बात होगी कि तैत्तिरीय उपनिषद्में यजुर्वेदको मनोमय कोषके अन्तर्गत बताया गया है। ( क्योंकि तैत्तिरीय उपनिषद् यजुर्वेदका उपनिषद् है इसलिए यजुर्वेदको तीतर पक्षीका सिर कहा है ( २.३.१ )। वास्तवमें सम्पूर्ण वेदोंसे तात्पर्य है। ) आनन्दमय कोषमें वेद कहाँ ठहरता है ? सुषुप्तिमें वेद अवेद हो जाते हैं ऐसा बृहदारण्यक उपनिषद्में कहा गया है। **तत्र वेदा अवेदा भवन्ति** ( ४.३.२२ )। और आत्मदेव स्वयं अविषय, स्वयंप्रकाश !

यह जो निर्विषय, स्वयंसिद्ध, स्वयंप्रकाश आत्मा है, उसके बारेमें तुम्हारेमें एक भ्रान्ति है कि वह अणु-विभु है, कर्ता-भोक्ता, सुखी-दुःखी, पापी-पुण्यात्मा, आने-जानेवाला, परिच्छिन्न जीव है। इस भ्रान्तिके बाप अज्ञानको मिटानेके लिए वेदान्त आत्माके ब्रह्मत्वका प्रतिपादन करता है। 'मैं नहीं हूँ, मैं जड़ हूँ, मैं अप्रिय हूँ' यह भ्रान्ति नहीं है। सच्चिदानन्द अंशमें भ्रान्ति नहीं है। उसकी अनन्तता अद्वितीयताके अंशमें भ्रान्ति है, उसको वेदान्त दूर करता है।

तुमको तुम्हारी ब्रह्मताका बोध नहीं कराता वेदान्त, वह तुम्हारे अपनी ब्रह्मताको मिटा देता है, तुमको ज्ञानका विषय नहीं बनाता वेद, तुम्हारे बारेमें जो भ्रान्ति है उसको मिटाकर चरितार्थ हो जाता है, इतना ही काम वेदका है। इसलिए आत्माके अविषय होनेपर भी उसकी ब्रह्मताका जो अज्ञान है उस अज्ञानको मिटानेके लिए शास्त्रैकयोनिता बिलकुल ठीक है, उससे कोई विरोध नहीं है।

## २. ब्रह्मके इदंतया निरूपणका निषेध

'षिञ् बन्धने' धातुसे 'वि' उपसर्ग लगाकर विषय शब्द बनता है जिसका अर्थ है विशिष्ट बन्धन। व्युत्पत्तियाँ तो और भी हैं। शास्त्रोंमें—कोई पाँच व्युत्पत्तियां प्राचीन ग्रन्थोंमें हैं। यहाँ हमें उनसे मतलब नहीं है।

विषय = विशिष्ट बन्धन। विशिष्टता बन्धनकी यह है कि रस्सी तो कहीं है नहीं परन्तु हमें बाँधे हुए है। कोई चीज ( विषय ) दीखा और हम उसे 'मैं–मेरा' मानने लगते हैं—यही विषयका बन्धन है।

यह बात बिलकुल निश्चित है कि आत्मा निर्विषय है और निर्बन्ध है! कितने विषय आये और चले गये तुम्हारे सामनेसे, परन्तु तुम तो ज्यों-के-त्यों हो। रुपया-पैसा आया-गया, नाते-रिश्ते आये-गये, बाल उगे झड़ गये, रोग आये चले गये, अनेकों जीये और मर गये! लेकिन तुम अविषय ज्यों-के-त्यों हो। विषय जिससे सिद्ध होते हैं वह तुम हो। मालूम पड़ते हुए विषयोंको प्रकाशित करके जो विषयसे न्यारा रहता है वह तुम हो!

निर्विषयत्व आत्माका स्वतःसिद्ध स्वरूप है और ब्रह्मत्व भी असलमें स्वतःसिद्ध ही है। परन्तु एक ऐसी जो भूल है कि हम

अपनेको विषयके साथ एक मिलाकर अपनेको परिच्छिन्न मानते हैं, वह हमारी ब्रह्मताका आवरक बनी हुई है। जब तुम अपनेको— अपरिच्छिन्न ब्रह्मको जानोगे तो तुम सारी परिच्छिन्नताओं और उनके अभावको भी अपरिच्छिन्न अधिष्ठान अनुभव करोगे और परिच्छिन्नताएँ सारी मिथ्या हो जायेंगी।

वस्तु-ज्ञानमें दो हिस्से होते हैं: १. विषय ( वस्तु )के आवरणका भंग, तथा २. वस्तुको जानना ( जाननेकी वृत्तिका उदय होना कि मैं अमुक विषयको जानता हूँ )।

अन्धेरेमें घड़ा है। कैसे देखें उसे ? रोशनी करो। रोशनी हुई, रोशनी व्याप्त हुई घड़ेमें, आँखकी रोशनी और घटव्याप्त रोशनी मिल गयीं, यह घटका आवरण भंग होना है। सूर्य या दीपक ( बाह्य रोशनी )की सहायतासे जब आँखकी रोशनी व्याप्त होती है तब घटका आवरण भंग होता है। रोशनी हो पर आँख न हो, या आँख हो परन्तु बाहरी रोशनी न हो, तो घटावरण भंग नहीं हो सकता। व्याप्ति अर्थात् घटाकार-वृत्तिका उदय अन्तःकरणमें। इसे **वृत्ति-व्याप्ति** कहते हैं। अर्थात् वृत्तिका घड़ेके आकारमें व्यापना या परिणत होना।[1]

इसके पश्चात् ( वृत्तिव्याप्तिके पश्चात् ) बुद्धि-क्षेत्रमें दो प्रक्रियाएँ होती हैं: घटाकार-वृत्तिका मूल्यांकन या निर्धारीकरण जिसका स्वरूप है यह ज्ञान कि 'यह घट है' ( अयं घटः ); तथा यह अभिमान कि मैं घटको जान गया ( अहं घटं जानामि )। ये दोनों प्रतिक्रियाएँ **फलव्याप्ति** शब्दसे जानी जाती हैं। 'फलव्याप्ति' भी अभिमान वृत्तिरूप ही है और इसलिए यह आभास ( बुद्धिमें चैतन्याभास=जीव ) के साथ सीधे सम्बन्धित

---

१. इसको ऐसे भी बोलते हैं कि नेत्र-वृत्तिका नेत्रसे बाहर जाकर घड़ेपर पड़ना और अन्धकारको हटाकर घटवत् होना।

है। 'अहंका घड़ेके ज्ञानके साथ जुड़ जाना' आभासमें फल व्याप्ति है।

अब ब्रह्मज्ञानकी क्या प्रक्रिया है ? उसमें वृत्तिव्याप्ति तो है परन्तु फलव्याप्ति नहीं है। उसमें अविद्यान्धकारका नष्ट होना तो है परन्तु 'यह ब्रह्म है' या 'मैं ब्रह्मको जान गया' पर आभासगत अभिमान नहीं है। कैसे ?

श्रुतिने कहा : 'अरे ओ शुद्ध-बुद्ध-मुक्त चेतन ! अरे ओ कालको बहते देखनेवाले चेतन ! देशको फैलते-सिकुड़ते देखनेवाले चेतन ! वस्तुओंके आकारको बनते-मिटते हुए देखनेवाले चेतन ! अरे ओ प्रकाशक ! अरे ओ अखण्ड दीप ! देश तो एक कल्पना है और तू उसका साक्षी है ! यह आकार, यह सेरभर या मनभर वजन, यह सब कल्पना है और तू इस कल्पनाका साक्षी है ! यह बच्चा, यह जवान, यह बूढ़ा इन सब कल्पनाओंको तू देखता है। तू इनसे निराला इनका साक्षी है। देख, काल तेरा स्पर्श नहीं करता, वस्तु तेरा स्पर्श नहीं करती ! तू इनके भाव और अभाव दोनोंका साक्षी है इसलिए तेरे स्वरूपमें ये दोनों मिथ्या हैं।

[ इस उद्‌बोधनके श्रवणसे जो बुद्धि-वृत्तिका अनन्तार्थमें अद्वयार्थमें परिणाम है वह परिच्छिन्नार्थका विरोधी होनेसे आत्मामें जो अल्पप्रत्ययका आरोप था उसको निवृत्त कर देता है और आत्माकी सहज ब्रह्मता प्रकाशित हो जाती है। इसमें ब्रह्मके जाननेके अभिमानका ( फलव्याप्तिका ) कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। ]

मिथ्याको भी समझना आवश्यक है। भावका प्रतियोगी अभाव है और सारे अभाव मुझमें होते हैं अतः मुझमें भाव मिथ्या है। एक ही रस्सीमें साँप भी है और साँपका अभाव भी है, अतः साँपका भाव और अभाव दोनों रस्सीमें मिथ्या है। जबतक

रस्सीको नहीं जानते हैं तबतक साँपका भाव है और जान गये तो साँपका अभाव है और रस्सीकी दृष्टिसे साँपका तीन कालमें अभाव ही है। इस प्रकार जबतक ब्रह्मको नहीं जानते हैं तबतक प्रपञ्चका भाव है और जब ब्रह्मको जान लेते हैं तो प्रपञ्चका अभाव हो जाता है तथा ब्रह्मदृष्टिसे ब्रह्ममें प्रपञ्चका नित्य अभाव ही है। इसलिए ब्रह्ममें प्रपञ्च मिथ्या है :

**स्वाभावाधिकरणे भासमानत्वम् मिथ्यात्वम्।**

अपने अभावके अधिकरणमें भासमान होना मिथ्या कहलाता है। इसके अनुसार जैसे : **सर्पाभावाधिकरणे रज्जुरूपे सर्पस्य भासमानत्वम् मिथ्यात्वम्।**

सर्पके अभावके अधिकरण रस्सीमें सर्पका भासमान होना मिथ्या है। वैसे ही—

१. प्रपञ्चके अभावके अधिकरण ब्रह्ममें प्रपञ्चकी भासमानता मिथ्या है।

२. दृश्य-प्रपञ्चके अभावके अधिकरण द्रष्टा चेतनमें दृश्य प्रपञ्चकी भासमानता मिथ्या है।

३. शान्त-प्रपञ्चके अभावके अधिकरण अनन्तमें शान्त-प्रपञ्चकी भासमानता मिथ्या है।

४. सदसत्-प्रपञ्चके अभावके अधिकरण सत्में सदसत्-प्रपञ्चकी भासमानता मिथ्या है।

५. सुख-दुःखरूप प्रपञ्चके अभावके अधिकरण आनन्दमें यह सुख-दुःखरूप प्रपञ्च मिथ्या है।

६. द्वैतरूप प्रपञ्चके अभावके अधिकरण अद्वैत तत्त्वमें द्वैतकी भासमानता मिथ्या है।

जो चीज जहाँ न हो यदि वहीं वह मालूम पड़े तो वह चीज

मिथ्या होती है। आकाशमें नीलिमा नहीं है परन्तु आकाशमें ही मालूम पड़ती है। इसलिए नीलिमा मिथ्या है। अनन्तमें शान्त मिथ्या है। आदित्व अनादित्वमें मिथ्या है। आकार सत्‌में मिथ्या हैं। दृश्यता चेतनमें मिथ्या है।

**स्वाधिष्ठाननिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम् मिथ्यात्वम्**

'अपने अधिष्ठानमें रहनेवाले अत्यन्ताभावका प्रतियोगी होना मिथ्याका लक्षण है।'

तो असलमें तुमने सत्य और मिथ्याका विवेक नहीं किया है। श्रवणसे, शास्त्र-ज्ञानसे, इसका विवेक करो कि सत्यका लक्षण अबाधितत्व है और मिथ्याका लक्षण अपने अभावके अधिकरणमें भासना है। फिर देखो कि ये लक्षण किसको मालूम पड़ते हैं? मैं नहीं हूँ, मैं नहीं जानता हूँ, मैं अप्रिय हूँ, यह अनुभव आप कर नहीं सकते। इसलिए आपको सिद्ध करनेके लिए प्रमाणकी आवश्यकता नहीं। परन्तु अपने स्वरूपके विषयमें जो अज्ञानसे भूल-सी हो रही है कि मैं विषयी हूँ, मैं अपरिच्छिन्न हूँ, मैं सुखी-दुःखी, कर्ता-भोक्ता संसारी जीव हूँ, वह अपने आपको न जाननेके कारण है, उस भूल और नासमझीको मिटानेके लिए वेदान्त है; ब्रह्मको विषय करनेके लिए वेदान्त नहीं है।

**अविद्याकल्पितभेदनिवृत्तिपरत्वाच्छास्त्रस्य।**

शास्त्रने बताया कि ब्रह्म ऐसा-ऐसा, तो आपकी बुद्धिमें स्फुरण होने लगा कि ब्रह्म ऐसा-ऐसा। इस स्फुरणके अधीन ब्रह्म नहीं है, यह ठीक है। पञ्चदशीमें प्रश्न उठाया कि ब्रह्म कैसा है? तत् कीदृक्? और उत्तर दिया:

**यदनीदृग् अतादृक् च तादृक् ब्रह्म इक्षिताम्**

जो न ऐसा है न वैसा है, जो न यहाँ है न वहाँ है, जो एक है

न दो है, जो यह, तू, वह, सब है और जो कुछ भी नहीं है, ऐसा है ब्रह्म !

आप यह बताओ कि आपने जो भेदकी कल्पना की है कि यह मैं हूँ, वह तू है, यह गोरा है कि काला है, यह स्त्री है या पुरुष है, यह मनुष्य है या पशु है, वह आपने समझ-बूझकर की है क्या ? आपने अपना नाम समझ-बूझकर माना है क्या ? नामका तो महाराज बड़ा व्यभिचार है। करोड़पति सेठ और नाम छदामीलाल। वैसे दरिद्र और नाम है—करोड़ीमल ! क्या तुमने कभी अपना असली नाम सोचा है ?

'हाँ जी, सोचा है, मेरा नाम है देहराम !'

'अरे देहराम नहीं, देहीराम तुम्हारा नाम है।'

'अच्छा आजसे देहीराम मानूँगा।'

'अरे नहीं, तुम्हारा एक नाम अदेहराम भी है।'

'अदेहराम ?'

'अरे अदेहराम ही नहीं, अप्रपञ्चराम भी तुम्हारा नाम है, अभेदराम भी तुम्हारा नाम है और ब्रह्मराम भी तुम्हारा नाम है।'

ये जो बिना सोचे-समझे अनेक नाम, अनेक रूप मान लिए गये हैं इनको हटा देनेके लिए वेदान्त है और हटा देनेके बाद तुम तो स्वयंप्रकाश निर्मल ब्रह्म हो।

**न हि शास्त्रमिदन्तया विषयभूतं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषति**

शास्त्र यह नहीं चाहता कि तुमको वह विषयके रूपमें ब्रह्मको बताये कि 'यह ब्रह्म है, यह ब्रह्म है।'

**किं तर्हि ? प्रत्यगात्मत्वेनाविषयतया प्रतिपादयदविद्याकल्पितं वेद्यवेदितृवेदनादिभेदमपनयति।**

तब शास्त्र क्या चाहता है ? शास्त्र यह करता है कि जो तुम्हारी प्रत्यगात्मा है उसके रूपमें ब्रह्म अविषय है; ऐसा प्रतिपादन करता हुआ शास्त्र अविद्यासे कल्पित ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयके भेदको निवृत्त करता है।

प्रत्यगात्मा अर्थात् स्वयं आप, स्वयं मैं, स्वयं वह। स्वयंताको आत्मा बोलते हैं। प्रत्यगात्मा अर्थात् प्रत्यक् आत्मा = भीतरवाला आत्मा।

**प्रतीपम् अञ्चति इति प्रत्यक्**

आँखके पीछे बैठकर जो आँखके द्वारा पुस्तकको देख रहा है वह है प्रत्यक्। विषयोंसे विपरीत दिशामें इन्द्रियोंके पीछे रहकर जो इन्द्रिय और विषय दोनोंको प्रकाशित करता है उसका नाम है प्रत्यक् और प्रत्येकका वह 'स्वयं' होनेसे उसीका नाम प्रत्यगात्मा है।

**प्रतीन्द्रियं प्रतिवृत्ति प्रतिकर्म प्रत्यन्तःकरणम् अञ्चति इति प्रत्यक्**

इन्द्रियाँ, वृत्ति, कर्म, शरीर, अन्तःकरण, देश, काल, वस्तु—ये सब अलग-अलग हैं। उनमें जो एक है उसका नाम है प्रत्यक्।

तो यह जो प्रत्यगात्मा है वह न कर्मका विषय है, न उपासनाका; न प्रमाणका विषय है, न संस्कारका; न विकारका विषय है और न अविषय ही है। इसीमें इसके स्वरूपको न जाननेके कारण अविद्यासे ऐसी कल्पना कर ली गयी है कि हम जाननेवाले हैं, ये जाननेके साधन हैं और ये जाने जानेवाले हैं। यही वेद्यवेदितृवेदन अथवा ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयकी त्रिपुटी है। इस अविद्या-कल्पित भेदको मिटानेके लिए वेदान्त है, ब्रह्मको विषय करनेके लिए वेदान्त-शास्त्र नहीं है।

## ३. प्रमाण-त्रिपुटीके भेदका मिथ्यात्व

प्रश्न यह चल रहा है कि ब्रह्म ज्ञानका अविषय है और इसलिए शब्दका भी अविषय है। परन्तु शास्त्र जो स्वयं शब्द-राशि हैं वह ब्रह्मकी योनि है। 'शास्त्रयोनित्वात्' यह पहले प्रतिज्ञा कर चुके हैं। इस प्रकार यह विरोध उपस्थित होता है। दूसरे शब्दोंमें यह बात कही गयी, जब ब्रह्म शब्दज्ञानका अविषय ही है तब वेदान्तकी क्या जरूरत ?

इसका उत्तर दिया भाष्यकारने कि वेदान्त ब्रह्मका इदन्तया प्रतिपादन नहीं करते बल्कि अविद्या-कल्पित भेदको निवृत्त करना यही वेदान्तका कार्य है। इत्यादि।

बोलकर समझानेकी भी एक शैली होती है। कभी-कभी बोलते हैं कुछ और मतलब होता है कुछ। वहाँ मतलबको देखना होता है, शब्दको नहीं। इस प्रसंगकी व्याख्या करते हुए भामतीकार वाचस्पति मिश्र कहते हैं :

**सर्वमेव हि वाक्यं नेदन्तया वस्तुभेदं बोधयितुमर्हति, नहीक्षु-क्षीरगुडादीनां मधुररसभेदः शक्य आख्यातुम्** ( भामती )।

वस्तुओंके भेदको हमेशा इदम् रूपसे बताना सम्भव नहीं हो पाता। जैसे ईख, खीर और गुड़ आदिके मधुर रसमें भेद होता है परन्तु उनका वर्णन इदं-रूपसे करनेकी सामर्थ्य शब्दमें नहीं है। भेद मालूम तो पड़ता है परन्तु बोलकर बताना सम्भव नहीं है। अलग-अलग रागको सुनकर जो रस उदय होता है उनका इदन्तया वर्णन करना शक्य नहीं है। तो जो इन्द्रियातीत है, इन्द्रियोंका प्रकाशक है, जो इन्द्रियोंके द्वारा अलगावका विषय नहीं होता है, जो मनके द्वारा अलगावका विषय नहीं होता है, जो विचारोंके द्वारा अलगावका विषय नहीं होता है, जो शान्ति-

विक्षेपके भेदका विषय नहीं होता है, उस प्रत्यगात्माके सम्बन्धमें वेदान्त-वाक्योंका इदमित्थम् निरूपण करना कैसे शक्य हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता है !

कहना यह है कि वेदान्तवाक्य भी इदंतया आत्माका प्रतिपादन नहीं करता है। वेदान्तके प्रतिपादनकी शैली दूसरी हैं, वह नेति-नेतिकी शैली है : 'स इति, स इति' ( वह ऐसा है, वह ऐसा है ) इस शैलीसे भिन्न है नेति-नेति ( वह यह नहीं है, वह यह नहीं है )। इस शैलीका फल यह होगा कि निषेध करते-करते जो निषेधावधिके रूपमें शेष रह जायेगा, उसीको वेदान्त ब्रह्म बताता है। माने वेदान्त यह बताता है कि नेति-नेति शैलीसे निषेधावधिरूपमें जो अहम् शेष रहता है वह परिच्छिन्न नहीं है, उसीमें वह सब परिच्छिन्न पदार्थ जिनका तुमने निषेध किया था मिथ्या भासमान है, अतः वह अहं-शेष ब्रह्म है। अहं-शेषको अद्वय बतानेमें वेदान्तोंकी सफलता है।

वेदान्तोंमें जो सृष्टि-प्रलयकी प्रक्रियाओंका वर्णन किया गया है वह सब नेतिके 'इति'को समझनेमें सहायक है। 'इति' माने सृष्टि, 'इति' माने प्रलय, 'इति' माने सृष्टि-प्रलयका होना। यह मिट्टी होना, पानी होना, आग होना, हवा होना, प्राण होना, मन होना, यह सब 'इति' है। शास्त्रोंमें परिच्छिन्न आदि जीवविशेषणोंका भी जो वर्णन है वह सब इतिका व्याख्यान है जिसका निषेध करना है।

**इतिपदार्थसमर्पकत्वेन सर्वेषां शास्त्राणामुपयोगः**

इति पदार्थ-समर्पक होनेके कारण सारे शास्त्रोंका उपयोग है। परन्तु वेदान्तका मुख्य प्रतिपाद्य है 'नेति'।

ऐसा कहा जाता है कि अविद्या-कल्पित भेदकी निवृत्तिके लिए शास्त्र हैं। अविद्या-कल्पित भेद क्या है ? अपने स्वरूपकी ब्रह्म-

रूपताको न जानकर ( अर्थात् अपना आपा देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छन्न परिपूर्ण अद्वय तत्त्व है इस बातको न जानकर ) हम परिच्छिन्न प्रमाता प्रमाणाधीन वृत्तिसे ( माने आँख-नाक-कान-मन-बुद्धिके द्वारा ) उत्पन्न प्रमाके द्वारा अपनेसे बाहरके घट-पटादि प्रमेयको जानते हैं—यही सब अविद्याका विलास है :

त्वं पदार्थो हि प्रमाताप्रमाणाधीनया प्रमित्या प्रमेयं घटादि व्याप्नोति इत्यविद्याविलसितम् ( भामती ) ।

इसीको भगवान् भाष्यकारने वेद्य-वेदितृ-वेदनादि कहा है ।

श्रीउड़िया बाबाजी महाराज एक श्लोक बोलते थे :

प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयं प्रमितिस्तथा ।
यस्य प्रसादात् सिद्ध्यन्ति तत्सिद्धौ किमपेक्षते ॥

'प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमा जिसकी कृपासे सिद्ध होते हैं, अर्थात् जिस चित्स्वरूप आत्माके होनेसे ही मालूम पड़ता है कि 'अहम् प्रमाता', 'इदम् प्रमेयम्', 'अनेन प्रमाणेन प्रमा संजाता' उसकी सिद्धिकी क्या अपेक्षा है ?" इस प्रकारका बोध स्वरूप-ज्ञानका विलास है ( अविद्यासे तुलना कीजिये ) ।

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र वाचस्पति मिश्र कहते हैं :

तदस्याविषयीभूतोदासीनतत्पदार्थप्रत्यगात्मसामानाधिकरण्येन प्रमातृत्वाभावात् तन्निवृत्तौ प्रमाणादयस्तिस्रो विधा निवर्तन्ते ।

( भामती )

यह अविद्या-विलासकी त्रिपुटी कैसे निवृत्त होगी ? तो कहते हैं कि प्रत्यगात्माका (त्वम्का) तत्-पदार्थके साथ सामानाधिकरण्य करनेसे प्रमाताका मिथ्यात्व अनुभव हो जायेगा और तब प्रमाता-प्रमाण-प्रमेयकी जो त्रिपुटी है अविद्या-विलासरूप, वह निवृत्त हो जायेगी ।

मुँहमें 'घड़ी' पद है और उसका अर्थ घड़ी वस्तु हाथमें है। इसी प्रकार 'अहम्' 'प्रज्ञान', 'प्रत्यगात्मा' ये पद हैं जो मुँहसे बोले गये। परन्तु इनका अर्थ क्या है? क्या इनके अर्थको आप घड़ीकी तरह दिखा सकते हैं? नहीं। तथापि इनका अर्थ तो है ही। उसीको 'त्वं'-पदार्थ कहते हैं। जो हाथके, पांवके, जबानके, कानके, आँखके पीछे रहकर अलग-अलग इन्द्रियोंका ज्ञान और उनके अलग-अलग विषयोंका अलग-अलग ज्ञान ग्रहण करता है और जिसको इन्द्रियाँ ये ज्ञान समर्पित करती हैं, वह एक चेतन है। उसीको 'त्वं'-पदार्थ कहते हैं। वही अन्त:करणसे अवच्छिन्न होकर या अन्त:करणमें आभासित होकर या अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बित होकर प्रमाता शब्दवाच्य होता है।

इसमें भी प्रस्थान-भेद हैं। भामती-प्रस्थानमें उसको (प्रमाताको) अन्त:करणावच्छिन्न बोलते हैं और रत्नप्रभाकार तथा विवरणकार उसको अन्त:करणमें प्रतिबिम्ब बोलते हैं। विद्यारण्य स्वामी उसीको आभास बोलते हैं। वह (त्वं-पदार्थ) अन्त:करणमें आभासित होकर अथवा अन्त:करणकी स्वच्छतामें प्रतिबिम्बित होकर अथवा अन्त:करणके घेरेमें आकर प्रमाता बनता है। अन्तःकरणका घट अनन्तचेतनको एक अलग करता हुआ-सा भासता है, जैसे घट आकाशको घटाकाशके रूपमें अलग करता हुआ-सा भासता है। उसी अन्त:करणावच्छिन्नको पं० वाचस्पति मिश्र प्रमाता बोलते हैं। अवच्छिन्न = कटा हुआ, अलग किया हुआ।

जितना इन्द्रिय-ज्ञान है लोकमें, वह वस्तुको परिच्छिन्न करता है, अपरिच्छिन्न नहीं करता। "यह शब्द है, स्पर्श नहीं है, यह स्पर्श है, रूप नहीं है, यह रूप है, शब्द नहीं है, स्पर्श नहीं है, रस नहीं है, इत्यादि" यही तो इन्द्रियज्ञानका स्वरूप है! तो, इन्द्रियाँ

भी अलग-अलग, विषय भी अलग-अलग, तदाकार वृत्तियाँ भी अलग-अलग; लेकिन उनको जाननेवाला प्रमाता, अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य, एक है।

शास्त्र कहता है कि जिसको तुम घटाकाशके रूपमें देख रहे हो वह महाकाश ही है। घटकी उपस्थितिसे महाकाशमें परिच्छिन्नता उपस्थित होकर घटाकाशता नहीं आयी है। घटाकाश ज्यों-का-त्यों महाकाश ही है।

जब एक अन्तःकरणको तुम अपना मानते हो तो उसका जानना और न जानना तुम्हारा। उसमें जैसे-जैसे संस्कार डाले हुए हैं, लोकके भी और परलोकके भी, और उसमें जैसे-जैसे विषय इन्द्रियाँ ला-लाकर उपस्थित करती हैं, भिन्न-भिन्न प्रमा उत्पन्न करती हैं, वे सब तुम्हारे हो जाते हैं। एक अन्तःकरणके साथ सम्बन्ध होनेके कारण तुम अपनेको मानते हो 'अन्तःकामी', 'अन्तःकरणवान्'। तब ? जितनी वृत्तियाँ हैं वे सब तुम्हारी, जितने सुख-दुःख वे सब तुम्हारे, जितने सम्बन्ध, जितने पाप-पुण्य, जन्म-मरण, आना-जाना; सब तुम्हारे !

श्रुति आपके ऊपर क्या अनुग्रह करती है जब वह कहती है कि : 'हे घटाकाश, इस घरूटप दीवारके कारण तुम महाकाशसे जुदा हुए नहीं हो, महाकाश ही हो। दूसरे शब्दोंमें, तुम अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन्य शुद्ध, चैतन्यसे, तत्पदार्थ शब्दवाच्य अखण्ड चेतनेसे, माने परमात्म चैतन्यसे, जुदा बिलकुल नहीं हो एक ही हो।

त्वं-पदार्थ और तत्-पदार्थकी एकताका फल क्या होगा ? फल यह होगा कि 'जैसे महाकाश एक घड़ेके भीतर रहकर घड़ेको मैं-मेरा नहीं मानता और इसलिए घटके जन्म-मरण, संस्कार,

विकारसे प्रभावित नहीं होता, उसी प्रकार अनन्त चेतन भी एक अन्तःकरणरूपी घटको न मैं-मेरा मानता है और न उसकी विषमताओंसे प्रभावित होता है' यह बात आपकी समझमें आ जायेगी। 'तुम त्वं-पदार्थ, तत्-पदार्थसे एक हो' इतना ही वेदान्तका सार-बोध है। परमात्माकी तरह तुम भी अन्तःकरणकी क्रियाकलापोंसे उदासीन तटस्थ, और कूटस्थ हो। तुम अन्तःकरणके ही नहीं उसके अभावके भी अधिष्ठान हो और तुममें अन्तःकरण मिथ्या है। असलमें तुममें अधिष्ठानता भी अन्तःकरणकी दृष्टिसे है और तुम्हारी स्वयंप्रकाशतामें प्रकाशता भी प्रकाश्यकी दृष्टिसे है। तुम्हारा स्वरूप शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, अद्वितीय है।

जैसे तुम हाथसे किये जानेवाले कर्मके कर्ता और भोक्ता नहीं हो वैसे समूची सृष्टिके भी कर्ता और भोक्ता नहीं हो। जैसे तत्-पदार्थ अन्तःकरणका कर्ता, भोक्ता, अभिमानी इसके साथ गमनागमन करनेवाला, इसके वस्तुत्वके साथ सम्बद्ध और इसको मैं-मेरा माननेवाला नहीं है, ठीक वही तुम होनेके कारण तुम भी इस अन्तःकरणके धर्मोंको मैं-मेरा माननेवाले नहीं हो।

वेदान्त आत्माको केवल तटस्थ, कूटस्थ, एक अन्तःकरणका परिच्छिन्न साक्षी नहीं बताता, वह यह बताता है कि सम्पूर्ण विश्वसृष्टिके कर्तृत्व, भोक्तृत्व, दृष्ट्रत्व, कूटस्थतासे उपलक्षित जो अखण्ड, अद्वय, ब्रह्म तत्त्व है वह तुम हो और तुम्हारी इस अखण्ड अद्वयतामें दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

इस ज्ञानका फल होता है अविद्या तथा अविद्याकल्पित समस्त भेद-त्रिपुटियोंकी निवृत्ति। प्रमाता-प्रमाण-प्रमेयकी त्रिपुटी भी उनमें-से एक है।

लोग कहते हैं कि अपने अज्ञानको जानलो तो अज्ञान नष्ट हो जायेगा। परन्तु अज्ञान स्वयं कभी ज्ञानका विषय नहीं हो

सकता। अज्ञान जिसके बारेमें है वह ज्ञानका विषय होता है। घट जान लिया जायेगा तो घटका अज्ञान नष्ट हो जायेगा।

इसी प्रकार, हम किसको नहीं जानते ? परमात्माकी अखण्डता, अद्वयता और प्रत्यगात्मासे उसकी अभिन्नताको। तो परमात्माको जान लेंगे तो परमात्माका अज्ञान मिट जायेगा। असलमें अज्ञान है नहीं, अज्ञानकालमें ही अज्ञान मालूम पड़ता है और ज्ञान होनेपर नहीं रहता। अज्ञानकालमें अज्ञान मालूम पड़ता है इसलिए अज्ञान असत् नहीं है और ज्ञानकालमें अज्ञान नहीं रहता इसलिए सत् नहीं है। सत् असद्रूप हो नहीं सकता। इसलिए अज्ञानको अनिर्वचनीय कहा जाता है। अज्ञानकी यह अनिर्वचनीयता कबतक रहती है ? जबतक अज्ञानका विषय नहीं जाना जाता तबतक। उसीको जनानेके लिए वेदान्त तत् ( परमात्मा )की त्वम् ( कूटस्थ साक्षी ) के साथ एकता प्रतिपादन करता है।

तब असलमें मैं प्रमाता नहीं हूँ, अन्तःकरणसे होनेवाले ज्ञानोंका मैं ज्ञाता नहीं हूँ। और जब मैं प्रमाता ही नहीं रहा तो प्रमाण, प्रमेय, प्रमाके साथ मेरा जो कल्पित सम्बन्ध था वह अपने आप ही कट गया, उनका अस्तित्व ही मिट गया। वेद्य, वेदिता और वेदना, इनके भेदके निषेधमें वेदान्तका तात्पर्य है, ब्रह्मका इदंतया प्रतिपादन ( कि ब्रह्म ऐसा है ) करनेमें वेदान्तका तात्पर्य नहीं है।

अत्र इसके पक्षमें भगवान् श्रुति उद्धृत करते हैं :

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥

## ४. यस्यामतं तस्य मतम्

शास्त्र यह नहीं चाहता कि 'इदम्' के रूपमें ब्रह्मका प्रतिपादन करें। शास्त्रका यह स्वभाव है कि जो चीज किसी दूसरे प्रमाणसे

मालूम पड़ जाती है या मालूम पड़ सकती है उसके लिए वह व्यर्थ नहीं बोलता। वह अज्ञातज्ञापक होता है, गृहीतग्राहक नहीं होता। प्रमाणान्तरसे अनधिगत और अबाधित तथ्यको ही शास्त्र बताता है।

इदम् करके जितनी वस्तुएँ होती हैं वे सब इन्द्रियोंके द्वारा जानी जाती हैं। अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाणसे जानी जाती हैं या उसीके आधारपर किये गये अनुमान, उपमान आदि प्रमाणोंसे जानी जाती हैं। परन्तु अनन्त वस्तुका ज्ञान और वह भी आत्माकी अनन्तताका ज्ञान किसी प्रकारसे नहीं कर सकते। शास्त्र भी उसको इदंतया ( कि यह अनन्त है ) नहीं बताता, वरन् जो सान्त है उसका निषेध करके ही बताता है। **प्रत्यगात्मत्वेन अविषयतया प्रतिपादयति**। प्रत्यगात्मारूपसे ब्रह्म अविषय है, ऐसा शास्त्र प्रतिपादन करता है। उसके देखनेकी शैली घड़ीको देखनेकी शैलीसे भिन्न है।

घड़ीको देखनेके लिए घड़ी, प्रकाश, नेत्र और प्रमाता चाहिए। परन्तु प्रमाताको यदि स्वयंको ही देखना हो तो क्या चाहिए? कुछ नहीं चाहिए, उसमें तो केवल प्रमेयता, प्रमाणता, प्रमा और स्वयं प्रमातृत्वका निषेध चाहिए। यह निषेध भी तभी सम्भव है जब प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय-प्रमाका भेद अविद्या कल्पित हो। इसलिए श्रुति 'तत्त्वमसि' आदिके द्वारा प्रमाताके वास्तविक प्रमातृत्वका ही निषेध करती है जिससे शेषका निषेध अपने आप हो जाता है।

ये प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय और प्रमा अपने स्वरूपमें 'क-ख-ग' भी नहीं हैं। आत्मा ज्ञानस्वरूप है और ये चारों अपना काम कर रहे हैं। मायादेवी इतनी निपुण हैं कि पुरुषसे उनका संयोग हुआ

भी नहीं और मनको पैदा करके सृष्टिका खेल दिखा रही है ! एक पुराना श्लोक भामतीमें उद्धृत किया हुआ है :

विगलितपराक्वृत्त्यर्थत्वं पदस्य तदस्तदा
त्वमिति हि पदेनैकार्थत्वे त्वमित्यपि यत्पदम् ।
तदपि च तदा गत्वैकार्थ्यं विशुद्धचिदात्मतां
त्यजति सकलान् कर्तृत्वादीन् पदार्थमलान्निजान् ॥

इसका भाव यह है। "तत् पदार्थमें-से पराक्वृत्तिको हटा दो ( अर्थात् 'तत्'-पदार्थ कहीं हमसे बाहर मिट्टीमें, सूर्यमें, समुद्रमें, अन्नमयमें, प्राणमय आदिमें, विराट्में, तैजसमें, प्राज्ञमें, माने अपनेसे अन्यमें है इस कल्पनाको छोड़ दो ) यदि 'तत्'-पदार्थ सामने होता तो उसको तत् अर्थात् परोक्ष क्यों कहते ? फिर क्या होगा कि वह जो प्रत्यक्षसे विलक्षण तत्-पदार्थ है वह त्वम्-पदार्थसे एक है। जो 'तत्' सो 'त्वम्' और जो 'त्वम्' सो 'तत्'। तब 'त्वम्'का अर्थ देह नहीं होगा, पापी-पुण्यात्मा नहीं होगा, कर्ता-भोक्ता संसारी नहीं होगा, क्योंकि विशुद्ध चेतनरूपसे ही 'त्वम्'-पदार्थ 'तत्'के साथ एक हो सकता है। वहाँ जब 'तत्'को प्रत्यक्षसे न्यारा करते हैं तब 'त्वम्'को भी प्रत्यक्षसे न्यारा करना पड़ता है। ( न्याराका अर्थ होता है विलक्षण ) इसके बाद वह 'त्वम्' कर्ता-भोक्ता नहीं रहेगा, शुद्ध चिन्मात्र रहेगा। तब 'त्वम्' भी चिन्मात्र और 'तत' भी चिन्मात्र। 'तत्'की परोक्षता काट दो और 'त्वम्'की परिच्छिन्नता काट दो तो दोनों पदोंका अर्थ एक है।"

यही बात बताता है वेदान्त 'तत्त्वमसि' महावाक्यके द्वारा। जहाँ अन्वयानुपपत्ति होती है और जहाँ तात्पर्यानुपपत्ति होती है वहाँ लक्षणके द्वारा उसका अभिप्राय निकालना पड़ता है।

यदि कहो कि परोक्ष तत्-पदार्थकी अपरोक्ष त्वम्-पदार्थके

साथ एकता कैसे सम्भव है, तो कहते हैं कि जहाँ वेद्य, वेदन, वेदितृ सब कुछ नहीं है वहाँ परोक्ष, अपरोक्षका भेद भी कहाँ है ? असलमें परोक्ष-अपरोक्षका भेद प्रमाता-प्रमाण-प्रमेयकी कक्षासे बाहर नहीं है।

अब श्रुति उद्धृत करते हैं :

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥

मत क्या ? काशीमें महामहोपाध्याय पं० हरिहर कृपालुजी द्विवेदी तथा महामहोपाध्याय प० अनन्तकृष्ण शास्त्रीके बीच शास्त्रार्थ हुआ। पहले ही श्री अनन्तकृष्ण जी क्या बोले : 'कि देखोजी, हमारी मति यदि हार भी जायेगी तो भी हमारा मत नहीं हारेगा क्योंकि हमारा मत जो है वह अमत है।' श्री कृपालुजी हँसने लगे।

'मत' माने चैतन्यका विषय। 'मत' माने ज्ञान। चैतन्यको जो कुछ अन्यके रूपमें ज्ञात होता है उसका नाम 'मत' है। मतिके विषयका नाम 'मत' है।

मतं नाम चैतन्यविषयः

चाहे वह जाग्रत् आदि अवस्थाके विषय हों या समाधि, सुषुप्ति-के विषय हों, बारह मिनटकी समाधिके विषय हों या बारह हजार वर्षकी समाधिके विषय हों। जो भी मालूम पड़ती हुई चीज है उसका नाम हैं मत और जिसको मालूम पड़ता है उसका नाम है चेतन।

**यस्यामतं तस्य मतम्** = जिसका परमात्माके विषयमें यह मत है कि वह अमत है उसीने परमात्माको जाना।

परमात्माको किसने जाना ? उसने, जिसने जाना कि चैतन्य-की प्रतीतिका जो विषय है, अर्थात् जो मत है, वह परमात्मा नहीं

बल्कि मतिका जो साक्षी है, मत जिसको प्रतीत हो रहा है, वह परमात्मा है। 'यस्य अमतम् तस्य मतम्।'

भेदमात्र प्रतीतिका विषय है—कण-कणका भेद, क्षण-क्षणका भेद, अवस्थाओंका भेद। इसलिए भेदज्ञान सब मत है।

चैतन्य होगा अखण्ड और मत होगा खण्डित। चैतन्य होगा अबाधित और मत होगा बाधित। अबाधित अर्थात् सत्। सत् अर्थात् वह चेतन जिसके सामने हजारों देश, हजारों काल, हजारों वृत्तिके विषय आते-जाते हैं और जिसके सामने आना-जाना भी आता-जाता मालूम पड़ता है!

**मतं यस्य न भेद सः।** चैतन्यके विषयको जो परमात्मा समझता है वह नहीं जानता। मति उसकी नहीं छूटी। अच्छा, जिसने मतिका त्याग कर दिया उसने जाना? नहीं, उसने भी नहीं जाना, क्योंकि परमात्मा तो त्याग करनेवालेका भी प्रकाशक है, स्वयं प्रकाश है। वह त्यक्ताका भी प्रत्यगात्मा है: **त्यक्तुः प्रत्यगात्मना।**

जिसके मतमें ब्रह्म मत है माने चैतन्यका विषय है तो उनसे पूछो कि फिर चैतन्य कौन है? यदि आप अपनेको चैतन्य नहीं मानते हो तो फिर वेदान्त मत सुनो। चेतन माने होता है: जो सबको जानता है, जो सबको देखता है, सबको प्रकाशता है, जो जानता है कि यह गुरु जी हैं, यह चेला जी हैं, यह ईश्वर जी हैं यह बैकुण्ठ है, यह नरक है, यह स्वर्ग है, यह देश है, यह काल है, यह वस्तु है। चेतन माने आत्मा। चेतन माने असली मैं। चेतन माने भेदका स्पर्श न करनेवाला मैं, भेदका प्रकाशक मैं, स्वयं-प्रकाश मैं। इस चैतन्यको जो कुछ मत हो रहा है, ज्ञात हो रहा है, असली चीज नहीं है, वह तो बदलती हुई है, सरकती हुई है, बाधित होती हुई है, बिलकुल मिथ्या है।

जिसने अपनी मतिमें आये हुए पदार्थको ब्रह्म मान लिया उसने ब्रह्मको नहीं जाना। 'मतं यस्य न वेद सः।' मतिने पकड़ लिया उसको। महात्मा लोग हँसते हैं जब उसके पास आकर कोई कहता है कि 'हमने ब्रह्मको जान लिया।'

देहलीके एक अफसर जोधपुरमें मिले। एक दिन बोले : स्वामीजी, हमको ब्रह्मज्ञान तो हो गया, इसमें अब कोई शंका नहीं है। लेकिन अब हमको क्या करना चाहिए, यह हमको बताइये ?

तो उनकी मतिके पेटमें एक काल्पनिक गर्भ जो आया उसको उन्होंने ब्रह्मज्ञान मान लिया। मैंने कहा : भले मानुष, यदि ब्रह्म-ज्ञान हो गया तो क्या कर्मज्ञान बाकी रह गया ? **यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति** उपनिषद्‌की यह प्रतिज्ञा कहाँ पूरी हुई ?

**अविज्ञातं विजानताम्।** जो लोग जानते हैं ब्रह्मको उनके लिए ब्रह्म क्या है ? 'अविज्ञातम्' अर्थात् 'विज्ञातातिरिक्तम्।' ब्रह्म विज्ञानस्वरूप है, विज्ञात नहीं है, विज्ञानका प्रकाशक है। साथ ही अविज्ञेय भी नहीं है। वह कोई रहस्य भी नहीं है और शून्य भी नहीं है।

संसारी लोग विकृतमें रहते हैं, साधक लोग संस्कृतमें रहते हैं और महात्मा लोग अविकृत और असंस्कृतमें रहते हैं।

चेतन विज्ञातसे विलक्षण अपनेको जानता है।

कुछ लोग 'अविज्ञातम्'का अर्थ करते हैं कि ब्रह्म जाना ही नहीं जाता। परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि यदि ब्रह्म जाना न जाय तो अविद्या-निवृत्तिकी शास्त्र-प्रतिज्ञा कैसे पूरी होगी ? 'आत्मैवाभूद् विजानतः', 'एकत्वमनुपश्यत' आदि अनेक श्रुति-वाक्य हैं।

**विज्ञातम् अविजानताम्**। अच्छा, यदि कोई समझे जो विज्ञात है सोई मैं हूँ तो? बोले: **अविजानताम्**=वे नहीं जानते। **अविजानताम् विज्ञातम् तत्**=जो अज्ञानी हैं उनके लिए ब्रह्म विज्ञात है, माने वे अपने मतको ही ब्रह्म कहते हैं। इसके विपरीत जो ज्ञानी है उनके लिए ब्रह्म ज्ञात नहीं, ज्ञातका प्रकाशक है।

इसलिए ज्ञानकी विषयता ब्रह्ममें नहीं होती है, ज्ञानस्वरूप ब्रह्म होता है। ब्रह्म ज्ञानसे अपने उठायी जानेवाली कोई विज्ञात-वस्तु नहीं है वह ज्ञानस्वरूप है। ब्रह्म ज्ञाता नहीं है, ज्ञानस्वरूप है। ब्रह्म द्रष्टा नहीं है, दृक्स्वरूप है। द्रष्टा तो दर्शनसे दृश्यको देखता है परन्तु द्रष्टापनेसे उपलक्षित, जिसमें द्रष्टा-दर्शन-दृश्यकी त्रिपुटी नहीं है, प्रमाता-प्रमाण-प्रमेयकी त्रिपुटी नहीं है, ध्याता-ध्यान-ध्येयकी त्रिपुटी नहीं है, ऐसा यह **अविज्ञातम् विजानताम्** ब्रह्म है।

प्रमाण माने परिच्छेदक होता है, जो चीजको अलग-अलग कर दे। जैसे नेत्र-प्रमाण रूप-रंगको अलग-अलग कर रहा है, त्वक्-प्रमाण स्पर्शको अलग-अलग कर रहा है। असलमें प्रमाणका काम ही है एक विषयको दूसरेसे अलग दिखाना। प्रमाण वर्गीकरण करते हैं, विश्लेषण करते हैं। **प्रमिति परिछित्ति** अथात् प्रमितिका जो विषय होगा वह वर्गीकृत होगा ही कि यह रूप-राशि है, यह गन्धराशि है, उनकी जातियाँ हैं अलग-अलग, और यह उनके अभाव हैं।

अब प्रमाण तो गया परिच्छेदकमें और प्रमाणको हाथमें लेकर घूम रहे हैं; कोई जंगलमें घूम रहा है खुर्दबीन लेकर तो कोई आकाशमें घूम रहा है दूरबीन लेकर। अब ब्रह्म तो परिच्छेद-शून्य है, परिच्छेदका प्रकाशक है; वह प्रमाणसे कैसे प्रकाशित होगा? नहीं हो सका।

इसलिए जिसने कहा कि हमने ब्रह्मको प्रमाणसे जान लिया ( विज्ञातम् ) तो उसने नहीं जाना। क्योंकि विज्ञात अपनेसे अन्य होता है और अपनेसे अन्य है वह ब्रह्म ही नहीं है। जो अविज्ञात है वह स्वयं है। ब्रह्म स्वयं आत्मा होनेसे 'अविज्ञातम्' है।

**यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।**
**अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥** ( केन० २.३ )

'जिसने मतके प्रकाशकको ब्रह्म जाना उसने जाना। जिसने मतिके विषय अर्थात् मतको ही ब्रह्म जाना उसने नहीं जाना। जो जानते हैं उनके लिए ब्रह्म आत्मा होनेसे अविज्ञात है और जो नहीं जानते हैं उनके लिए वह मतिका विषय है।'

अब दूसरी श्रुति उद्धृत करते हैं :

**'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः' 'न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः'**

अर्थात् 'दृष्टिके द्रष्टाको नहीं देख सकते'; तथा 'बुद्धिके जानने-वालेको बुद्धिसे नहीं देख सकते।'

श्रुति तभीतक प्रमाण है जबतक स्वके रूपमें ब्रह्म-विज्ञान नहीं हो जाता। ज्ञान होनेके बाद कौन कहता है कि वेदको प्रमाण मानो? उस ब्रह्म-विज्ञानीके लिए श्रुति निष्प्रयोजन हो जाती है।

परमात्माका क्या वर्णन है! **अनात्म्ये अनिलयने** ( तै० उप० २.७.१ )। ब्रह्मका कोई आत्मा नहीं है, सबका आत्मा ब्रह्म है। यह सृष्टि कभी टूट-फूटकर उसमें लीन नहीं होती और न ब्रह्म किसीमें लीन होता है। **अग्राह्यम् अलक्षणम् अचिन्त्यम् अव्यप-देश्यम्** ( माण्डूक्य-७ ), यह सब परमात्माका वर्णन है। यह सब ब्रह्मात्मैक्य-बोधसे पूर्व आवश्यक है। बोधके लिए ही यह वर्णन है।

श्रुतिका अभिप्राय क्या है ?

**अतोऽविद्याकल्पितसंसारित्वनिवर्तनेन नित्यमुक्तात्मस्वरूपसमर्पणान्न मोक्षस्यानित्यत्वदोषः ।**

बहुत दूर जो शंका डाली गयी थी अब उसका समाधान करते हैं। यदि मोक्ष साधनसे ( कर्मसे ) उत्पन्न होगी तो एक न एक दिन नष्ट हो जायेगी। मोक्षमें यह अनित्यत्व दोष हो गया।

कर्मसे मोक्ष होगा तो कर्मशक्ति सीमित होनेसे अनित्य होगा। उपासनासे यदि मोक्ष होगा तो जबतक मोक्षभावापत्ति रहेगी तबतक मोक्ष रहेगा और भाव न रहनेपर नहीं रहेगा। तथा मनके सो जानेपर उपासनासे प्राप्त मोक्ष-लोक भी सो जायेंगे। ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयके भेदकी प्रमा बनाकर जिस विषयकी भी प्रमा होगी वह जबतक अन्तःकरण जागेगा तभीतक रहेगा। ब्रह्मके ज्ञानकी विषयतासे भी यदि मोक्ष निष्पन्न होगा तो भी वह भी अनित्य होगा। यह आक्षेप है।

इसपर कहते हैं कि वेदान्तशास्त्र जो है वह केवल अज्ञानकी निवृत्तिके लिए ज्ञानका उपयोग मानता है, मोक्षकी उत्पत्तिके लिए नहीं। मोक्ष तो स्वतः सिद्ध अपने आत्माका स्वरूप है। तो अविद्या-कल्पित संसारित्वके निवर्तनके द्वारा प्रकारान्तरसे 'यह आत्मा नित्य, मुक्त है' इस प्रकारके स्वरूपका अर्पण करता है वेदान्त, ज्ञानकी विषयतासे अथवा कर्म, उपासना या साधनाभ्याससे नहीं। इसलिए मोक्ष अनित्य नहीं है।

अपना स्वरूप नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त है। यह कुछ करने या उपासना या ध्यानके लिए नहीं है। अनजानमें जो अपनेको कुछ-का-कुछ मान बैठे हैं उस अविद्या को वेदान्तशास्त्रसे मिटालो। तुम तो सदैव मुक्त हो हो।

॥ ॐ तत्सत् ॥

## ❀ सत्साहित्य पढ़िये ❀

पूज्यपाद अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज
द्वारा विरचित एवं संस्था द्वारा प्रकाशित अनुपम
आध्यात्मिक साहित्य

| | |
|---|---|
| १. माण्डूक्य-प्रवचन ( आगम प्रकरण ) | १०.०० |
| २. माण्डूक्य-प्रवचन ( वैतथ्य प्रकरण ) | ७.५० |
| ३. माण्डूक्य-प्रवचन ( अद्वैत प्रकरण ) | ४.५० |
| ४. अपरोक्षानुभूति-प्रवचन | ६.०० |
| ५. कठोपनिषद्-प्रवचन—१ | ९.०० |
| ६. कठोपनिषद्-प्रवचन—२ | १२.०० |
| ७. मुण्डकसुधा | ३.७५ |
| ८. सांख्ययोग ( दूसरा अध्याय ) | ९.७५ |
| ९. कर्मयोग ( तीसरा अध्याय ) | ६.०० |
| १०. ध्यानयोग ( छठाँ अध्याय ) | ६.०० |
| ११. ज्ञान-विज्ञान-योग ( सातवाँ अध्याय ) | ६.०० |
| १२. विभूतियोग ( दसवाँ अध्याय ) | ५.२५ |
| १३. भक्तियोग ( बारहवाँ अध्याय ) | ६.०० |
| १४. ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना ( तेरहवाँ अध्याय ) | ९.७५ |
| १५. नारद भक्ति दर्शन | ९.०० |
| १६. गोपियोंके पाँच प्रेम गीत | ०.४० |
| १७. भागवत विचार दोहन | ३.५० |
| १८. भक्ति सर्वस्व | ७.०० |
| १९. साधना और ब्रह्मानुभूति | ५.२५ |
| २०. कपिलोपदेश | ३.७५ |
| २१. ब्रह्मसूत्र-प्रवचन-( १ ) | १०.० |
| २२. ब्रह्मसूत्र-प्रवचन-( २ ) | १०.० |
| २३. विवेक कीजिये | ५.५ |
| २४. वेणुगीत | ३.० |
| २५. गोपीगीत | ( |

| | | |
|---|---|---|
| २६. | श्रीभक्तिरसायनम् ( संस्कृत ) | १२.०० |
| २७. | श्रीभक्तिरसायनम्-प्रपा ( संस्कृत ) | ३.०० |
| २८. | श्रीमद्भागवत-रहस्य | ३.७५ |
| २९. | मानव-जीवन और भागवत-धर्म | ४.५० |
| ३०. | व्यवहार और परमार्थ | ३.७५ |
| ३१. | आनन्दवाणी, भाग ७ | १.५० |
| ३२. | ज्ञान-निर्झर ( तीसरा संस्करण ) | ०.९० |
| ३३. | माधुर्य-लहरी ( स्वामी सनातन देव जी विरचित ) | २.०० |
| ३४. | माधुर्य-मंजूषा ,, ,, ,, | ३..०० |
| ३५. | माधुर्य-मयंक ,, ,, ,, | ३.०० |
| ३६. | माधुर्य-मकरन्द ,, ,, ,, | ३.०० |
| ३७. | राम शताब्दी-स्मृति | २०.०० |
| ३८. | महाराजश्री : एक परिचय | १.०० |
| ३९. | दिव्य-जीवन : एक झांकी ( गुजराती ) | १.९० |
| ४०. | महाराजश्री : एक परिचय ( सिन्धी ) | (     ) |
| ४१. | चरित्रनिर्माण आणि ब्रह्मज्ञान ( मराठी ) | १.५० |
| ४२. | आत्मबोध | ३.०० |
| ४३. | आनन्दवाणी, भाग ३ और ४ ( दूसरा संस्करण ) | १.५० |
| ४४. | आनन्दवाणी, भाग ५ ( गुजराती ) | २.२५ |
| 45. | Glimpses of life Divine | 1.50 |
| 46. | An introduction to a realised Soul | 0.40 |
| 47. | Ideal and Truth | 5.25 |
| 48. | Import of the Impersonal | 0.30 |
| | चिन्तामणि( त्रैमासिक पत्रिका ) | ६.०० |

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति

सत्साहित्यप्रकाशनट्रस्ट

